धर्मशुद्धि



डॉ० कमलाकान्तत्रिपाठी

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रपूज्यपादश्रीमत् प्रो॰ वशिष्ठत्रिपाठिमहा-
भागानां करप्रवालयोः सादरमुपायनीकरोति —

— [illegible]
२०.२.२००५

धर्मशुद्धि

ग्रन्थकार
डा० कमलाकान्तत्रिपाठी
अध्यक्ष, मीमांसाविभाग
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक
आर्यमर्यादापीठ
वाराणसी

पुस्तकप्राप्ति स्थान
डॉ० कमलाकान्तत्रिपाठी
२४ प्राचीन अध्यापक आवास
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
फोन : ३१११२४३

प्रथम संस्करण : २००५ ई०

मूल्य : २५० रुपये

मुद्रक
वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
चौक, वाराणसी-२२१ ००१

(प्रधानसम्पादक)
डा० हरिप्रसादद्विवेदी
प्राध्यापक
ज्योतिषविभाग
सं०सं०वि०वि०, वाराणसी

(सम्पादकमण्डल)
डा० अनिरुद्धचौबे
प्राध्यापक
श्रीस्वामिनारायणसंस्कृतकालेज
जेतलपुर, अहमदाबाद

डा० विजयकुमारपाण्डेय
प्राध्यापक (ज्योतिष)
रानीपद्मावतीतारायोगतन्त्रसंस्कृतमहाविद्यालय
शिवपुर, वाराणसी

श्री राजेन्द्रप्रतापसिंह
संगठनमन्त्री—आर्यमर्यादापीठ
वाराणसी

॥ श्रीकाशीविश्वनाथो विजयते ॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्रार्थविद्यावतार-विश्वविश्रुत-महामहोपाध्यायादिविरुदविभूषक-पण्डितसम्राट्-प्रातःस्मरणीय-श्रीशिवकुमारशास्त्रिमिश्रप्रतिष्ठापिता तथाऽभिनवशङ्कराचार्य-धर्मसम्राट्-अनन्तश्रीकरपात्रस्वामिपरिपोषिता वाराणसेयसर्वविधविद्वत्समाजप्रतिनिधीभूता—

श्रीकाशीविद्वत्परिषद्

अध्यक्ष :
पण्डितराज लालबिहारी मिश्र

महामन्त्री :
आ. पं. बटुकप्रसाद शर्मा शास्त्री

पत्राङ्क ५१

दिनाङ्क १०-१२-२००४

आज धर्म के नाम पर अधर्म को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा है। ब्रह्मस्वरूप गुरुवर्य धर्मस्वरूप स्वामिश्रीकरपात्रीजी महाराज कहा करते थे कि मन्त्रब्राह्मणात्मकापौरुषेयवेदप्रतिपादित उपदेश ही धर्म है। इससे इतर जो भी हैं वे धर्माभास हैं। अतः उक्त यथार्थ धर्म को धर्माभास से भिन्न करने के लिए 'सनातन' शब्द धर्म के साथ जोड़ दिया गया है। प्रस्तुत 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ में इन्हीं तत्त्वों का यथार्थ प्रतिपादन करते हुए धर्माभासरूप वितण्डावाद का उद्भेदन मीमांसा के अद्वितीय उदीयमान विद्वान् आचार्य पं० कमलाकान्तत्रिपाठीजी ने अतीव पारम्परिक पद्धति से किया है जिससे इस समय हिन्दूसमाज में उपस्थित धर्मभ्रान्ति सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगी।

मैं आर्यमर्यादापीठ के आचार्य विद्वद्वरेण्य पं० कमलाकान्त त्रिपाठीजी के सर्वविध अभ्युदय के लिए भगवान् विश्वनाथ से मङ्गलकामना करता हूँ।

बटुकप्रसाद शर्मा शास्त्री

कार्यालय : १०/१५, ब्रह्मनाल, वाराणसी-२२१ ००१, फोन : ३९२४७९

विषयसूचि



सम्पादकीय

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

श्रुति वेद है और धर्मशास्त्र स्मृति। इन दोनों के प्रति प्रतिकूल तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं क्योंकि इन दोनों से ही धर्म अवभासित होता है। 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ में वेदप्रतिकूल तर्कों का सर्वथा अभाव है क्योंकि यह वेदानुकूलग्रन्थ तर्करूपिणी मीमांसा के न्यायों से अनुप्राणित है।

श्रुतिप्रामाण्य को अन्यथा करके पदात् पदमपि जाना सम्भव नहीं। कहा भी है—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै॥

ज्ञानचक्षु से समझकर ही श्रुतिप्रामाण्यबुद्धिपूर्वक धर्मानुष्ठान में तत्पर होना चाहिये।

'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ स्वयम् में परिपूर्ण है। इसीलिए कि इसके सारे वाक्य वेदानुगम्य हैं। धर्मशास्त्रनुगम्य हैं। अत एव यह ग्रन्थ ग्राह्य है। आर्यमर्यादापीठ के आचार्य और अध्यक्ष पं० कमलाकान्तत्रिपाठीजी ने मनोयोगपूर्वक इसका प्रणयन किया है और जो इस समय पीठ के द्वारा ही प्रकाशित हो रहा है। अन्तिम समय में धर्म ही साथ निभाता है, अत एव यथाशास्त्र अपने धर्म का अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। त्रैवर्णिक के लिए समुद्रोल्लङ्घन का निषेध है, शूद्रों के लिए नहीं। ये त्रैवर्णिक, जो बहुत बड़े महात्मा-प्रोफेसर-धर्माचार्य-उपदेशक तो बनेंगे लेकिन स्वधर्म का अतिक्रमण करके शूद्रों से भी बदतर हो जायेंगे, उनके प्रति शूद्रों का कैसा व्यवहार होना चाहिये? इसका उत्तर यही होगा कि शूद्रों के द्वारा भी ये त्याज्य हैं। अतः त्रैवर्णिकों को समुद्रलङ्घन नहीं करना चाहिये। अपने शूद्रबन्धुओं से मैं कहना चाहूँगा कि आप यदि अपना धर्म नहीं त्यागे हैं तो इन स्वमर्यादात्यागी विदेशगामित्रैवर्णिकों से महान् हैं।

अपने आप को समझने की जरूरत है। धर्मानुरागी जन यदि पाखण्डियों का त्याग करेंगे तो यह समाज अपने आप सुधर जायेगा। स्वधर्म का अतिक्रमण करने वाला ही पाखण्डी कहा जाता है। प्रवचन ब्राह्मण का धर्म है तो उसे स्वीकार करने वाला क्षत्रियादि पाखण्डी हुआ। समुद्रलङ्घन में शूद्रों का दोषाभाव है तो त्रैवर्णिक भी उसे करने वाला पाखण्डी हुआ। ऐसे लोग धर्म से बहिष्कृत हैं, अतः इनसे सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिये। यही धर्म है तथा धर्मानुष्ठान की योग्यता भी तभी है। यह 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ ऐसे तमाम विषयों का विचार करके तथ्य को सामने रखता है। अनादिकाल से चली आ रही वर्णपरम्परा और वेदबोधित तत्तद्धर्म आज अविवेक के प्रभाव से विनाशोन्मुख हो चला है। आचार्यों ने स्त्रीसंरक्षण पर विशेष ध्यान दिया है। आज लोग कन्याओं को समय पर विवाह न करके शहरों में एकाकी छोड़ दे रहे हैं। वे स्वतन्त्ररूप से पढ़ रही हैं। बहुत सी कन्यायें अपने गुरुओं के पास पी०एच०डी० भी करने लगी हैं। 'दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि' अर्थात् विद्वानों के लिए भी विषयत्याग करना कठिन है। पत्नी ढलान पर हैं तो गुरुओं की दृष्टि उन शिष्याओं पर जायेगी ही जो पी०एच०डी० कर रही हैं। परिणामस्वरूप आसानी से सम्बन्ध कायम हो जाता है और पत्नी के रहते हुए भी शिष्या को ही पत्नी बना लिया जाता है। विचार करने योग्य है कि यह सब विवेक के अभाव में हो रहा है। अधिक शिक्षा का व्यामोह छोड़कर कन्याओं का समय पर ही विवाह कर देना चाहिये। कई उदाहरण इस ग्रन्थ में व्यापकता से समाहित हैं। अँधेरे में प्रकाशपुञ्ज की तरह इस ग्रन्थ के स्वरूप का प्रचार हो रहा है। ऐसे पुरुष भी हैं जो चाहते हैं कि ग्रन्थ का प्रचार न होने पाये। मैं तो इस पीठ के प्रचारतन्त्र का ही भार लिया हूँ। सतर्कतापूर्वक मैं अपना कार्य इसलिए कर रहा हूँ कि इस पीठ पर कहीं से कोई आँच न आने पाये। इस पीठ के आचार्य ने केवल पुस्तक की सारगर्भिता ही नहीं रखी है बल्कि अपने जीवन में उतार कर उसे समाज को दिखाया भी है। पतितों से संसर्ग न हो, इसका पूरा ध्यान दिया जा रहा है। प्रेरणादायक यह अभियान चल रहा है।

'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ में धर्म के प्रमाण कुछ इस तरह हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

आत्मतुष्टि = शिष्ट की आत्मतुष्टि न कि पतितों और पाखण्डियों की। वेदशास्त्रानुकूल कार्य करने वाले ही शिष्ट हैं।

यही बात अन्यत्र भी कही गयी है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

लक्षणम् = प्रमाणम्।

जब तक 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ की व्यापकता जन-जन तक नहीं हो जाती और आचार-विचार से सकल कार्य शुद्ध नहीं हो जाते तथा प्रत्येक जन के लिए यह प्रेरणास्रोत नहीं बन जाता तब तक इस ग्रन्थ के माध्यम से लोगों को ज्ञानदिशा की ओर अग्रसर किया जाता रहेगा।

श्रुति के परमप्रामाण्य में यह ऋषिवचन आकलनीय है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

धर्मज्ञान उन्हीं के लिए है जो अर्थ और काम में आसक्त नहीं हैं। धर्मजिज्ञासुओं के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है।

उज्जैनमहाकुम्भ की एक घटना का स्मरण करा देना अनुचित नहीं होगा। वहाँ मेरे साथ इस पीठ के आचार्य भी थे। वहाँ बहुत से ऐसे प्रतिष्ठित सन्त और धर्माचार्य थे जो अमेरिकादि म्लेच्छ देशों में गये हुए थे। वे धर्म का उपदेश भी दे रहे थे। उनको इतना भी ज्ञान नहीं था कि वेदमन्त्रों से किसे सम्मानित किया जाय और किसे नहीं। मूसलमानों को अपने कैम्पों में वेदमन्त्रों के साथ बुलाकर किसी हरिद्वार के महामण्डलेश्वर ने सम्मानित किया था। किसी आचार्यमण्डलेश्वर ने विरोध में कहा ही था कि उन्हें इधर स्वीकृति तभी होगी जब वे अल्ला से नाता तोड़कर आयेंगे। ध्यान रहे! उस कैम्प में नमाज भी पढ़ी गयी थी। आचार्यमहामण्डलेश्वरों में बहुत से विदेशगामी होकर पतित हो गये हैं। वे मुसलमानों को कैम्प में बुला सकते हैं किन्तु वेदमन्त्रों में उनका क्या अधिकार रह जाता है? मुसलमान भी यदि 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ पढ़ेंगे तो उनको मालूम होगा कि उनका सम्मान पतितों के द्वारा ही हुआ है। तात्पर्य यही है कि समाज को सुधारना ही बहुत बड़ा मिशन है और यह मिशन 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ के द्वारा ही सम्भव है। धर्म को समझकर उसके अनुष्ठान से राष्ट्र की भी समुन्नति होगी। भ्रान्ति से अन्यथाव्याख्यान

भी सम्भव है। बहुत से विद्वद्वरेण्यों के द्वारा भी अन्यथा व्याखान हो जाता है। उन व्याख्यानों के ऊपर विमर्श के माध्यम से वास्तविक पक्ष का स्थापन भी इस पीठ के आचार्य द्वारा हो रहा है।

इन्हीं सभी कारणों को देखकर यह लगा कि यदि किसी पीठ में ऐसे आचार्य उपलब्ध हो जाँय तो निश्चय ही राष्ट्र का उत्थान होगा। गर्व के साथ मैं यह कहता हूँ कि 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ के सारे विषय, जो सप्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी के लिए अमोघरूप से ग्राह्य हैं। तथ्य को समझने के लिए पूरा ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता है। यह ग्रन्थ साधारण से लेकर विशिष्ट प्रोफेसरों के लिए भी उपयोगी है। एक प्रकार से यह मीमांसाशास्त्र का परिज्ञान कराने के लिए पूर्णरूप से समर्थ है। हमारे विचार से इस ग्रन्थ का अनुसंधान भी जीवन के एक लक्ष्य के अन्तर्गत आना चाहिये। हम अपने आचार्य के गुणख्यापन में स्वयम् को अपरिपूर्ण पाते हैं। कई यात्रायें आचार्यश्री के साथ हुई हैं। तत्र तत्र अन्य पीठाचार्यों से वार्तायें भी सुने को मिलीं। वहाँ पर आचार्यों की भ्रान्ति दूर करने में हमारे आचार्य को लम्बी वार्ता करने पड़ी। अब राहत की साँस ले रहा हूँ कि इस ग्रन्थ के आ जाने से व्यर्थ की वार्ता से छुटकारा मिलेगा। इस महनीय कार्य में प्रत्येक विद्वान् को एक मञ्च पर आने की आवश्यकता है। ऐसा करने से ही जनभ्रान्ति दूर होगी। धर्म के वास्तविक स्वरूप के परिज्ञान के लिए इस पीठ के माध्यम से जो अभियान छेड़ा गया है, भारत में वह एक सार्थक कदम है। अन्यथा आचरण करते हुए बौद्ध-जैन-ईसाई और मुसलमानों को भी इसका लाभ लेना चाहिये। अपने पाखण्डमार्ग का त्याग करके यदि वे वास्तविक धर्म को स्वीकार करते हैं तो वे भी अभ्युदय के भागीदार हो सकते हैं। हठवादिता का त्याग यदि कल्याणकारक है तो उसे त्यागने में ही भलाई है।

सनातनी जनता धर्मभ्रष्ट न हो, इसके लिए सारे भारतीय आचार्य प्रयत्न करें। वेदविरुद्ध मार्ग को स्वीकार करने से ही धर्मभ्रष्टता आती है। वेदविरुद्ध मार्ग धर्म नहीं है, यह तथ्य इस ग्रन्थ से सुप्रकाशित होगा। इसके लिए वेदविरोधियों के मार्ग का निराकरण अत्यावश्यक है जैसा कि अपने आचार्य के मुख से वार्तिककार का यह श्लोक बहुधा सुनने को मिलता है—

त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य येऽत्यन्तविरोधिनः।
अनिराकृत्य तान् सर्वान् धर्मशुद्धिर्न विद्यते॥

इसका अभिप्राय समझने से इस ग्रन्थ का नाम 'धर्मशुद्धि' क्यों रखा गया? यह भी समझ में आ जायेगा। एकादशीव्रत नित्य धर्म के रूप में भी व्यवस्थित है। विशेषतः बकरीद के दिन आने वाली एकादशी का व्रत सकल सनातनी जनता करे, ऐसा हमारे आचार्य का मानना है। करोड़ों पशुओं की, जो अवैधरूप से मार दिये जाते हैं, आत्मशान्ति के लिए वेदमार्गानुगामी परिवार के हर सदस्य को उस दिन एकादशीव्रत अवश्य करना चाहिये।

अस्तु। इस पीठ का प्रचारकार्य मैं कर रहा हूँ। कहीं न कहीं कोई त्रुटि होनी स्वाभाविक है। आचार्यश्री विचारपूर्वक तथा आचरण से रोकते हैं। आगे इतना ही कहना चाहूँगा कि जो मूलभूत समस्याओं का निदान इस ग्रन्थ में प्रामाणिक तौर पर उट्टङ्कित है, उसका लाभ उठाकर गौरवान्वित होने से ही जीवन की सफलता है। इति शुभम्।

डॉ० हरिप्रसादद्विवेदी
प्रचारमन्त्री
भारतीय-आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
वाराणसी

अभिप्रायप्रकाशन

संसार के वैचित्र्य से मानव के बुद्धिवैचित्र्य का दर्शन होता है। अत एव पुरुषों की यह आशङ्का स्वाभाविक है कि धर्म का अनुष्ठान क्यों किया जाय और अधर्म से दूर भी क्यों रहा जाय? इस आशङ्का का समाधान भी उतना ही आवश्यक है। समाधान भी यही है कि धर्म का अनुष्ठान इसीलिए हो कि सर्वत्र सुख ही उपलब्ध होता रहे। अधर्म से दूरी भी इसीलिए आवश्यक है कि दुःख की उपलब्धि न हो। सर्वत्र जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त सुख के जो अवसर आते हैं उनमें धर्म ही कारण है। दुःख के अवसरों में भी अधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। सुख की चाहत और दुःख से द्वेष किसको नहीं है। अतः धर्मानुष्ठान और अधर्म का अनाचरण हर मानव के लिए आवश्यक है। इसके लिए धर्माधर्म-विषयक सम्यक् ज्ञान भी आवश्यक है। पूज्यपाद श्रीगुरुदेव और आर्यमर्यादापीठ के आचार्य के द्वारा प्रणीत यह 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ धर्माधर्म का ठीक से परिज्ञान कराते हुए जनभ्रान्ति को दूर करने में पूर्णरूप से समर्थ है। पाठकों से मेरा यही निवेदन है कि वे इसे पूरा पढ़ें। पूर्ण अनुशीलन के पूर्व किसी भी प्रकार का निर्णय न लें। लेखन के समय तथा अध्ययनकाल में ग्रन्थ का जो श्रवण मुझे हुआ है उससे यही निश्चय हुआ है कि हम शिष्यों के ऊपर गुरुजी का अनुग्रह हुआ है। मीमांसा का मैं विद्यार्थी हूँ। मीमांसा के उपयोगी न्यायों का ज्ञान इस ग्रन्थ से मुझे होगा, इसी में मैं पूर्णरूप से सन्तुष्ट हूँ। जो लोग कर्मकाण्ड के प्रतिपादक मात्र से मीमांसा को समझते हैं, उनकी भी आँखें खुल जायेंगी।

वेदविरोधियों को दण्डित करने का विधान शास्त्रों में है। इससे यही सिद्ध होता है कि शासक को वेदानुगत शिष्ट ही होना चाहिये। शासक जब स्वयम् वेदविरोधी हो जाय तो राष्ट्र का कितना भद्र होगा।

इस प्रसङ्ग में मैं वाल्मीकीय रामायण को प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ। रामायण साक्षात् वेद के रूप में ही प्रकट हुआ है। वहाँ नास्तिक ब्राह्मण को

भी राजा के द्वारा दण्डनीय बताया गया है। बुद्ध और तत्पृष्ठपाती वेदविरोधी नास्तिक ही हैं। ये सारे चोरवत् दण्डनीय हैं। भरत का जाबालि के प्रति यह वचन विचारणीय है—

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात्॥

(वाल्मीकिरामा० २-११०-३४)

नास्तिक बुद्ध चोर के समान है क्योंकि वह चोर की तरह वेद के प्रामाण्य का अपहारक है। अतः वह चोर के समान ही दण्डनीय है। ऐसे वेदविरोधी नास्तिकों से सनातनी जनता किसी भी प्रकार का व्यवहार न करे। 'नाभिमुखो बुधः स्यात्', का यही अभिप्राय तिलकटीका में व्यक्त है।

हम पूर्णरूप से धर्मशास्त्र के इस अनुशासन को मानने में स्वतन्त्र हैं। जब पुरुषों के पाखण्ड को स्वीकार करने की इस राष्ट्र में छूट मिली हुई है तो मैं वेदमूलक रामायण के इस अंश को स्वीकार करूँगा ही। बौद्धों और तत्पृष्ठपाती नास्तिकों का भरपूर पोषण यहाँ का शासकवर्ग कर रहा है। उनकी संस्थाओं में नेतृवर्ग दिल खोल कर दान दे रहा है। शास्त्रीय पाठशालायें तोड़ी जा रही हैं। भोगप्रधान शिक्षा के पोषण में धनिकवर्ग तत्पर है।

यहाँ मेरा यही निवेदन है कि पूर्णरूप से शास्त्रानुगत आर्यमर्यादापीठ पर पुरुषों का दृष्टिपात हो। अतः परम् कुछ भी नहीं।

पं० प्रदीपपण्ड्या
कोषाध्यक्ष
भारतीय-आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
आर्यमर्यादापीठ
वाराणसी

किञ्चिन्निवेदनम्

वैयक्तिक जीवन में सुखोपभोग की कामना मानव की एक नैसर्गिक एवं सहज प्रवृत्ति है। किन्तु जब व्यक्ति सर्वजनहिताय चिन्तन करता है और मानवकल्याण के हेतु स्वकीय एवं परकीय चेष्टाओं के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की दिशा में अग्रसर होता है तब सृष्टि में मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता, उसकी उत्कृष्टता का सत्य प्रकाशित होने लगता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० कमलाकान्तत्रिपाठीजी की चिन्ता कुछ इसी प्रकार की है कि कैसे दिग्भ्रमित व्यक्तियों को सत्य का आलोक प्रदान किया जाय जिससे कि वे स्वयं का कल्याण करते हुए निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर समाज का भी कल्याण कर सकें। वस्तुतः डॉ० त्रिपाठीजी मीमांसा के विद्वान् हैं और पूज्यपाद जैमिनि की कर्ममीमांसा के पोषक एवं प्रशंसक हैं, अत एव उनका धर्मविषयक प्रस्तुत चिन्तन किसी पूर्वाग्रह, कुण्ठा अथवा ईर्ष्या या फिर प्रगल्भता के प्रदर्शन का परिणाम नहीं है अपितु भारतीय दर्शन में यथार्थज्ञानप्राप्ति-हेतु मनीषियों द्वारा स्थापित छः प्रकार— न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा एवं वेदान्त—के मानदण्डों के आधार पर धर्म के विषय में वास्तविक ज्ञान की खोज है।

समसामयिक समाज में व्याप्त कुरीतियों, भ्रान्तियों अथवा अतिवादिता के कारण असंतुलन और व्यापक स्तर पर आरुढ़ कदाचार ने भारतीय संस्कृति को कलुषित किया है। नैतिकता, सिद्धान्त, मर्यादा, शिष्टाचार आदिविषयक ज्ञान को अन्यमनस्कता, पाखण्ड, स्वार्थपरता एवं निजता का गर्व इत्यादि ने सतह पर खड़ा कर दिया है और ये दुर्गुण लौकिक जीवन के चरमोत्कर्ष को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के जीवन को नारकीय बना दिये हैं।

व्यक्ति शास्त्रसम्मत कार्यकर्म से च्युत हो गया है। वैभव, विलासिता एवं असत्य यश को प्राप्त करने की उत्कट चाह ने उसको पागल बना दिया है। वह धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के यथार्थ को नहीं जानता।

वह अधर्म को धर्म मान लिया है क्योंकि उसकी बुद्धि तमोगुण से घिरी हुई है। गीता के अनुसार—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

ऐसी स्थिति में 'धर्मशुद्धि' के प्रणेता की धर्मविषयक चिन्ता स्वाभाविक है। उन्होंने विषय के गाम्भीर्य को विधिवत् समझा है और विभिन्न प्रकार की उठने वाली शङ्काओं का शास्त्रसम्मत प्रमाणों के द्वारा तर्कसंगत समाधान करने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनके इस सत्यनिष्ठ प्रयास में गीता के भगवान् श्रीकृष्ण के इन वचनों का प्रमाण प्राप्त होता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

उन्होंने अपनी बात को सर्वथा मनीषियों के वचनों के साथ जोड़ा है। ऐसा लगता है कि यह सब अभ्यास और वैराग्य द्वारा नियन्त्रित मन की वाणी है जो सर्वतोन्मुखी लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत है।

सात्विक, राजसी एवं तामसी बुद्धि में एक आदर्श संतुलन की स्थापना हो और उसका अनुषङ्गिक परिणाम 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' हो— ऐसी धारणा से ही मानवकल्याणार्थ धर्म का सृजन हुआ। धर्म मानवजीवन को उत्कृष्टता प्रदान करता हुआ, व्यक्ति को लौकिक सुख, समृद्धि एवं शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा और सामर्थ्य से युक्त करता हुआ अलौकिक परमानन्द उपलब्ध कराता है। यदि व्यक्ति ग्राह्य को त्यागकर लोलुपता अथवा अज्ञान में फंस जाता है तो आडम्बर को अङ्गीकार कर वह स्वयं पथभ्रष्ट होने के साथ-साथ समाज को भी विधिवत् प्रभावित करता है। यह निन्दनीय स्थिति व्यक्ति, समाज एवं देश को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अभीष्ट से च्युत करती है। 'आर्यमर्यादापीठ' के अध्यक्ष डॉ० कमलाकान्त-त्रिपाठीजी ने धर्म के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पक्षों को अपने इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया है। वे विभिन्न सन्दर्भों में शङ्काओं को स्वयं प्रकट करते हुए समीचीन समाधान की व्यवस्था किये हैं। पाठक उनके पाण्डित्य और अभिव्यक्ति के शैलीचातुर्य को दृष्टिगत करता हुआ विषय-वस्तु की गहनता, पारदर्शिता, अनिवार्यता एवं शुचिता को हृदयङ्गम करने में सहजता और अपरिहार्यता का अनुभव कर सकता है।

आधुनिक समाज में चतुर्दिक् व्याप्त शारीरिक, मानसिक एवं वाङ्मय अशुद्धता के कारण ग्रन्थकार की चेतना में एक प्रकार की वेदना परिलक्षित होती है। धर्माचार्यों के आचरण में जब उन्हें दोष दृष्टिगत होता है और परिणामतः पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में विसंगतियों के आधिक्य का आभास होता है तब उनकी मनीषा धर्मशुद्धि का बीड़ा उठा लेती है। बिना पक्षपात और आसक्ति अथवा दुराग्रह के वे आर्ष वचनों की महत्ता, सार्थकता एवम् उपयोगिता को प्रकाशित करने में कोई संकोच नहीं करते। वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों आदि से उन्होंने उन प्रमाणों को प्रस्तुत करने का गहन प्रयास किया है जिनसे कि वास्तविक ज्ञान से साक्षात्कार हो सके और व्यक्ति उन्हें आत्मसात् कर कल्याण के पथ पर चलता हुआ लौकिक और पारलौकिक जीवन को सार्थक बना सके।

राजेन्द्रप्रतापसिंह
संघटनमन्त्री
भारतीय-आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
वाराणसी

पुरोवाक्

आर्यमर्यादापीठ से 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ का प्रकाशन यद्यपि क्रम की दृष्टि में द्वितीय स्थान को प्राप्त है तथापि विषयों के उपपादनप्रकार के कारण यह प्राथमिकतया ही स्वीकार्य है। इस ग्रन्थ से धमाधर्मविषयक भ्रान्ति दूर होगी, ऐसा दृढ़ विश्वास है। इस ग्रन्थ में स्वयम् का कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वह माननीय आचार्यों का ही है। यहाँ मेरा कार्य छिपे रहस्यों को प्रकाशित कर जनमध्य करना ही है। अतः इस ग्रन्थ से जिन्हें उद्वेजना होगी वह शश्वद्वन्दनीय विद्यार्णवपारगामी आचार्यों के प्रति ही होगी। हमारे आचार्य वेदविपरीत अणुमात्र भी कदम नहीं रखते अतः उद्वेजना भी वेदों के प्रति ही होगी। वेदों के प्रति यदि कोई उद्वेजित होता है तो हम क्या कर सकते हैं? हमें तो वेदानुसरण ही करना है जो अपने अधिकार क्षेत्र में आता है। वेदानुसरण में मनुष्यमात्र की अधिकारिता में अवरोधक बनने का अधिकार किसी को नहीं है। अतः 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ लिखकर मैं अपनी वेदानुगामिता ही व्यक्त किया हूँ। किसी को कष्टप्रदान करने के लिए मेरा यह उपक्रम नहीं है प्रत्युत सुखप्रदान करने के लिए ही है। इस पर भी यदि किसी को कष्ट होता है तो मैं कर ही क्या सकता हूँ? कष्ट तो लोगों को जडपदार्थों से भी होता है। हमें क्या यहाँ कष्ट नहीं है। हमें ही क्यों? आज की दशा देखकर हर शिष्टजन को कष्ट है। नीति का अतिक्रमण शिष्टपीडाविधायक होता है। आज नीति का अतिक्रमण ही देखने को मिल रहा है। उदाहरण के लिए श्रीकाशीविश्वनाथमन्दिर को ही ले लीजिये। गङ्गास्नान करके श्रद्धालु दर्शन करते ही थे तथापि हरिजन-प्रवेश के नाम पर बवण्डर खड़ा किया गया। फलतः काशी के विद्वद्वर्ग को विरोध में खड़ा होना पड़ा। धर्मसम्राट् स्वामी श्रीमत्करपात्रीजी को अलग विश्वनाथ की स्थापना करनी पड़ी जहाँ यथावत् मर्यादा का पालन किया जा सके। धर्मविरोधी शासकों के लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। आज प्राचीन विश्वनाथमन्दिर अधिगृहीत है जहाँ पूर्णरूप से कदाचार और

नियमों का उल्लङ्घन हो रहा है। विशिष्ट पुरुषों के पूजन के लिए श्रद्धालुओं को मन्दिर से बाहर कर दिया जा रहा है। विश्वनाथमन्दिर के पदाधिकारियों के लिए विशेष पुरुष कोई भी मर्यादाहीन हो सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से बहिष्करणीय भी विशिष्ट हैं। आज अभिनेता और अभिनेत्री विशिष्ट हैं। अभिनेत्रियाँ सुरतक्रीडा का भी अभिनय कर रही हैं। 'हे राम' फिल्म में किसी अभिनेत्री के अधरों का नायक के द्वारा किया जाने वाला पान वात्स्यायनशास्त्र को बहुत पीछे छोड़ देता है तथापि वे पवित्र कुमारी कन्या ही बनी हुई हैं विशेषतः विश्वनाथमन्दिर के लोगों के लिए। काशी में उनका आगमन हुआ। समाचारपत्रों में छपा कि जलपान में अण्डों को ही वे वरीयता प्रदान करती हैं। काशी में अण्डाभक्षण के बाद श्री विश्वनाथजी के षोडशोपचार पूजन का विचार उनके मन में आया। वे विश्वनाथमन्दिर में पहुँची तो वहाँ के लोगों ने उन्हें अपनी हथेलियों पर रखा। अतिविशिष्ट जो थीं। श्रद्धालुओं को बाहर रोक दिया गया। मन्दिर में जो प्रविष्ट थे उनको भी बाहर खदेड़ दिया गया। घण्टों उन्होंने श्रीविश्वनाथ की पूजा की। पुजारियों ने वेदोद्घोष किया। वैदिकों ने रुद्राभिषेक भी कराया। यह सारा कार्य उन्होंने गत दिवस अण्डा खाने के बाद ही किया। वे अधरपान करवायें। अण्डा भी खायें। विश्वनाथजी का पूजन भी करें। मुझे कोई आपत्ति नहीं। ब्राह्मणों को तो सोचना चाहिये कि जो वे कर रहे हैं वह उचित है? हमारे विचार से उन्हें मन्त्र नहीं पढ़ना चाहिये और न ही रुद्राभिषेक कराना चाहिये। वेश्यायें भी दर्शन कर सकती हैं। करती रहें। उनके लिए श्रद्धालुओं को मन्दिर से घण्टों बाहर कर दिया जाय और आने वालों को बाहर ही रोक दिया जाय, यह कहाँ का न्याय है? इसका मुझे कष्ट है तो मैं क्या कर सकता हूँ? इसी तरह शास्त्रीय मर्यादाव्यवस्थापक इस 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ से यदि किसी को कष्ट होता है तो हो। प्रारम्भ में प्रसक्तानुप्रसक्त विचार के माध्यम से वर्ण और जातियों की व्यवस्थापना है। वर्णों का व्यवस्थापन यदि नहीं होगा तो तत्तद्वर्णों के लिए वेदों में विहित धर्म भी निरवकाश होने लगेंगे। शूद्र वर्ण के अन्तर्गत आने वाली कुछ विशेष जातियों के लिए विशेष धर्म का अम्नान है, अतः उन जातियों का भी शास्त्रीय दृष्टि से उपपादन आवश्यक हो जाता है। अनन्तर धर्म-अधर्म में प्रमाण का निरूपण और प्रसङ्गतः उनके स्वरूप का भी

प्रतिपादन है। ये सारे उपपादनप्रकार व्यास शैली में हैं जो आक्षेपपूर्वक हैं। उपपादन की सारी विधायें शृङ्खलाबद्ध हैं। वेदों से लेकर शिष्टाचार तथा शिष्ट की आत्मतुष्टि, धर्म में कैसे प्रमाण हैं, इसका प्रतिपादन विशदरूप से यहाँ देखने को मिलेगा। लोकप्रचलित पाखण्ड-खण्ड का विखण्डन भी यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार ही है। आगे मनुष्यमात्र के लिए सामान्य धर्म और तत्तद्वर्णजातियों के लिए विशेष धर्मों का प्रकार भी प्रतिपादित है। सत्य में सारे सामान्य धर्मों का समावेश कैसे है और कैसे वह वेदैकमात्रसमधिगम्य है, इस पर भी दृष्टि डाली गयी है। मीमांसान्यायों का सर्वत्र यथासम्भव उपयोग किया गया है। कहीं भी वेदों का तथा वेदाविरुद्ध तर्कों का एवम् आचार्यों के मतों का अतिक्रमण नहीं है। एवम् इस ग्रन्थ को परिपूर्णता प्रदान करते हुए लोकोपयोगी बनाया गया है। सर्वथा 'आर्यमर्यादापीठ' शास्त्रीय परम्परा के व्यवस्थापन के लिए है। शास्त्रविरुद्ध किसी भी वस्तु का यहाँ समावेश नहीं है। पूर्व ही प्रकाशित 'प्रसुप्तोन्मेष' ग्रन्थ उज्जैन के कुम्भ में अनेक धर्माचार्यों एवम् ख्यातिलब्ध महात्माओं तथा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को समर्पित किया गया। उत्साहवर्धन के लिए कुछ ही महानुभावों के पत्र प्राप्त हुए। लगता है कि धर्माचार्य आवश्यकता से अधिक प्रसुप्त हो चले हैं। उनका राष्ट्रहित में जागरण कैसे हो? इसकी चिन्ता आर्यमर्यादापीठ कर रहा है। जो लोग कथादि के माध्यम से जनता से जुड़े हुए हैं वे भी 'नन्द को आनन्द भयो जय कन्हैयालाल की' की राग आलापते हुए महिलाओं के नृत्य में ही मगन हैं। भजन गाना और उसके साथ नाचना निरर्थक है, यह मेरा अभिप्राय नहीं है। पुराण भी धर्माधर्म-प्रतिपादक शास्त्रों के अन्तर्गत ही आते हैं, अतः धर्माधर्म का परिचय कराना और स्वयम् में उसका आचरण करना भी आवश्यक है। संन्यासी, विदेशगामी पतित तथा ब्राह्मणेतर साधु भागवतादिपुराणों की कथा व्यासपीठ पर समासीन होकर करें, यह कौन सा धर्माचरण है? फैशन के तहत शास्त्रीय वस्तु का अन्यथाकरण और उसको उपहासास्पद बनाना क्या न्यायोचित है?

अपि च, धनिकवर्ग का पागलों की भाँति इनके चरणों पर गिर कर अपने वास्तविक धर्म से पराङ्मुख होना क्या राष्ट्र के लिए हितकर है? कथा-आयोजन में निरर्थक करोड़ों रुपये बरबाद कर दिये जा रहे हैं। सादगी

में भी कथावार्ता हो सकती है। उस धन का सदुपयोग गरीबों के परिपोषण और वेदादि शास्त्रों के संरक्षण में भी हो सकता है। सद्विद्या की ओर से जनसमुदाय पराङ्मुख होता जा रहा है। भौतिक पदार्थों के उपयोग में आने वाली विद्या ही प्रधानता प्राप्त करने लगी है। ऐसी विद्याओं को सुदृढ़ बनाने के लिए धनिकवर्ग और बहुत से संन्यासी भी कटिबद्ध हैं। तात्पर्य यही है कि सद्विद्या गौण हो चली है। धार्मिक विचार वाले श्रेष्ठिगण स्वर्गस्थ हो गये हैं और उनके स्वत्वाधिकारियों ने धर्मार्थ निर्मित शालाओं को व्यावसायिक बनाना प्रारम्भ कर दिया है। जो धर्मशालायें अपेक्षितों के उपयोग के लिए थीं वे अब कम्प्यूटरादिशिक्षा के केन्द्र हो गयी हैं। जनकल्याण के लिए निर्मित चिकित्सालय भी द्रव्यदोहन करने लग गये हैं। संन्यासी भी आधुनिकता की चकाचौंध से ओतप्रोत हैं। यदि वे आधुनिक परिवेष में नहीं ढलेंगे तो आधुनिक विचारधारा वाले पुरुषों से दूर हो जायेंगे। 'प्रसुप्तोन्मेष' ग्रन्थ ने अपना प्रभाव नहीं छोड़ा, ऐसी भी बात नहीं है। बहुत से त्यागी महात्माओं को हमसे दूरस्थ कर दिया है। जो महात्मा राष्ट्रहित में सक्रिय इस पीठ के सहयोग में उत्साहित थे उनका उत्साह ठंडा हो गया। क्यों? उस ग्रन्थ में विद्यमान समुद्रलङ्घनविषयक निबन्ध के प्रभाव से। वे सारे समुद्रलङ्घी महात्मा मुझसे मुँह फुलाये बैठे हैं। किसी को सन्तोष प्रदान करने के लिए 'आर्यमर्यादापीठ' कार्य नहीं करता, यह सभी को विदित होना चाहिये। समुद्रलङ्घन त्रैवर्णिक को कितना पतित बना देता है, इसे शास्त्रों से ही समझ सकते हैं। एक शब्द में यही कहा जा सकता है कि उसका मनुष्यजीवन ही निरर्थक हो जाता है। सन्निपातग्रस्त रोगी के समान वह व्यक्ति पङ्गु हो जाता है। तात्पर्य यही है कि वह किसी काम का नहीं रहता। यह पीठ शास्त्रीय मर्यादा के व्यवस्थापन के लिए है तो अणुमात्र भी उससे च्युत नहीं होगा। मुख फुलाने वाले फुलाते रहें। हमें मर्यादानिष्ठ विशुद्ध महापुरुषों की अपेक्षा है। उनका आशीर्वाद ही पर्याप्त है। कभी-कभी सभ्य पुरुषों की उपेक्षा और उनका असहयोग हताशा की ओर आकृष्ट करता है। संकट के समय जो कार्य हमारे शास्त्रपारङ्गत आचार्यों ने किया है वही कार्य इस पीठ के माध्यम से हो रहा है।

इसके बाद भी उत्साहवर्धकों की कमी खटकती है। ऐसी अवस्था में श्रीराजेन्द्रप्रतापसिंहजी का 'प्रसुप्तोन्मेष' ग्रन्थ के माध्यम से एक अपूर्वोल्लास

से जुड़ जाना पिपासाक्षाम कण्ठ में पीयूषनिषेचन जैसा ही है। इस 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ के प्रकाशन का भार उन्होंने सहर्ष वहन कर लिया है। उस समय ऐसा ही प्रतीत हुआ कि 'आर्यमर्यादापीठ' का सकल अभियान भगवत्कृपा का ही विपाक है। इस धर्मनिरपेक्षशासनतन्त्र ने राष्ट्र की जो क्षति की है उसे पूरा करना आसान कार्य नहीं है। यह कार्य सकल महापुरुषों के संघटित प्रयास से ही सम्भव है। अतः उनके हर प्रकार के सहयोग के लिए यह पीठ विनम्र प्रार्थी है।

अतः परम् कार्य में विशेष गति प्रदान करने वाले महापुरुषों में ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य श्रीमद्माधवाश्रमजीमहाराज, भूमानिकेतनपीठ के आचार्य श्रीमत्स्वामी अच्युतानन्दतीर्थजी महाराज, अवधूत-आश्रम सूरत के वीतराग महात्मा श्रीमत्स्वामीविश्वनाथावधूतजी महाराज तथा हमारे परम प्रेरणाश्रोत श्रीकाशीविद्वत्परिषद् के महामन्त्री आचार्य श्रीयुत् पं० वटुकप्रसादशर्माजी एवम् धर्मसंघ के संचालक श्रीमद् ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य 'प्रबल' जी महाराज मुख्यरूप से सदा वन्दनीय ही रहेंगे। इन सारे महापुरुषों के मार्गदर्शन की अपेक्षा इस पीठ को रहेगी।

इस कार्य को देखते हुए श्रीमद् ब्रह्मचारी सत्यप्रकाशजी ने यह कह ही दिया है कि हमारा सब कुछ इस पीठ के लिए ही है। श्रीमद्भागवतानन्दजी का तो आशीर्वाद हमेशा मिलता ही रहा है। इन दोनों महापुरुषों से भी मैं स्वयम् को कृतार्थ समझता हूँ।

अपने-अपने कार्य के सम्पादन में सदा दत्तावधान समिति के सारे सदस्यगण धन्यवाद के पात्र हैं। भक्तिभावना में सदा विचरण करने वाले गुजरात के श्रीपिनाकिनजी तो एकादशसहस्र से अपनी सदस्या को उद्दीप्त किये ही हैं। हमारे अभिन्न सुहृद् श्रीअशोकपाण्डेय जी हर तरह के सहयोग के लिए लालायित ही रहते हैं। प्रधानसम्पादन के भार को वहन करने वाले प्रचारमन्त्री डॉ० हरिप्रसादद्विवेदीजी छाया की तरह साथ दे रहे हैं। इनके सहयोग में सम्पादकमण्डल में आने वाले डॉ० अनिरुद्ध चौबेजी, डॉ० विजयकुमारपाण्डेयजी और श्री आर०पी० सिंह जी ने अपना-अपना कार्य पूरी निष्ठा से किया है। मेरे सुहृदवर्य डॉ० दुर्गाप्रसादमिश्रजी, डॉ० रामसुख त्रिपाठीजी तथा श्रीअनिलशास्त्रीजी हर कार्य में तत्पर रहे हैं।

प्रातः स्मरणीय गुरुवृन्दों में पं० वायुनन्दनपाण्डेयजी, प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठीजी एवम् पं० वैद्यनाथझाजी अपने सदुपदेशों के माध्यम से मुझे

भूरिशः उपकृत करते आ ही रहे हैं। हर कार्य में मेरे सहयोगी श्रीअनन्तरामपोद्दारजी का स्मरण अपने स्थान पर अपना अलग महत्त्व रखता है। इस ग्रन्थ के प्रकाशनकार्य में श्रीआनन्दप्रकाशसिंहजी (अधिवक्ता) ने भी अपना अत्यधिक अमूल्य समय व्यय किया है। संस्था के सचिव श्रीदिलीपचौबेजी तथा कोषाध्यक्ष प्रदीपपण्ड्या भी धन्यवादार्ह हैं।

भारत के महान् वैदिक श्रीगजाननशास्त्रीगोडसेजी तथा उनके योग्य तनय आयुष्मान् श्रीविवेकगोडसे का उपकार अविस्मरणीय है।

इस पीठ के मुख्य संरक्षक आचार्य पं० प्र० श्रीमद्गिरीशदत्त पाण्डेयजी के प्रति अपनी भावभीनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए अन्त में विश्वविद्यालयप्रकाशन, वाराणसी, के संचालक श्रीपुरुषोत्तमदासमोदीजी के प्रति भी मैं पूर्णरूप से कृतज्ञ ही रहूँगा जिन्होंने अपने कार्य को रोक कर इस ग्रन्थ के शीघ्रतया प्रकाशन में अपने अदम्य साहस को पुरःस्थापित किया है। माननीय मोदीजी से मैं विनम्र प्रार्थी ही रहूँगा कि इसी तरह वे राष्ट्र की सेवा में अग्रसर रहें।

आगे सभी महानुभावों के प्रति अपना असीम श्रद्धाभाव प्रकट करते हुए ही आगे के कार्यों का संकल्प लेते हुए—

कमलाकान्तत्रिपाठी
आचार्य
आर्यमर्यादापीठ
वाराणसी

धर्मशुद्धि

अखण्डं सहजञ्चैव सच्चिदाकारविग्रहम्।
सर्वशेषितया भान्तं तमानन्दमुपास्महे॥ १॥
प्रजापतिसमारम्भां शबरस्वामिमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥ २॥
यद्विशुद्धसदाचारात् कुमार्गा बुद्धगामिनाम्।
प्रलीयन्ते नमस्तस्मै भट्टपादाय सूरये॥ ३॥
प्रजाभ्रान्तिनिरासाय राष्ट्रोद्धाराय वै पुनः।
विरोधिज्वरनाशाय धर्मशुद्धि र्विरच्यते॥ ४॥
यज्जैमिनीयनयतत्त्वविवेकलभ्यं
ग्रन्थेऽत्र सन्निहितमाप्तजनोचितं तद्।
विद्याचतुर्दशतयोल्लसितञ्च सर्वं
सम्यग् निभाल्य विबुधा द्रुतमुल्लसन्तु॥ ५॥

वर्ण-जातिव्यवस्थापन

तत्तत् क्रियाओं में मनुष्य प्रायः अपना अधिकार समझ करके ही प्रवृत्त होता है भले ही वह अपने अधिकारक्षेत्र से बाहर हो। योग-क्रिया, उपासना-क्रिया, ज्ञान-क्रिया चाहे जो भी क्रियायें हों उनमें अधिकार की चिन्ता की आवश्यकता होती ही है कि इन क्रियाओं में कौन अधिकारी है। अधिकार-चिन्ता न होने पर कभी-कभी बड़ा अनर्थ हो जाता है। जैसे— युक्त आहार-विहार से रहित, कर्मों में अयुक्तचेष्ट अर्थात् नियतरूप से परिमित चेष्टा से रहित, युक्त शयन एवं जागरणव्यापार से रहित व्यक्ति यदि योगसाधना करने लगे तो वह उसके लिए अनर्थकारी ही हो जायेगी क्योंकि योगसाधना में आहार-विहार आदि नियत होने चाहिये। जिनमें ये नियत हैं वे ही योगसाधना के अधिकारी हैं और उन्हीं के लिए योग दुःखनाशक होता है। इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट संकेत करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ६/१७॥

अधिक क्या कहें? लौकिक व्यवहार में भी अधिकार की चिन्ता देखी जाती है। अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग योग्यताओं का आकलन करके ही अभियुक्त जन चयन किया करते हैं। क्या किसी इञ्जीनियर को डाक्टर की शल्यादि क्रिया में लगाया जा सकता है या किसी डाक्टर को इञ्जीनियर की क्रियाओं में? इसी तरह हर क्षेत्र में योग्यता का आकलन होता ही है। जिस दिन ऐसा नहीं होगा सारा सांसारिक व्यवहार ही ठप हो जायेगा। शिव शिव! एक बहुत ही घातक परिणाम सामने आयेगा जिससे सांसारिक अस्तित्व ही मिटता नजर आयेगा। यह है लौकिक अधिकार-क्षेत्र जहाँ कदाचित् व्यतिक्रम सह्य हो जाता है जैसा कि आजकल भारत में ही नजर आयेगा। किन्तु शास्त्रीय अधिकारक्षेत्र दृढ़ होता है। उसका व्यतिक्रम किसी भी काल में किसी भी देश में किसी भी अवस्था में असह्य ही होता है। क्या निज पाणिगृहीता भार्या में पति का जो अधिकार प्राप्त है वह माता में बहन में कन्या में या अन्य अपरिणीता में प्राप्त हो सकता है? यदि पति अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करके अन्यत्र प्रवृत्त होगा तो क्या पुण्य का भागी वह होगा? हरग़िज नहीं! घोर पाप का वह भागीदार होगा और स्वयं से सहस्रों योजन दूर चला जायेगा। तृण, गुल्म, कीट, पतङ्ग, श्व, शूकर, चाण्डाल न जाने किन-किन अवस्थाओं से उसे गुजरना पड़ेगा। लोक में उसकी अपकीर्ति होगी, यह दूसरी बात है। अभिप्राय यह है कि शास्त्रीय अधिकारक्षेत्र का अतिक्रमण नहीं होता। यदि कोई उसका अतिक्रमण करता है तो वह श्रेयःपद्धति से च्युत होकर निश्चय ही अनर्थपरम्परा को प्राप्त करता है। अतः हर जाति हर वर्ग का परम कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारक्षेत्र को समझकर उसके दायरे में ही रहे और उसके अतिक्रमण का विचार स्वप्न मे भी न लाये। स्त्री अपने अधिकार में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये त्रैवर्णिक अपने अधिकार में शूद्र अपने अधिकार में ही रहें, भले ही उनका अधिकार-क्षेत्र किसी से न्यून हो अथवा अधिक। यही श्रेय का मार्ग है। अपने को न्यून समझकर दूसरे के वैसे धर्म को जिसमें उसका अधिकार कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, अपनाना सर्वथा अधोगति को प्राप्त करना है। ऐसे स्थलों पर भगवान् शङ्कराचार्य एक ही वचन बोलते हैं

'श्रेयसः प्रच्यवेत अनर्थं चेयात्' अर्थात् शास्त्रीय मार्ग का उल्लङ्घन करने वाला व्यक्ति श्रेय से च्युत हो जाता है और अनर्थ को प्राप्त करता है। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् श्रीकृष्ण की यह उक्ति सर्वलोकविदित है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३/३५ ॥

वैगुण्य को प्राप्त हुआ भी अपना धर्म भली प्रकार से अनुष्ठित दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ हुआ करता है। अपने धर्म के दायरे में रहना ही कल्याणकर है क्योंकि दूसरे का धर्म भयावह हुआ करता है। एक चर्चा करके मैं सामान्य पुरुषों की भ्रान्ति दूर कर देना चाहता हूँ। सामान्य व्यक्ति 'धर्म' शब्द का अभिप्राय हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि धर्म के नाम से प्रचलित तत्तत् वर्ग के रीति-रिवाजों को समझता है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि धर्म अनेक और परिवर्तनशील नहीं हो सकता। वह किसी व्यक्ति का मानसिक व्यापार या अन्य कपोलकल्पित वाक्संकल्प भी नहीं हो सकता। वह किसी व्यक्तिविशेष का निर्मूल कथन या निर्मूल आचार भी नहीं हो सकता। यह तो सर्वथा असङ्गत बात हो गयी! जिसे दुनियाँ धर्म समझती है उसे आप जड़ से काटना चाहते हैं। जी नहीं! मैं धर्म की यथावत् व्याख्या करके उसे सही रूप में आप के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ!! तब तो फिर आप भी धर्म को अपने मानसिक व्यापार की उपज बनाने पर तुले हुए हैं। एक तरफ तो आप कहते हैं कि धर्म किसी व्यक्ति-विशेष का निर्मूल कथन या आचार नहीं हो सकता और न ही वह किसी का मानसिक व्यापार और कपोल-कल्पित वाक्संकल्प ही हो सकता है तो दूसरी तरफ आप अपनी व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते हैं, यह तो विषम उपन्यास हुआ! जी नहीं। यदि मैं धर्म के विषय में सिर्फ अपनी कल्पनामात्र पेश करूँ तो आप एक नहीं हज़ारों प्रतिवचनों से मुझे अवरुद्ध कर दें, मुझे आप से कोई शिकायत नहीं होगी लेकिन मैं ऐसा कुछ करने नहीं जा रहा हूँ। मैं धर्म के रूप में उस बात को सामने लाना चाहता हूँ जिसे लौकिक प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। यह बात भी समझ में नहीं आ रही है। जब सारी धर्म-प्रक्रिया लोक के लिए ही होती है तो फिर उसे अलौकिक कैसे कहा जा सकता है? ध्यान से सुनिये! माना कि धर्म की प्रक्रिया लोक के लिए होती है क्योंकि उसका अनुष्ठान लोक के प्राणी ही किया करते हैं

तथापि धर्म अलौकिक है। उसे प्रत्यक्षादि लौकिक उपायों से नहीं जाना जा सकता! फिर उसे कैसे जाना जाय? अलौकिक साधन से धर्मज्ञान होगा! क्या है वह अलौकिक साधन? वेद है वह अलौकिक साधन! धर्म का ज्ञान वेद से ही सम्भव है। जिस वस्तु का ज्ञान वेद से नहीं होता वह धर्म हो ही नहीं सकता। इसलिए जैन, बौद्ध, इस्लाम, आदि धर्म की कोटि में आते ही नहीं हैं। धर्म की सत्ता वेद से है और वेद अनादि है क्योंकि वह साक्षात् नारायण है। नारायण का अतिक्रमण नहीं हो सकता। वेदोदित धर्म का अतिक्रमण करना नारायण का अतिक्रमण करना है। साधु साधु! आप की बात आदरणीय है किन्तु वेद को नारायण मानना क्या आप की दृष्टि में भी सङ्गत है? मेरी दृष्टि को आप छोड़िये! यमदूतों की दृष्टि को देंखें! अजामिल का नाम आप सुने ही होंगे। वही-वही धर्म का अतिक्रमण करने वाला दुश्चरित्र ब्राह्मण! क्या नहीं किया उसने? अपना ब्राह्मणधर्म छोड़ा, अपनी साध्वी पत्नी को छोड़ा और चला गया वेश्या के सङ्ग में। शिव शिव! पूर्वजन्म का कुछ अदृष्ट था कि मरते वक्त अपने पुत्र का नाम लिया 'नारायण' और नारायण के पार्षद आ गये उसे यमदूतों से छुड़ाने के लिए। यमदूतों ने कहा कि इसने अपने ब्राह्मणधर्म का अतिक्रमण किया है, नारायण का अतिक्रमण किया है अतः हम इसे नारकी यातना के लिए नरक में ले जा रहे हैं। धर्म के सम्बन्ध में उनका यह कथन है—

वेदप्रणिहितो धर्मो: ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥

अर्थात् वेद से विहित पदार्थ को धर्म कहते हैं। धर्म से विपरीत अधर्म होता है। वेद साक्षात् नारायण है, इसीलिए वह स्वयम्भू है। स्वयं भवतीति स्वयम्भूः। जो स्वयम् हो उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं। वेद स्वयम् है इसलिए वह स्वयम्भू है। ऐसा यमदूतों ने सुना है। 'इति शुश्रुम' यह यमदूतों का वचन आकलनीय है। यदि वेद सादि होता, यदि वह किसी पुरुष के द्वारा लिखा गया होता तो यमदूत 'इति शुश्रुम' न कहते। वेद की प्राप्ति गुरुपरम्परा से होती है। इस गुरुपरम्परा का अन्त नहीं है। वेद का उच्चारण जैसा आज है वैसा करोड़ों वर्ष पहले भी था। वेद के अनादित्व की सिद्धि के लिए व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने वाले मीमांसक 'जगत्' को भी अनादि मानते हैं। उनके मत में महाप्रलय नहीं होता। मात्र खण्ड प्रलय

ही होता है। खण्ड प्रलय में वेद का एक खण्ड में यदि अभाव होता है तो दूसरे खण्ड में उसका भाव है अर्थात् वैदिक परम्परा का कभी विच्छेद नहीं होता। जिस प्रकार आज के वैज्ञानिक द्वीपों की खोज करते हैं और उनमें नयी दुनिया बसाने की चेष्टा करते हैं। ग्रहों का पता लगाकर उनमें दुनियाँ बसाने की चेष्टा करते हैं उसी प्रकार जब भूलोक-सर्ग नष्ट होता है तो कालान्तर में अन्य लोकों के व्यक्ति नयी सर्गव्यवस्था करके भूलोक में वेद और वेदोदित कर्मों का प्रचार-प्रसार करते हैं। इस प्रकार अविच्छिन्न वैदिक परम्परा चलती रहती है। साधु साधु! सयुक्तिक वार्ता आप की हो रही है। अब हम यह सुनऩा चाहते हैं कि वेद किन कर्मों का प्रतिपादन करता है जिनका ज्ञान लौकिक किन्हीं प्रमाणों से नहीं होता? आप सुनें। वेद सर्वथा अप्राप्त वस्तु का ही विधान करता है अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से न ज्ञात हो सके, मात्र वेद से ज्ञात हो सके, वह उपाय ही तत्तत्फलों को प्रदान करता है यदि यथाविधि उसका अनुष्ठान होता है। प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञात न होने के कारण ही लोकोत्तर उपाय के प्रतिपादन करने से वेद का वेदत्व है। जैसा कि अभियुक्तों ने कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

यद्यपि वेदोदित कर्म लोकोत्तर हैं तथापि लौकिकव्यक्तियों द्वारा अनुष्ठीयमान होने से लोक से अनुस्यूत भी हैं। आगे हम विधिवत् स्वयम् विचार प्रस्तुत करेंगे कि वैदिक कर्म कैसे लौकिक परम्पराओं से अनुस़्यूत हैं? बानग़ी के लिए एक उदाहरण सुन लें! सोमयाग में उत्तरवेदि के पास पशु के नियोजन के लिए यूप होता है? 'यूप' काष्ठ को कहते हैं। वह लौकिक काष्ठ नहीं है किन्तु अलौकिक है! यह क्या कह रहे हैं आप? 'यूप' यदि काष्ठ-विशेष की संज्ञा है तो वह अलौकिक कैसे? काष्ठ तो लोक में होता है अतः उसे लौकिक कहना ही न्याय सङ्गत है! आप पूरी वार्ता सुनते ही नहीं केवल बीच में प्रतिवाद करने लगते हैं। सुनिये तो सही। मैं आपकी सारी शङ्काओं का समाधान कर दूँगा। यदि यूप केवल काष्ठ होता तो उसे लौकिक कहा जा सकता है, लेकिन ऐसा नहीं है। यूप में अनेक संस्कार होते हैं जैसे तक्षण, जोषण, अष्टास्त्रीकरण, स्थाण्वाहुतिहोम आदि आदि! इसीलिए पार्थसारिथिमिश्र ने कहा है कि

'दृष्टादृष्टसंस्कारगणो हि यूपः' अर्थात् जिस काष्ठ में दृष्ट-अदृष्ट संस्कारों के गण हों उसे यूप कहते हैं। तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वरसूरि यूप को केवल अदृष्ट संस्कारों वाला मानते हैं। जो कुछ भी हो, सारे संस्कारों के द्वारा जब काष्ठविशेष में अदृष्ट (लोकोत्तर सामर्थ्य) पैदा कर दिया जाता है तो उसकी 'यूप' संज्ञा होती है। वह काष्ठ भी 'खादिरो यूपो भवति' इत्यादि वचनों से नियन्त्रित भी होता है। अब मैं आप से पूछता हूँ कि यूप 'खदिर' (कत्था) का ही होगा, इस बात को क्या आप लौकिक प्रमाणों से जान सकते हैं? लौकिक प्रमाणों से किसी भी काष्ठ को यूप बना सकते हैं किन्तु उससे अभीष्टसिद्धि नहीं होगी क्योंकि वेद कहता है कि यूप खदिर का ही हो! यूप के खादिरत्व में वेद ही प्रमाण है न कि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण। अब आइये मूल वार्ता पर कि वैदिक क्रिया लौकिक परम्पराओं से कैसे अनुस्यूत है? वेद में 'साद्यस्क्र' याग आम्नात है। एकदिनसाध्य यह सोमयाग होता है। उसमें यवक्षेत्र ही वेदि होती और उस क्षेत्र का 'खल' (खलिहान) उत्तरवेदि होती है। खल में बैलों को बाँधने के लिए बीच में एक काष्ठ गाड़ देते हैं। उस काष्ठ की संज्ञा है 'खलेवाली'। 'खलेवाली' की व्युत्पत्ति है—"खले वारयति बलीवर्दान् इतस्ततः सञ्चारादिति खलेवाली" अर्थात् खलिहान में इधर उधर भागते हुए बैलों को जो रोके उसे 'खलेवाली' कहते हैं। धान्य की मड़ाई के लिए बैलों को रस्सी में नाथ कर उसी काष्ठ में बाँध देते हैं तथा चारों तरफ उन्हें घुमा कर मड़ाई करते हैं। यह लौकिक पद्धति है। वेद से इसका सम्बन्ध देखिये—साद्यस्क्रयाग में यूप के लिए खलेवाली ही विहित है—'खलेवाली यूपो भवति'। उस खलिहान में खलेवाली के सन्निकट उत्तरवेदि तथा हविर्धानमण्डप, सदोमण्डप आदि का निर्माण होता है। इस प्रकार सारी यागीय क्रियायें वहीं सम्पन्न होती हैं। मूलवार्ता पर आइये कि वेद द्वारा विहित वे अलौकिक उपाय कौन हैं? वेद तत्तत्फलों के लिए उपाय बतलाते हैं। जैसे स्वर्ग, ब्रह्मवर्चस, प्रतिष्ठा, इन्द्रिय, वर्षा, अन्न, ग्राम, स्वाराज्य, पशु आदि फल हैं जिनकी प्राप्ति के लिए वेद में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत' आदि आदि नाना प्रकार के होम, याग, दानादि कर्म बतलाये गये हैं। ये ही कर्म उन फलों की प्राप्ति के उपाय हैं। अब आप ही बतलायें कि अग्निहोत्रहोम स्वर्ग का साधन है,

दर्शपूर्णमासयाग स्वर्ग का साधन है, राजसूययाग स्वाराज्य का साधन है, इन बातों को आप किन प्रमाणों से जानेंगे। क्या इनका ज्ञान प्रत्यक्ष से हो सकता है या अनुमान से हो सकता है? न प्रत्यक्ष से होगा और न ही अनुमान से होगा! तब किससे होगा? मात्र वेद से होगा। इसी में वेद का वेदत्व है— 'तस्मात् वेदस्य वेदता'। 'इन उपायों को कौन करे कौन न करे' इत्यादि चिन्ता भी वेद में है जिसका अनुशीलन करने के लिए हम प्रस्तुत हुए हैं। माना कि वेद अलौकिक साधन का उपदेश करते हैं किन्तु आप तो वेद को यागहोमादि साधनों तक ही परिमित मान रहे हैं! यदि ऐसा ही माना जाय तो धर्म की व्यापकता समाप्त होती नज़र आयेगी! क्या धर्म की सीमा होम, याग तक ही सीमित है और क्या होम, याग से अतिरिक्त सारी क्रियायें अधर्म में आयेंगी? सुनते जाइये! आप की सारी शङ्काओं का निराकरण अपने आप हो जायेगा। होम, यागादि को उदाहरण के रूप में मैंने प्रस्तुत किया इससे आप यह न समझ लें कि धर्म सीमित हो गया। क्योंकि आज लोक की वे मान्यतायें जिनका अतिक्रमण करके सांसारिक जन एक लज्जा का अनुभव करते हैं और समाज की दृष्टि में भी घृणा के पात्र होते हैं, वे धर्म के अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि उनका प्रतिबोधन मात्र वेद से ही सम्भव है। वहाँ तक मनुष्य की बुद्धि नहीं जा सकती, अतः वे प्रत्यक्ष या अनुमान से सर्वथा अगम्य हैं। धर्म के दो प्रकार होते हैं—प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिलक्षण धर्म। प्रवृत्तिलक्षण धर्म से हमारा अभिप्राय है—अप्रवृत्त नियोज्य पुरुष की प्रवृत्ति वाला धर्म। स्वर्गादि तत्तत् फलों में नियोज्य पुरुष की प्रवृत्ति तभी सम्भव है जब किन्हीं प्रमाणों से विधेयकर्म की इष्टसाधनता का ज्ञान हो। अर्थात् 'अमुक कर्म मेरे अभीष्ट का साधन है' ऐसा ज्ञान होना आवश्यक है। अतः इष्टसाधनता का आक्षेप करके विधि ही विधेय सन्ध्या-अग्निहोत्र, यागादि में प्रवृत्त कराता है। इसीलिए उसे प्रवर्तना कहते हैं। जैसा कि कहा भी है—'प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्'। यदि प्रवृत्ति के विषय में स्वतः प्रवृत्ति होती है तो उसे धर्म नहीं कहा जा सकता क्योंकि धर्म का ज्ञान मात्र वेद से ही होता है, ऐसा मैं पीछे कह चुका हूँ। प्रवृत्तिलक्षण धर्म के कई प्रकार होते हैं। उनमें भी सामान्य रूप से तीन विभाग किये जा सकते हैं। जैसे—नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। नित्य, नैमित्तिक और काम्य तीनों में निमित्त होते हैं फिर भी तीनों

कर्मों में भेद है। विषम उपन्यासः। यदि तीनों कर्मों में आप निमित्त स्वीकार कर रहे हैं तो नित्य, नैमित्तिक-काम्य ये तीन भेद कैसे स्वीकार कर सकते हैं? निमित्ते सति नैमित्तिकं भवति। निमित्त होने पर ही नैमित्तिक कर्म की संज्ञा होती है। 'अनभिप्रायज्ञो देवानां प्रियः'। इसका क्या अभिप्राय है— 'अनभिप्रायज्ञो देवानां प्रियः'। कृपया हिन्दी में समझाइये। अभी नहीं समझाऊँगा क्योंकि इसका अभिप्राय समझ लेने से आप का हृदय विरस हो जायेगा। प्रवचन के प्रति उत्सुकता समाप्त हो जायेगी। अन्त में कहूँगा तो आप भी सन्तुष्ट हो जायेंगे। अच्छा, अब आप अपने सन्देह का निवारण करें। नित्य, नैमित्तिक और काम्य का भेद समझें! निमित्त के भेद से नित्य, नैमित्तिक और काम्य में भेद होता है। नित्य कर्म में निमित्त नियत हुआ करता है—'नियतनिमित्तकत्वं नित्यत्वम्'। जैसे—सन्ध्या, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम। इतने कर्म त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए नित्य कर्म हैं। नित्य कर्म का कोई स्वर्गादि फल नहीं होता। विषम उपन्यासः। यदि फल ही नहीं है नित्यकर्मों में तो पुरुष की उनमें प्रवृत्ति कैसे होगी? 'सर्वत्र पुरुष की प्रवृत्ति में इष्टसाधनता का ज्ञान आवश्यक है' ऐसा आप ही पीछे कह चुके हैं। भगवान् मण्डनमिश्र का भी कथन है— 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः'। सुनिये! 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत', 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' ये उक्त नित्यकर्मों की विधियाँ हैं अर्थात् उक्त वाक्य ही नित्यकर्मों के विधायक वाक्य हैं। इनमें 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' की तरह फलसमर्पक पद नहीं है तथापि बिना इष्टसाधनता के विधि का प्रवर्तकत्व ही सिद्ध न होने से इष्टसाधनता का आक्षेप करते हैं। नित्यकर्मों में क्या इष्टसाधन है, इसकी चर्चा मैं अनुपद ही करूँगा। पहले इनका भेद समझ लीजिए। नित्य कर्मों का नियत निमित्त हुआ करता है जैसे—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि में 'यावज्जीवम्' पद को पकड़ेंगे जो कि नियतनिमित्त को बोधित करता है। अर्थात्—'जीवने निमित्ते अग्निहोत्रहोमं कुर्यात्' जीवन के निमित्त होने पर अग्निहोत्रहोम करना चाहिये। यही स्थिति सन्ध्या में भी है, जीवन के निमित्त होने पर प्रतिदिन त्रिकाल सन्ध्या करनी चाहिये। जीवन के निमित्त होने पर प्रति अमावस्या और पूर्णिमा को दर्शपूर्णमासयाग करना चाहिये। प्रतिवसन्त-ऋतु

में ज्योतिष्टोमनामक सोमयाग करना चाहिये। इन नित्यकर्मों के फल की आङ्काक्षा यदि होगी तो उसमें विश्वजिन्न्याय लगाकर स्वर्ग की कल्पना नहीं कर सकते और रात्रिसत्रन्याय से आर्थवादिक प्रतिष्ठादिक फल की कल्पना भी नहीं कर सकते। यहाँ पर मैं विश्वजिन्न्याय और रात्रिसत्रन्याय से भी आपका परिचय करा देता हूँ क्योंकि आप की मुख-मुद्रा ही ऐसी बनी हुई है। वेद में एक विश्वजित्कर्म का आम्नान है 'विश्वजिता सर्वस्वदक्षिणेन यजेत'। 'विश्वजित्' नामक याग में यजमान अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे देता है। महर्षि जैमिनि ने सर्वस्व के अन्तर्गत क्या आयेगा? इसका परिगणन मीमांसाशास्त्र के छठें अध्याय में कर दिया है। यजमान की पत्नी और भूमि आदि सर्वस्व के अन्तर्गत नहीं आते अत: उनका दक्षिणा-दान नहीं होता। इस याग को हमारे प्राचीन राजा और अनेक महर्षि ब्राह्मण करते रहे हैं। वैसे वैश्य बन्धु भी त्रैवर्णिक के अन्तर्गत आते हैं। आज नहीं, प्राचीनकाल में वे भी यथानियम वेदाध्ययन करते थे। फलस्वरूप वैदिक कर्मों में उनका भी अधिकार था। सोमयाग भी करते रहे होंगे लेकिन सर्वस्वदक्षिणा वाला विश्वजित् याग भी करते रहे होंगे, इसमें मुझे सन्देह है क्योंकि उनका काम ही था व्यापार के द्वारा अर्थोपार्जन। अरे भाई, जो खून-पसीना एक करके, एक-एक पैसे की कृपणता करके करोड़ीमल बना हो वह कैसे अपना सर्वस्व लुटा देगा? रही राजाओं की बात तो वह अपना सर्वस्व लुटा करके भी किसी अन्य राजा को जीत कर बहुत कुछ रत्नादि हथिया सकता है। रघु का आप नाम सुने ही होंगे। वे विश्वजित् याग किये थे। उनके पास एक झोपड़ी मात्र थी जिसमें एक चटाई और घड़ा मात्र थे। तभी वरतन्तु के शिष्य कौत्स उनके पास आ गये। बात यह थी कि गुरुजी से चौदह विद्या ग्रहण करने के बाद कौत्स गुरुजी से दक्षिणा माँगने के लिए हठ करने लगे। गुरुजी ने कहा कि वत्स, तुम मेरी विद्या यथावत् ग्रहण किये हो, यही मेरी दक्षिणा है। यदि कुछ देना ही चाहते हो तो दो दाना लौंग, इलायची दे दो! गुरुजी के वैसा कहने के बाद भी कौत्स ने जब अपना हठ नहीं त्यागा तो रुष्ट गुरुजी ने कह दिया कि तुम मुझसे चौदह विद्यायें ग्रहण किये हो इसलिए चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा ले आओ। वे चौदह विद्यायें इस प्रकार हैं—"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।"

पुराण, न्यायशास्त्र, मीमांसा (पूर्वोत्तर), धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, शिक्षा, निरुक्त, कल्प और छन्द छः अङ्ग तथा ऋग्-यजुः-साम-अथर्व ये चार वेद, ये चौदह विद्यायें हैं। अच्छा, तो कौत्स कहाँ पायें चौदह कोटि स्वर्णमुद्रा? कुछ सोच विचार कर राजा रघु के पास आ गये। 'कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः'। रघु की भी दशा आप सुन ही चुके हैं। विश्वजित् याग में वे भिखारी हो चुके हैं तो भी उनके पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं! धनुष उठाकर प्रत्यञ्चा चढ़ाये और सीधे कुबेर के ऊपर चढ़ायी किये। परिणामस्वरूप रत्नों की वर्षा हो गयी। जो कुछ भी उनको प्राप्त हुए उन्होंने कौत्स के सामने रख दिये कि ले जा सकते हैं इन सारी द्रव्य-राशियों को! लेकिन कौत्स भी ठहरे असली ब्राह्मण! चौदह करोड़ के अतिरिक्त एक कौड़ी भी लेना मुनासिब नहीं समझा। यहां पर कालिदास का यह श्लोक आकलनीय है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

यह है राजाओं (क्षत्रिय) और ब्राह्मणों की महत्ता। वर्ण लौकिक नहीं शास्त्रीय हैं, इसकी व्याख्या मैं आगे प्रकरण आने पर करूँगा। ब्राह्मणों के लिए अन्य सारे वर्णों से कठोर नियम वेद ने बनाया है इसकी भी चर्चा होगी। हाँ, क्षत्रिय तो जय आदि से प्रभूत द्रव्य पा सकते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण भी, जो सर्वस्वदक्षिण याग कराते हैं, समय-समय प्रभूत द्रव्य पाते रहते हैं। इसलिए इन दोनों वर्णों को सर्वस्व देने में कोई हिचक नहीं होती बशर्ते असली ब्राह्मण हो और असली क्षत्रिय। असली से हमारा अभिप्राय है—यथाविधि संस्कारों से संस्कृत। जो ब्राह्मणजन्मा द्रव्यलोभ से तेली आदि की कन्याओं से विवाह कर ले, अपनी आचारपरम्परा को छोड़ दे, उसे मैं ब्राह्मण ही नहीं मानता क्योंकि आचार की रक्षा करने वाला ही ब्राह्मण है। जैसा कि युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा भी है कि ब्राह्मणों का हित आचार से ही है। अतः ब्राह्मणों को चाहिये कि वे अपनी आचार-परम्परा की रक्षा करें—

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणः वृत्ततस्तु हतो हतः॥

जिसका आचार नष्ट नहीं हुआ तो वह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं है और जिसका आचार नष्ट हो गया वह नष्ट न होकर भी नष्ट हो गया है।

अब विश्वजिन्नयाय सुनें। 'विश्वजिता यजेत' इस वाक्य में फल का निर्देशन न होने से यह आशङ्का होती है कि विश्वजित् याग में फल है कि नहीं? पूर्वपक्षी यहाँ यही कहेगा कि विधिवाक्य में फल–श्रवण है ही नहीं। इससे तो केवल कर्म ही प्रतीत हो रहा है। अतः फल की कल्पना अध्याहार से करनी होगी। अध्याहार वहाँ होता है जहाँ वाक्य परिपूर्ण नहीं होता। जैसे 'प्रविश' 'प्रवेश करो' क्रिया बोली गयी है तो 'गृहम्' पद का अध्याहार करके 'घर में प्रवेश करो' यह वाक्य पूर्ण कर लेंगे! यहाँ पर तो वाक्य परिपूर्ण है, अतः फल की कल्पना नहीं कर सकते। अब सिद्धान्ती सिद्धान्तपक्ष की स्थापना इस प्रकार करेगा—फल का श्रवण न होने पर भी फल की कल्पना अध्याहार से करनी ही पड़ेगी। क्योंकि सर्वत्र विधि (वेदभाग) चेतन को ही क्रियाविशेष में प्रवृत्त कराता है। चेतन की कहीं भी निष्फल प्रवृत्ति नहीं होती। 'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के क्रिया में मूढ पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होता। अतः विधि अपने प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए फल का आक्षेप करेगा ही। बिना फल के आक्षेप से वाक्य अपरिपूर्ण ही रहेगा। ऐसी परिस्थिति में लौकिक भी पदार्थ वेदवाक्य से सम्बद्ध होकर वैदिक हो जाता है तो यदि वैदिक ही कहीं अन्यत्र स्थित अध्याहृत हो जाय तो उसके विषय में क्या कहना होगा। कोई विरोध होने का अवसर नहीं होगा। इस प्रकार जिन वाक्यों में फल का श्रवण नहीं है वहाँ अश्रुतफल का अध्याहार कर लेते हैं। जैसा कि पार्थसारथिमिश्र ने स्पष्ट कहा है—

तेनाश्रुतफलानामप्यध्याहृतफलान्वयात्।
सर्वेषां कर्मणामत्र फलवत्त्वमवस्थितम्॥

अब पुनः एक आशङ्का यह होगी कि यदि अश्रुत फल की कल्पना की जाय तो एक फल की कल्पना हो कि सारे फलों की? 'फलविशेष का निर्देश न होने से सारे फल अध्याहृत हो जायेंगे' इस पूर्वपक्ष के बाद महर्षि जैमिनि कहते हैं—'एकं वा चोदनैकत्वात्' (मीमांसा, ४/३/१४) एक कर्म के आम्नान (उपदेश) होने से एक फल का ही अध्याहार होगा। जब एक ही फल का अध्याहार होता है तो कौन फल अध्याहृत होगा? फल तो पशु, प्रतिष्ठा, बल, वर्षादि अनेक हैं क्योंकि पुरुष की कामनायें अनेक हुआ करती हैं। इस पर भगवान् जैमिनि कहते हैं—"स स्वर्गः स्यात् सर्वान्

प्रत्यवशिष्टत्वात्''। (मीमांसा, ४/३/१५) जो एक फल होगा वह स्वर्ग होगा क्योंकि स्वर्ग सारे फलों के प्रति अविशिष्ट है अर्थात् सर्वफलों में अनुस्यूत है। पशु-प्रतिष्ठा इत्यादि फल दु:ख से अनुविद्ध भी हो सकते हैं और उनमें अल्प पुरुषों की ही प्रवृत्ति होगी। स्वर्ग तो सर्वथा दु:ख से असंपृक्त है; अधिक पुरुषों की उसमें प्रवृत्ति भी होगी; अत: उसे ही स्वीकार करना चाहिये। जैसा कि शास्त्रतत्त्वज्ञ कहते हैं—

स्वर्गोऽनतिशयप्रीतिरूपो दु:खविवर्जित:।
भूयांसोऽभिलषन्त्येनमल्पे त्वल्पसुखं नरा:॥

यह सब ठीक है किन्तु यह बात मुझे खटक रही है कि स्वर्ग सारे प्राणी चाहते हैं। यह कथन तो सर्वथा प्रत्यक्षविरुद्ध मालूम पड़ रहा है क्योंकि हम देखते हैं कि आज प्राणी केवल भौतिक सुखों के संसाधन में लगा हुआ है। स्वर्ग में तो किसी की दृष्टि ही नहीं जाती। कितने तो स्वर्ग की सत्ता मानने में भी कतराते हैं! कोई विरोध नहीं। सारे प्राणी स्वर्ग चाहते हैं। संसार में ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है जो स्वर्ग न चाहता हो। मैं ही नहीं। इस बात को मीमांसाभाष्यकार श्रीशबरस्वामी भी कहते हैं—

सर्वे जना: स्वर्गं कामयन्ते। प्रीति: स्वर्ग:। सर्वे जना: प्रीतिं कामयन्ते॥

सारे जन स्वर्ग की कामना करते हैं! स्वर्ग क्या है? इस पर कहते हैं कि प्रीति ही स्वर्ग है। प्रीति से अभिप्राय है—तृप्ति, आनन्द! सारे जन आनन्द की कामना करते ही हैं। वह आनन्द भी साधारण नहीं है। किन्तर्हि? विलक्षण है। जैसा कि कहा गया है—

यन्न दु:खेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्व:पदास्पदम्॥

जिसमें दु:ख का संमिश्रण न हो और भाविरूप में भी जो दु:ख से ग्रस्त न हो तथा जिसमें नित्य लालसा बनी रहे उस लोकोत्तर सुख को ही स्वर्ग कहते हैं। क्या अब भी आप कह सकते हैं कि कोई स्वर्ग की कामना नहीं करता? कदापि नहीं। और भी जो आप के आक्षेप हैं उनका समाधान आगे जब 'स्वर्ग' का बृहद् निर्वचन किया जायेगा, कर दिया जायेगा। हाँ तो अब पूर्व वार्ता में आइये कि नित्य कर्मों में जहाँ फल का श्रवण नहीं है, विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग की परिकल्पना होगी कि नहीं? नहीं होगी! क्यों? क्योंकि स्वर्ग मुमुक्षुओं के द्वारा प्रार्थित नहीं है। नित्य कर्मों का अनुष्ठान तो

मुमुक्षुओं के लिए भी अनिवार्य है। इसी तरह रात्रिसत्रन्याय से आर्थवादिक फल की भी कल्पना नहीं कर सकते! रात्रिसत्रन्याय यह है—'ज्योति गौरायुरिति त्र्यहा भवन्ति' ये तीन सोमयाग हैं। इसके बाद अर्थवाद है— 'प्रतितिष्ठिन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति'। यहाँ रात्रि शब्द से पूर्वोक्त 'ज्योतिः, गौः, आयुः' ये तीन सोमयाग संगृहीत होते हैं। अब यहाँ संशय होता है कि रात्रिसत्र का फल स्वर्ग होगा कि 'प्रतितिष्ठन्ति......' इस अर्थवाद से उन्नीत आर्थवादिक 'प्रतिष्ठा'? विश्वजिन्न्याय से 'स्वर्ग' फल होगा, यह पूर्व पक्ष होगा। सिद्धान्त में प्रतिष्ठाफल को स्वीकार किया गया है क्योंकि प्रतिष्ठा का अर्थवाद में निर्देश साक्षात् है। स्वर्ग की कल्पना में अनुमान करना होगा। अतः वह कल्प्य होगा। प्रतिष्ठा तो साक्षात् वाक्य में निर्दिष्ट होने से क्लृप्त है। 'क्लृप्तकल्प्ययोः क्लृप्तं बलीयः'। क्लृप्त और कल्प्य में क्लृप्त बलवान् होता है। अतः रात्रिसत्र का प्रतिष्ठारूप फल ही होगा। वह भी नित्यकर्मों में नहीं होगा क्योंकि मुमुक्षुगण प्रतिष्ठा भी नहीं चाहते। तब कौन सा फल नित्यकर्मों में स्वीकार किया जाय? बिना फल के विधि की प्रवर्तकता सिद्ध नहीं होगी। अतः कुछ न कुछ फल की परिकल्पना तो करनी ही होगी। श्रूयताम्! प्रत्यवाय का परिहार ही नित्यकर्मों का फल होगा। प्रत्यवायपरिहार मुमुक्षु भी चाहते हैं। अतः प्रत्यवाय अर्थात् पाप का परिहार (दूरीकरण) ही नित्यकर्मों का फल है। जैसे सन्ध्या को ही लीजिये। प्रातः सन्ध्या करने से रात्रि के पाप दूर होते हैं और सायं सन्ध्या से दिन के पाप दूर होते हैं। जैसा कि 'पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठन् नैशमेनो व्यपोहति' इस स्मृति से तथा 'यद्रात्र्या पापमकार्षं रात्रि स्तदवलुम्पति' इत्यादि मन्त्रवर्णों से भी ज्ञात होता है। आप का कथन यथावत् है तथापि एक सन्देह होता है कि जब सन्ध्योपासन से ही सारे पापों की निवृत्ति हो जाती है तो फिर अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे। फिर अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों की विधियों की उपस्थिति कैसे होगी? सम्यक् आप ने प्रश्न किया है। तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर सूरि भी कुछ ऐसा ही कहते हैं। आप ने प्रसङ्ग छेड़ ही दिया है तो समाधान भी सुन लीजिये। सोमेश्वरसूरि ने यावज्जीवाधिकरण में कहा है—

सन्ध्योपासनमात्राद्धि सर्वपापक्षये सति। अग्निहोत्राद्यनुष्ठाने कः प्रवर्तेत बुद्धिमान्॥ एकस्य तु क्षये कस्येत्यवगन्तुं न शक्यते॥ इति।

अर्थात् सन्ध्योपासन मात्र से ही यदि सर्व पापों का क्षय हो जाता है तो कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो कि अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि नित्य कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होगा? इसका समाधान है—नित्यकर्मों के अनुष्ठान के काल का भी विधान वेद ही करता है। जैसे सन्ध्या के लिए सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के पूर्व का काल, अग्निहोत्र के लिए उदित और अस्त का काल, दर्शपौर्णमास के लिए अमावास्या और पूर्णिमा का काल। उन कालों में ही कर्मों का अनुष्ठान होना चाहिये, ऐसा शास्त्रीय नियम है। इस नियम के उल्लङ्घन से जो पाप हुआ उसका अभाव ही अग्निहोत्रादि कर्मों का फल हो जायेगा। और भी, जिस काल में सन्ध्या का अनुष्ठान होना चाहिये उस काल में कोई अन्य कर्म नहीं करना चाहिये। यदि उस काल में कोई अन्य कर्म किया गया तो उससे जो प्रत्यवाय हुआ उसका भी परिहार 'फल' हो जायेगा। और भी, काल बीत जाने पर भी जिन नित्य कर्मों का अनुष्ठान प्रमादवश नहीं हो पाया उससे जो प्रत्यवाय हुआ, उसका भी परिहार अग्निहोत्रादि के फल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार नित्यकर्मों की विधियों में भी प्रत्यवायपरिहाररूप फल की परिकल्पना से विधि की अर्थवत्ता सिद्ध हो जाती है। यह नित्य कर्मों की वार्ता हुई। इन चार नित्य कर्मों के अतिरिक्त नये धान्य से की जाने वाली आग्रयणेष्टि, निरूढपशुयाग और बलिवैश्वदेव, इष्टोपासनादि को भी नित्यकर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जीवनरूप नियतनिमित्त होने पर किये जाने से नित्यकर्मों की व्याख्या हुई। अब नैमित्तिक कर्म की व्याख्या सुनें! जिन कर्मों का निमित्त नियत न हो उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। 'अनियतनिमित्तकत्वं नैमित्तिकत्वम्'। जैसा कि लोकप्रसिद्ध एक उदाहरण है—'राहूपरागे स्नायात्' अर्थात् ग्रहणनिमित्त होने पर नदीजलाशयादि में स्नान करना चाहिये। यहाँ पर ग्रहण निमित्त नियत नहीं है। कभी भी राहूपराग हो सकता है। अतः राहूपराग में नद्यादि में स्नान विहित है। इस प्रकार राहूपरागनिमित्तक स्नान नैमित्तिककर्म के अन्तर्गत आयेगा। निमित्त के विषय में शास्त्रज्ञों ने कहा है—स्वान्वयव्यतिरेकानुविधायि अवश्यानुष्ठानवत्त्वं निमित्तत्वम्। किसी (कारणादि) के रहने पर किसी (कार्यादि) के होने को अन्वय कहते हैं तथा अभाव में अभाव होने को व्यतिरेक कहते हैं। अभिप्राय यह है कि

निमित्त के रहने पर नैमित्तिक का अनुष्ठान अवश्यंभावी होता है चाहे वह निमित्त नियत हो अथवा अनियत हो। इसीलिए निमित्त होने पर नैमित्तिक का अनुष्ठान न करना प्रत्यवाय (पाप) का जनक होता है। करने पर 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म से पाप का नाश होता है) इस न्याय से अथवा रात्रिसत्रन्याय से पापक्षय ही नित्यनैमित्तिकस्थल में फल होता है। अब मैं नैमित्तिक कर्म के एक, दो और उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। तथा हि—पुत्रोत्पत्तिरूप निमित्त होने पर आहिताग्नि के लिए वैश्वानरेष्टि का विधान है—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' अर्थात् पुत्र होने पर वैश्वानर देवता वाला, पुरोडाश द्रव्यवाला जो बारह कपालों में संस्कृत हुआ है, याग करना चाहिये। इस याग को प्राचीन काल में हमारे पूर्वज करते आये हैं। आज भी दक्षिण में ऐसे महापुरुष हैं जो यथाविधि धर्मानुष्ठान करते हुए वैश्वानरप्रभृति यागों का अनुष्ठान करते हैं। हमारे उत्तर भारत में तो अब आचारपद्धति ही नहीं रह गयी है। सन्ध्या तक का भी द्विजबन्धुओं में लोप हो गया है। परिणामस्वरूप वे चतुर्थवर्ण (शूद्र) में प्रविष्ट होने लगे हैं। जी हाँ, कहाँ तक कहूँ। आज मैं काशी के ब्राह्मणों के घर के दरवाजे पर प्याज, लहसुन का छिलका अक्सर देखता हूँ। अभिप्राय यही है कि अब हम लोग अपनी दैवी संस्कृति को छोड़कर आसुरी-संस्कृति को स्वीकार कर रहे हैं। मेरे हृदय में सन्ताप है। मैं बहुत कुछ कहना चाहता हूँ। आगे कहूँगा भी। इस समय प्रकरण का विच्छेद नहीं करना चाहता। परिणाम यही है कि वैश्वानरयाग न करने पर प्रत्यवाय होगा ही और करने पर जातक तेजस्वी इन्द्रियवान्, पवित्र, अन्नाद और पशुमान् होता है—'यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यनाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति।' अन्य उदाहरण से यह बात एकदम समझ में आ जायेगी कि नित्यनैमित्तिक का अनुष्ठान प्रत्यवाय-परिहार के लिए ही होता है। प्रत्यवाय होने पर नाना प्रकार के कायिक, मानसिक क्लेशादि हुआ करते हैं। यदि प्रत्यवाय नहीं है तो दैहिक-दैविक और भौतिक ताप अहिताग्नि को छू नहीं सकते। आहिताग्नि से हमारा अभिप्राय है—वैदिककर्मों का अधिकारी, जिसका यथाविधि अग्न्याधान संस्कार हुआ हो। इसका मैं आगे विशद विवेचन करूँगा। आहिताग्नि का अग्नि पर भी अधिकार था अर्थात् अग्नि की भी हिम्मत नहीं थी कि वह आहिताग्नि के घर को जला सके। यदि जलता है तो

आहिताग्नि का अवश्य प्रत्यवाय होगा जिसके निवारण के लिए इष्टि विहित है—'यस्याहिताग्नेरग्नि गृहान् दहेत् योऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्'। अर्थात् जिस आहिताग्नि के घर को अग्नि जला दे वह अपने प्रत्यवाय के निवारणार्थ क्षामवत् गुणवाले अग्नि देवता के लिए आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश से याग करे। और भी, यदि चोर आहिताग्नि के धन को चुरा ले जायें तो भी प्रत्यवायनिवारणार्थ यही इष्टि (याग) की जाती है—'एतामेवेष्टिं निर्वपेत् यस्य हिरण्यं नश्येत्।' इसी को हिरण्यनाशेष्टि कहते हैं। ये नित्य, नैमित्तिक कर्म मुमुक्षु को भी अवश्य करने चाहिये। अब काम्य कर्मों को सुनें। काम्य कर्मों में फल ही प्राधान्येन निमित्त होता है। जो कर्म किसी कामना के लिए किये जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते हैं। कामनायें—स्वर्ग, ब्रह्मवर्चस, पुत्र, पशु, इन्द्रिय (पुष्टि), अन्न, वर्षा, ग्राम, हिरण्य, प्रतिष्ठा, स्वाराज्य आदि हो सकते हैं। इन कामनाओं के लिए तत्तत्कर्मों का विधान वेदों में है। काम्य कर्मों में बहुत ही सतर्कता की आवश्यकता होती है। अभिप्राय यह है कि सारे अङ्गकर्मों का अनुष्ठान करते हुए यदि प्रधानकर्म का अनुष्ठान यथाविधि विद्वानों से कराया जाय तभी तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है। नित्यनैमित्तिक में यह बात नहीं है। उनमें यथाशक्तिन्याय चलता है। वे तो ज़ीवनपर्यन्त किये जाते हैं। यदि बुढ़ापे में शक्ति नहीं है तो अङ्गों को छोड़ा भी जा सकता है; केवल प्रधान से भी काम चल सकता है। अङ्ग-प्रधान को समझने के लिए सन्ध्याकर्म को पकड़िये। सूर्यार्घ्य, सूर्योपस्थान और गायत्रीजप सन्ध्या के प्रधान कर्म हैं तथा आचमन, प्राणायाम, मार्जन, अघमर्षणादि अङ्ग कर्म हैं। इसी प्रकार अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि कर्मों में भी समझना चाहिये। काम्य कर्म नित्य का बाधक हुआ करता है। 'काम्यं नित्यस्य बाधकम्'। अभिप्राय यह है कि दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम नित्य कर्म भी हैं और काम्यरूप से भी विहित हैं—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। इनके काल भी विहित हैं। जिन कालों में नित्य का अनुष्ठान होता है उन्हीं कालों में यदि काम्य करेंगे तो नित्य को बाधना ही होगा। बिना उसे बाधे काम्य का अनुष्ठान ही नहीं होगा। यह हुआ नित्य, नैमित्तिक और काम्य का विवेक। प्रवृत्तिलक्षण धर्म के अन्तर्गत ये आते हैं। इनके अतिरिक्त दान,

उपासना, सत्यभाषण, स्वाध्याय, प्रवचन, याजन, गुरुवन्दना, अतिथिपूजन, ऋतुकाल में भार्यागमन इत्यादि प्रवृत्तिलक्षण धर्म के अन्तर्गत ही आयेंगे। प्रवृत्तिलक्षण धर्म के बाद निवृत्तिलक्षण धर्म भी वेदमात्र से गम्य हुआ करता है। रागतः द्वेषतः वा जिस किसी क्रिया में प्रवृत्ति होती है; वेद उस क्रिया की अनिष्टसाधनता का बोधन कराते हुए, उससे पुरुष की निवृत्ति कराते हैं। जिस तरह से वेद इष्टसाधनता का बोध कराते हुए धर्म में प्रवृत्ति कराते हैं उसी प्रकार अनिष्टसाधनता का बोध कराते हुए पुरुष की अधर्म से निवृत्ति कराते हैं। जैसे पुरुषार्थत्वेन श्रूयमाण 'नानृतं वदेत्' यह वचन है जिसका अर्थ है—'असत्य नहीं बोलना चाहिये'। उक्त प्रतिषेधवचन उसमें प्रवृत्त नहीं होते जो सत्यवचन ही बोलता है। यदि इसमें ये प्रवृत्त हो जायें तो उनका वैयर्थ्य हो जायेगा क्योंकि वह पुरुष सत्यनिरत है। यदि वह सत्य में प्रतिष्ठित है तो प्रतिषेध उसकी अनिष्टसाधनता का बोधन नहीं करा सकते। किं तर्हि? जो व्यक्ति लोभादि के वशीभूत होकर असत्यभाषण में प्रवृत्त हो रहा हो उसकी निवृत्ति असत्यभाषण से 'नानृतं वदेत्' ये प्रतिषेध-वचन कराते हैं। इस प्रकार वेद का यह उद्घोष है कि ये मानव! लोभ के कारण असत्य बोलकर जो तुम अपना लाभ सोच रहे हो उससे तेरी महती विनष्टि है, असत्यभाषण तेरे इष्ट का साधन न होकर अनिष्ट का साधन हो रहा है अतः असत्यभाषण मत करो नहीं तो पुरुषार्थ से च्युत होकर अनर्थ को प्राप्त करोगे। इसी तरह 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानिं, न ब्राह्मणं हन्यात्' ये प्रतिषेधवचन भी सर्वप्राणियों की हत्या में एवम् ब्राह्मणहत्या में प्रवृत्त पुरुष में ही सर्वभूतहत्या और ब्राह्मण-हत्या की अनिष्टहेतुता का प्रतिबोधन कराते हुए लागू होते हैं। हत्या में जो प्रवृत्त नहीं हैं, उनमें प्रतिषेध प्रवृत्त नहीं होते। क्योंकि प्रतिषेधों का अनिष्टसाधन की प्रवृत्ति से औदासीन्य कराना ही मात्र व्यापार होता है! इसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' लशुन-पलाण्डु इत्यादि अभक्ष्य का भक्षण नहीं करना चाहिये, इत्यादि प्रतिषेध भी लशुन-पलाण्डु के भक्षण में प्रवृत्त पुरुषों का तद्भक्षण से औदासीन्यमात्र कराते हैं। यहाँ पर एक वस्तु का मैं स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ—कुछ व्यक्ति कलञ्ज से विष से लिप्त बाणों द्वारा विद्ध पशु को ही लेते हैं, लशनु-पलाण्डु आदि को नहीं लेते! इसका समाधान मेरे परम गुरु श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रीजी ने न्यायप्रकाश की अपनी टीका सारविवेचनी में

कर दिया है। वह है—यदि कलञ्जपद से विषदिग्धबाण से विद्ध पशु का ग्रहण करेंगे तो वेदवचन का वेदत्व ही समाप्त हो जायेगा क्योंकि प्रत्यक्षानुमानादि से अप्राप्त अंश में ही वेद का व्यापार होता है। उक्त स्थल में वेद का व्यापार पुरुष की प्रवृत्ति हटाने में है जो कि सिद्ध नहीं होगा क्योंकि विषदिग्धबाणविद्ध-पशु से मरण के भय से पुरुष की उदासीनता स्वतः सिद्ध है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति विषयुक्त पदार्थ नहीं खा सकता। अरे भाई, अपने प्राणों का मोह तो सभी को होता है। ऐसा होने पर प्रतिषेध व्यर्थ होने लगेगा। अतः कलञ्जपद से लशुनपलाण्ड्वादि अभक्ष्य पदार्थ ही लेने चाहिये। रागतः पुरुष लशुन-पलाण्डु-इत्यादि के भक्षण में ज्यों ही प्रवृत्त हुआ त्यों ही प्रतिषेध आकर रोकते हैं कि अयि मानव, जिस पदार्थ को जिह्वा-तृप्ति का परम साधन समझ कर खाने जा रहा है वह तुझे ऐसे गर्त में ले जायेगा जिससे निकल पाना बहुत ही मुश्किल होगा और तू पुरुषार्थ से कोशों दूर चला जायेगा। इस विषय में ब्र०ली० स्वामिश्रीअखण्डानन्दसरस्वतीजी के तनय श्रीबाबाजी अच्छा दृष्टान्त फरमाते हैं—नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। अन्त में समुद्र में आकर अपनी सत्ता, अपना धर्म सभी कुछ विलीन कर देती हैं। क्या उनका मधुर जल मधुर ही रहता है? नहीं! सभी कुछ बदल जाता है। यदि आप नदियों को समुद्र में आने नहीं देना चाहते हैं तो प्रारम्भ से ही छेड़खानी करें! बाँध बना दें या उनसे नहर इत्यादि निकाल कर सिंचाई करें। उनको समुद्र तक पहुँचने का अवसर न दें। यदि वे समुद्र के पास पहुँच गयीं तो उन्हें पुनः वापस लाना बहुत मुश्किल होगा। इसी तरह द्विज यदि संस्कारों से संस्कृत होकर अपने प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण, उभयप्रकारक धर्म में लगे रहें तो ठीक है; अन्यथा जहाँ भी प्रमाद हुआ तो समुद्रतुल्य चतुर्थवर्ण शूद्र में पहुँच जायेंगे तो वहाँ से पुनः वापस लौटना बहुत ही कठिन होगा। क्या कलकत्ता से गङ्गा को पुनः गोमुख पहुँचाया जा सकता है? कदापि नहीं? उसी तरह सन्ध्यादि कर्मों से रहित लशुनपलाण्ड्वादि-अभक्ष्यभक्षण की निवृत्ति से रहित तथा अन्य निवृत्ति-धर्म से रहित द्विज जब महासागर शूद्र में प्रवृष्ट हो जायेगा तो पुनः उसे द्विजत्व प्राप्त करना बहुत ही कठिन होगा। यदि द्विजत्व खो दिया तो कई जन्मों की तपस्या भी खो दिया। बिगड़ा द्विज यदि शूद्र बन गया तो वह शूद्र-धर्म का भी सम्यक् परिपालन

नहीं करेगा क्योंकि उसे प्रमाद की आदत हो गयी है जिसके फलस्वरूप वह निरन्तर अधोगति को प्राप्त करता हुआ चला जायेगा। इसीलिए प्रवृत्तिधर्म का यदि अनुष्ठान नहीं हो पा रहा है तो कम से कम निवृत्तिधर्म का परिपालन करना जरूरी है। जैसे—असत्यभाषण न करना, सर्व प्राणियों की हिंसा न करना, ब्राह्मणों को सुरा न पीना, हिंसा न करना, अभक्ष्यभक्षण न करना, असत्प्रतिग्रह न लेना, स्वेतरभार्यागमन न करना, अश्लील वार्ता न करना, अधर्म से धनसञ्चय न करना, ब्राह्मणों का अवगूरण (तिरस्कार) न करना आदि आदि जो निवृत्तिधर्म के प्रकार हैं, उनका यथावत् परिपालन करना चाहिये। मैंने पीछे संकेत कर दिया है कि द्विजत्व शास्त्रीय वस्तु है। इसका प्रकरण आने पर विशद विवेचन किया जायेगा। यदि शास्त्रीय पदार्थ का अतिक्रमण किया जायेगा तो उसका फल बहुत ही घातक होगा। जैसा कि 'न ब्राह्मणमवगुरेत्' इस प्रतिषेध को ही लीजिये। इसमें ब्राह्मण के तिरस्कार से वेद हर वर्णों की निवृत्ति कराता है। ब्राह्मण यदि यथावत् अपने धर्म का परिशीलन करता है, विद्वान् है, क्रियासंलग्न है तो निश्चय ही उसका अवगूरण मानव को रसातल में पहुँचा देगा। प्रत्यक्ष मैंने ब्राह्मण को तिरस्कृत करने वालों को बरबाद होते देखा है। लक्षपति ही नहीं, कोटिपति भी बरबाद होते देखे गये हैं। शिव, शिव! धार्मिक चक्रवर्तियों की भी दुर्दशा देखी गयी है। राजा नृग का नाम आप सुने ही होंगे। नित्य असंख्य गो-दान करते थे। एक दिन अनजाने में ही उनसे एक ब्राह्मण का तिरस्कार हो गया। हुआ यह कि किसी ब्राह्मण को दी गयी गो को किसी दूसरे ब्राह्मण को दे दिया। पूर्व ब्राह्मण का तिरस्कार हुआ। मरने के बाद वे यमराज के पास पहुँचे। यमराज ने कहा कि राजन्! पहले आप पुण्य का फल चाहते हैं कि पाप का? नृग ने कहा कि मैं पाप का फल पहले चाहता हूँ। पाप के फल में उन्हें मिला कृकलास (गिरगिट). का जीवन। बहुत काल तक वे कृकलास रहे। बाद में जब असंख्य पुण्यों का उदय हुआ तो भगवान् श्रीकृष्ण के संस्पर्श से दिव्य शरीर प्राप्त करके दिव्य लोक में चले गये। और भी, नन्द का नाम आप सुने ही होंगे। उन्होंने कर्मनिष्ठ ब्राह्मण विष्णुगुप्त 'चाणक्य' का तिरस्कार किया था। बाद में क्या हुआ आप जानते ही हैं। पूरे नन्दवंश का उन्मूलन हो गया। कहते हैं कि चाणक्य ने एक कृत्या पैदा करके नन्द के पूरे वंश का ही उन्मूलन कर दिया। मुद्राराक्षस में

तो ऐसा भी वर्णन है कि नन्दवंश का कोई एक व्यक्ति संन्यास लेकर जङ्गल में चला गया था; उसे भी चाणक्य का कोप भाजन बनना पड़ा था— 'तपोवनगतोऽपि घातितस्तपस्वी……।' इस तरह की बहुत सी घटनायें हैं जिन्हें सहृदय जन जानते ही होंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि ब्राह्मण आचार से अपनी सत्ता कायम किया है तो 'न ब्राह्मणमवगुरेत्' इत्यादि वेदवचनों का अतिक्रमण अवश्य फल देता है। यदि ब्राह्मण आचारभ्रष्ट होकर बह गया है तो उसके विषय में मैं गारण्टी से कुछ नहीं कह सकता। यहाँ तो शास्त्रीय वार्ता हो रही है अतः शास्त्रीय ब्राह्मण का ही महत्त्व कहूँगा। शास्त्रीय ब्राह्मणों के विषय में भगवान् ऋषभदेव जी का भी कथन आकलनीय है—

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत् पश्यामि पुत्राः किमतः परन्तु।
यस्मिन् नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे॥

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मैं ब्राह्मणों की तुलना किसी और प्राणी से नहीं कर सकता और न देखता हूँ। इससे अधिक क्या होगा कि मैं ब्राह्मणों के मुख में श्रद्धा से हुत पदार्थ जिस तरह खाता हूँ वैसा अग्निहोत्र में हुत पदार्थ को भी नहीं खाता। इसी प्रसङ्ग में भगवान् ने कर्मनिष्ठ ब्राह्मण को 'द्विजदेवदेवः' कहा है और शङ्कर, ब्रह्मा, स्वयम् अपने को, फिर ब्राह्मणों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहा है। इसकी बृहद् जानकारी श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध से आप कर सकते हैं। इसलिए ब्राह्मणों का, जिनसे सर्वलोकों का कल्याण होता है, तिरस्कार नहीं करना चाहिये। निम्न श्लोक भी आकलनीय है—

सुखान्ते शुष्किता गावः दुःखान्ते पुत्रपण्डितः।
यशोऽन्ते प्रौढा नारी कुलान्ते ब्राह्मणो रिपुः॥

अर्थात् जब सुख का अन्त काल आने को होता है तो गौवें क्षीण हो जाती हैं, दुःख के अन्तकाल में पुत्र विद्वान् होता है, जब यश का अन्तकाल आता है तो नारी प्रौढ़ा होती है और जब कुल का अन्तकाल होने को होता है तो ब्राह्मण शत्रु हो जाता है। 'कुलान्ते ब्राह्मणो रिपुः' में ब्राह्मणः रिपुः ऐसा एक वचन का प्रयोग है जिसकी पश्वेकत्वाधिकरणन्याय से विवक्षा मानने पर यह अभिप्राय निकलेगा कि यदि एक ब्राह्मण ही रिपु हो जाय तो वह कुल का अन्त करने में पर्याप्त है, यदि बहुत ब्राह्मण शत्रु हो गये तो

कहना ही क्या है। यह है ब्राह्मणों की लोकोत्तरता। इसीलिए 'आर्त्विज्यं ब्राह्मणस्यैव' से याजन में वेद ने ब्राह्मणों का ही अधिकार सुरक्षित किया है। मीमांसको ने देवता का जो लक्षण किया है—'त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वम्' वह अन्य देवताओं में घटित होता हुआ ब्राह्मणों में भी घटित होता है। इसलिए ब्राह्मणों को भूदेव कहा गया है। ब्राह्मणों पर इतना विवेचन मैं इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि अन्य वर्ण उनकी पूजा करें! इसलिए कर रहा हूँ कि ब्राह्मण अपने महत्त्व को समझें और धर्माचरण के द्वारा अपनी स्थिति बरकरार रखें। वे शूद्रकार्य न करें। वे ऐसा कोई भी कार्य न करें जिससे उन्हें महासागर शूद्रवर्ण में जाने का मौका मिले। क्षत्रिय और वैश्य बन्धुओं को भी कहूंगा कि वे यथावत् संस्कार से संस्कृत होकर स्वाध्याय से प्रमाद न करें। यदि वे द्विज स्वाध्याय से ही प्रमाद करने लगेंगे तो व्रात्य हो जायेंगे। 'अनधीयाना व्रात्या भवन्ति'—अध्ययन न करने से व्रात्य होते हैं, यह शास्त्रीय वचन भी है। यदि त्रैवर्णिक व्रात्य हो जायेंगे तो निश्चय ही वेदोदित कर्मों से भी अपना अधिकार खो देंगे!! आप त्रैवर्णिक के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को संगृहीत करके वेद और वेदोदित कर्मों में अधिकार की बात कर रहे हैं जिनमें ब्राह्मणों के महत्त्व का ख्यापन अतिशय रूप में भी कर रहे हैं; यह मुझे अनुचित सा प्रतीत हो रहा है। क्या यह जातीय सङ्कीर्णता नहीं है? और क्या अतिरिक्त अन्य मानवों के प्रति अन्याय नहीं है? मेरे विचार में मानव मानव हैं। उनमें भेदभाव नहीं होना चाहिये। भेदभाव मानने से सामाजिक कटुता पैदा होगी। हमारे विचार से कर्म से वर्ण-व्यवस्था है। जो जैसा कर्म करता है वह उस वर्ण का हो जाता है। ऊपर उठने के लिए सभी को मौका मिलना चाहिये। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुसार अपने कर्म को कर सकता है! 'अनभिप्रायज्ञो देवानां प्रियः'। महोदय, आपका यह असंबद्ध प्रलाप जगद्-वैचित्र्य का ही उच्छेदन कर रहा है। यहाँ शास्त्रीय वार्ता हो रही है और बीच में ही आप अपना विचार प्रस्तुत कर दे रहे हैं। मैं कहता हूँ, कि क्या महत्त्व है आप के स्वतन्त्र विचारों का। आपके विचारों की परिपुष्टि में क्या प्रमाण है? दुनिया के किसी भी प्राणी का विचार तब तक पागलों के असम्बद्ध प्रलाप जैसा है जब तक वह प्रमाण-प्रतिपन्न न हो। इस बात को आप अच्छी तरह समझ लीजिये कि ऋषियों के भी स्वतन्त्र विचारों का कोई महत्त्व नहीं। जी हाँ;

वादरायण, जैमिनि, गौतम, प्रभृति ऋषियों के भी स्वतन्त्र विचारों का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए सर्वदा समाचरणीयचरित हमारे ऋषि, आचार्य स्वतन्त्र विचार करते ही नहीं। उनके विचारों का कोई विषय होता है। हाँ, हाँ, वेदवाक्य ही उनके विचारों के विषय होते हैं जिनमें सन्देह होने पर न्यायानुसार उनके विचारों की प्रवृत्ति होती है। मतभेद भी किसी-न-किसी कारण को लेकर हुआ करते हैं जिनमें श्रौत वचनों की ही प्रधानता होती है। अनुमानादि प्रमाण भी श्रौत पदार्थों की दृढ़ता के लिए होते हैं। बुद्धिमान् भी वही कहा जाता है जो वेदानुकूल ही तर्क प्रस्तुत करता है। वेद से प्रतिकूल जाने वाले शिष्ट-समाज में निन्दा के पात्र होते हैं। इसी बात को लेकर किरातार्जुनीय महाकाव्य में महाकवि भारवि ने युधिष्ठिर के मुख से भीम के वचनों की प्रशंसा करायी है—

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः। (किरा० २/२८)

अर्थात् आपने अपने पक्ष में अच्छी युक्ति कही और अपने अनुमान से शास्त्र का भी हनन नहीं किया। यदि भीम अपने अनुमान या तर्कों से शास्त्र का हनन करते तो उनका वचन ही शास्त्र से विरोध होने पर अप्रमाणित हो जाता। इसलिए शिष्ट समाज में शास्त्र-प्रतिकूल वार्ताओं की अवहेलना होती है। शास्त्रीय पक्ष को लेकर यदि मतभेद हो रहा हो तो वह क्षम्य है क्योंकि अभिप्रायविशेष से उसकी गति की परिकल्पना की जा सकती है। अतः शास्त्रसम्मत न होने से स्वतन्त्र विचार उन्मत्तों के प्रलाप की तरह ही हैं। अभिप्राय विशेष से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) में महर्षि जैमिनि और वादरायण के मतभेद के एक स्थल का दिग्दर्शन करा दे रहा हूँ—''वेदविहित कर्मों से अथवा तदकरणजन्य प्रत्यवाय से शुभाशुभरूप जिन फलों की प्राप्ति होती है उन फलों का दाता कौन है?'' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर में महर्षि जैमिनि और वादारायण का मतभेद हो जाता है। इस विषय में महर्षि जैमिनि 'धर्म-अधर्म ही तत्तत् शुभाशुभ फलों के दाता हैं;' ऐसा स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि— धर्माधर्म को ही फलदातृत्वेन स्वीकार करने से श्रुति की उपपत्ति होती है। अन्यथा श्रुत्यर्थ अनुपपन्न होने लगेगा। यह अर्थ 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में देखा जाता है। यहाँ पर विधिश्रुति से विषय का ज्ञान होने पर 'याग स्वर्ग का साधन है', इस अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसा न मानने से

याग बिना अनुष्ठाता वाला हो जायेगा जिससे उपदेश भी निरर्थक होने लगेगा। अतः 'याग स्वर्ग का उत्पादक है', ऐसा मानना ही पड़ेगा। यदि कहोगे कि अनुक्षण विनाशी यागादि कर्मों से फल उत्पन्न ही नहीं होता तो सुनो! श्रुतिप्रामाण्य से हम साध्यसाधनभाव का उपपादन कर लेंगे। 'जैसे कर्मफल का सम्बन्ध हो वैसी कल्पना करनी चाहिये' इस अर्थ में श्रुति ही प्रमाण है। कोई भी लौकिकप्रमाणागम्य कर्म विनष्ट होता हुआ दूसरे काल में फल देने में बिना किसी अपूर्व को उत्पन्न किए समर्थ नहीं हो सकता। अतः कर्म की कोई सूक्ष्मा उत्तरावस्था अथवा फल की कोई पूर्वावस्था 'अपूर्व' नाम की है जिसमें फलोपजनन का सामर्थ्य है। अतः धर्माधर्म ही फल देते हैं न कि ईश्वर। यदि ईश्वर को फलदातृत्वेन स्वीकार किया जायेगा तो नाना प्रकार के विचित्र कार्य (फल) अविचित्र कारण के होने पर अनुपपन्न होने लगेंगे। क्योंकि कार्य यदि विचित्र है तो कारण को भी वैसा मानना पड़ेगा। और भी, ईश्वर किसी से शुभकार्य करा कर अच्छा फल देता है और किसी से अशुभ कर्म करा कर बुरा फल देता है, इस प्रकार की विषमता आयेगी और उसमें निर्दयत्व की भी प्रसक्ति होने लगेगी तथा कर्मों के अनुष्ठान भी व्यर्थ होने लगेंगे। इसलिए फल के वैचित्र्य होने से विचित्र कारण धर्माधर्म को ही फलदातृत्वेन स्वीकार करना चाहिये। इससे ईश्वरपक्षीय दोषों का भी समाधान हो जायेगा।

वेदान्तमत से फलदातृत्वेन ईश्वर को ही स्वीकार किया गया है। वादरायण ने स्पष्ट कहा है—'पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात्' (ब्र०सू० ३/२/४१) अर्थात् वादरायणाचार्य पूर्वोक्त ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं। केवल कर्म से या केवल अपूर्व से फल होता है; यह पक्ष 'तु' शब्द से व्यावर्तित होता है। ऐसा क्यों? इस पर कहते हैं—'हेतुव्यपदेशात्'। क्योंकि धर्म-अधर्म को मनुष्य से कराने वाला तथा फल देने वाला कोई कारण ईश्वर के रूप में वेद में निर्दिष्ट है। अतः उस कारणरूप ईश्वर को ही फलदातृत्व के रूप में स्वीकार किया जायेगा। हेतुत्वेन ईश्वर का व्यवहार इस वाक्य से हुआ है—

"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।" अर्थात् ईश्वर ही जिनसे पुण्य कर्म कराता है उनका यमलोकों से उद्धार करता है और जिनसे अपुण्य

(पाप) कर्म कराता है उन्हें अधोलोक में ले जाता है। भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी अर्थ का स्मरण किया है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥

अर्थात् जो जो भक्त जिस जिस ईश्वरीय शरीर का श्रद्धा से अर्चन करना चाहता है उसकी मैं उसी में अचल श्रद्धा उत्पन्न कर देता हूँ। वह उस अचल श्रद्धा से युक्त होकर उस इष्ट की आराधना करना चाहता है और पश्चात् मेरे द्वारा ही निर्दिष्ट हितकर स्वर्गादि कामों को प्राप्त करता है। इसप्रकार श्रौत, स्मार्त हेतुव्यपदेश से वेदान्त में ईश्वरहेतुक सृष्टि ही प्रतिपादित है। स्वकर्मानुसार प्रजाओं की सृष्टि एवम् फलप्रदातृत्व ईश्वर से ही सम्पाद्य हैं। ईश्वर के फलदान की पुष्टि में श्रीवाचस्पतिमिश्र ने भामती में विस्तार से सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि दृष्ट के अनुसार कल्पना होनी चाहिये अन्यथा नहीं। 'दृष्टानुसारिणी हि कल्पना युक्ता नान्यथा' लोक में जैसा दर्शन होता है वैसी ही कल्पना होनी चाहिये। लोक में बिना कुम्भकारादि की सहायता से मृत्पिण्डादि घटादिकार्यकलापों को बनाने में समर्थ नहीं हुआ करते। उसी तरह केवल अचेतन कर्म अथवा तज्जन्य अपूर्व बिना चेतन के अधिष्ठान से स्वतन्त्ररूप से स्वर्गादि कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकते। अत एव बाधक न होने पर देवता के श्रुतिस्मृति इतिहास पुराणों में प्रसिद्ध चैतन्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। लौकिक ईश्वर (स्वामी) जिस तरह दान-परिचर्या-प्रणामाञ्जलि-स्तुतिस्वरूप भक्ति से आराधित होकर प्रसन्न हुआ स्वानुरूप आराधक को फल देता है तथा विरोधरूप से अपकर्मों से विरोधक का अहित करता है उसी तरह देवपूजास्वरूप याग देवता को प्रसन्न करके ही फल उत्पन्न करता है। इसके विपरीत बिना देवता के प्रसाद के याग का फलप्रदातृत्व दृष्ट विरुद्ध होगा। अत एव शुभकर्म से देवता प्रसन्न होता है जिससे वह अच्छा फल देता है और अशुभ कर्म से देवता का विरोध होता है जिससे कि वह बुरा फल देता है। ये दोनों बातें श्रुतिस्मृति-प्रसिद्ध हैं। इससे यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता कि देवता द्वेष और पक्षपात से युक्त है

क्योंकि वह शुभाशुभ कर्म करने वालों को तदनुरूप ही फल प्रदान करता है। लोक में भी राजा अच्छे कर्म करने वालों पर कृपा करता हुआ तथा पाप कर्म करने वालों पर विग्रह करता हुआ रागद्वेष से असंपृक्त रहता है उसी प्रकार अलौकिक ईश्वर भी द्वेष-पक्षपात वाला नहीं हुआ करता। जिस प्रकार प्रधानयागजन्य परमापूर्व में उत्पत्त्यपूर्व और अङ्गापूर्वों का उपयोग होता है उसी प्रकार प्रधान ईश्वर के आराधन में अङ्गाराधन का उपयोग होता है। उसी तरह, जिस तरह राजा के आराधन में मन्त्रिपुरोहितादि के आराधन का उपयोग होता है। जिस तरह प्रधान का आराधन आवश्यक है उसी तरह तदङ्गभूत सेवकों का आराधन भी अत्यावश्यक है। यह वस्तु आज भी देखा जाता है। यदि आप किसी सेठ को प्रसन्न करना चाहते हैं तो पहले उसके घरेलू नौकरों को प्रसन्न करें। यदि नौकरों को मिलाने में आप सफल हो जाते हैं तो निश्चय ही सेठ तक पहुँच सकते हैं और उसे भी अपने अनुकूल कर सकते हैं। यदि सेठ से आप का अच्छा सम्बन्ध है तो भी नौकर के नाखुश होने से सारी बातें बिगड़ सकती हैं। एक अच्छी कथा याद आ गयी। सुनाये देता हूँ। एक करोड़पति सेठ थे जिनकी बहुत बड़ी फैक्ट्री थी। सेठ ने उसमें अपने किसी खास मित्र को मैनेजर नियुक्त किया था। सेठजी दरियादिल इन्सान थे, इसलिए उन्होंने मैनेजर को वेतन के अतिरिक्त भी बहुत कुछ दे रखा था। मैनेजर का अक्सर सेठजी के घर आना जाना हुआ करता था। एक बार मैनेजर ने अपने घर ब्रह्मभोज रखा था जिसमें आचारवान् ब्राह्मण बुलाये गये थे। सेठजी का नौकर, जो जाति का शूद्र था, आया था ही, ब्राह्मणों की पंक्ति में जा बैठा। नौकर की हरकत से मैनेजर साहब आग बबूला हो उठे। नौकर को हज़ार गालियाँ सुनाते हुए उसे पंक्ति से खींच लिया और पन्द्रह बीस चपेटा उसके गालों पर रख दिये। अन्त में अर्धचन्द्रदान से उसे घर के बाहर खदेड़ दिये। बेचारे नौकर ने अपार वेदना-सागर का ज्वार अपने हृदय में सहा। करता भी क्या? तो भी कुछ करने के लिए उसने संकल्प ले ही लिया। एक रात वह सेठ जी का पैर दबा रहा था तभी कुछ बुदबुदाया—'उस मैनेजर की इतनी हिम्मत कि वह बाबूजी के न रहने पर अम्माजी का आलिङ्गन करे।' सुनते ही सेठजी के कान खड़े हो गये। उन्होंने नौकर से पूछा—'महेश! क्या कहता है तू?' 'कुछ नहीं बाबूजी! दिनभर काम करने से थक गया था। आँख

लग गयी थी। कुछ मुख से निकल गया हो तो माफ कर दीजियेगा' नौकर ने कहा। 'जाओ सो जाओ।' सेठजी ने गहरी सांस ली। नौकर चला गया। सेठजी को रातभर निद्रा नहीं आयी। रात्रौ निद्रां न लब्धवान्। उनका माथा ठनका। जरूर मैनेजर कुछ गड़बड़ किया होगा अन्यथा नौकर के मुख से ऐसी बातें क्यों निकलतीं? माना कि उसने सारी बातें निद्रा में कहीं तो भी कोई न कोई कारण होगा ही। बस, सेठजी ने मैनेजर को बर्खास्त कर दिया। अन्य दी हुई सारी सुविधाओं से भी उसे अलग कर दिया। मैनेजर को बात समझ में न आयी कि सेठजी क्यों उसके ऊपर खफा हो गये हैं? एक दिन उसने उसी नौकर को जिसका वे अर्धचन्द्रदान से स्वागत किये थे, अपने साथियों के साथ जश्न मनाते देखा। बस, वे समझ गये कि नौकर की ही सारी गड़बड़ी है। मैनेजर बुद्धिमान् था ही, कुछ युक्ति उसके समझ में आयी। एक दिन वह खुद नौकर के घर गया और उसे भोज पर अपने घर आमन्त्रित किया। नौकर जब भोज पर आया तो उसकी विशेष खातिर की गयी। तरह-तरह के पकवान तो खिलाये ही गये जाते-जाते रेशमी वस्त्र, एक सौ एक रुपये दक्षिणा भी दी गयी। मैनेजर ने हाथ जोड़ कर नौकर से कहा—"क्षमा कीजियेगा। उस दिन आप की बेइज्जती करना मेरा उद्देश्य नहीं था। आप को कष्ट देकर मैंने ब्राह्मणों का सम्मान किया। यदि वैसा नहीं करता तो सारे-के-सारे ब्राह्मण रुष्ट हो जाते।" "आप मुझे और शर्मिन्दा न करें!" नौकर ने कहा—"बस आगे मेरा करिश्मा देंखें।" उस रात नौकर सेठजी का पुनः पैर दबाने लगा और उसी बीच कहा—"बाबूजी आप भी कमाल के आदमी हैं। दूसरे को तो खूब उपदेश देते हैं लेकिन खुद शौचालय में शौच करते हुए ककड़ी खाते हैं।" नौकर की बात सुनते ही सेठजी उठकर बैठ गये और उसे एक चपेटा लगाकर बोले—"महेश, क्या बकता है तू?"

"क्षमा कीजियेगा बाबूजी, दिन में काम करने से थक गया था। इसीलिए आँख लग गयी। कुछ मुँह से निकल गया होगा।" नौकर ने हाथ जोड़कर कहा। "अच्छा तुम जाओ!" सेठजी ने राहत की सांस ली। पुनः रात उन्हें निद्रा नहीं आयी। सोचने लगे कि कभी मैंने शौच करते हुए ककड़ी नहीं खायी तो भी नौकर ऐसा कहा। हो-न-हो मैनेजर की बात भी अनर्गल ही कह दिया हो। मैनेजर तो बड़ा ही साधु आदमी है। उसे मैंने

बर्खास्त करके अच्छा नहीं किया!! दूसरे दिन सेठजी ने मैनेजर से क्षमा-याचना करके पुनः उसे तदवस्थ कर दिया। इसलिए प्रधानदेवता के आराधन के लिए अङ्गदेवता का आराधन भी अत्यावश्यक है। यही है दृष्टानुसारिणी परिकल्पना। अत एव कर्मों का स्वतन्त्र रूप से फलदातृत्व न मानकर ईश्वराधिष्ठितरूप से ही स्वीकार करना चाहिये। इस पक्ष को स्वीकार करने में वादरायण का कुछ अभिप्राय है। वे सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन जन्म-स्थिति-प्रलय के कारण के रूप में करना चाहते हैं। ऐसा उन्होंने 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र०सू० १/१/२) से स्पष्ट उल्लेख किया है। इस विषय में मीमांसकों का पक्ष भी अपनी जगह सही है। मीमांसकों का मुख्य उद्देश्य यथावत् कर्म में प्रवृत्ति कराना है। इसके लिए उनका कहना है कि जैसा शास्त्र का निर्देश है वैसा यदि यथावत् कर्म किया जाय तो वह कर्म ही स्वयं फल दे देता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मीमांसकों को ईश्वर के निराकरण के लिए मजबूर होना पड़ता है क्योंकि ईश्वर को मानकर चलने से कर्म से प्रमाद भी हो सकता है!! विषम उपन्यासः। ईश्वर को स्वीकार कर तदीय आदेश के रूप में कर्मों में और प्रवृत्ति होगी न कि प्रमाद। मैं यह कब कह रहा हूँ कि प्रमाद होगा ही। मेरा यही कथन है कि ईश्वर को मानकर चलने में कदाचित् कर्मों से प्रमाद भी हो सकता है। यह कैसे? श्रूयताम्! यदि ईश्वर को कर्मों का अधिष्ठाता न मानकर कर्म की ही गति स्वीकार करते हैं तो प्रेक्षावान् (प्राणी) कर्मों के यथावत् अनुष्ठान में दत्तावधान होगा। एक भी अङ्ग की अवहेलना नहीं करेगा क्योंकि वह समझता है कि यदि कहीं से प्रमाद हो गया तो वह फल का भागी नहीं होगा। यदि ईश्वर को कर्मों का अधिष्ठाता मानकर चलेंगे तो प्रेक्षावान् सोच सकता है कि संक्षेप में ही कर्म की परिसमाप्ति क्यों न कर ली जाय। तहे दिल से ईश्वर से क्षमायाचना कर लूँगा। प्रभु तो करुणा के सागर हैं। अजामिल, गणिका जैसे पापियों का भी उद्धार वे नाम लेने मात्र से कर देते हैं। वे पक्षपात से रहित हैं। भक्तिप्रिय हैं। प्रेम से पत्रपुष्प भी दिया जाय तो सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। उन्होंने कहा भी है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (गीता)

भावना के भूखे प्रभु हुआ करते हैं। आर्द्र भावना से क्षमा-याचना करके संक्षेप से ही पत्र-पुष्प समर्पित कर दे रहा हूँ। गरीब को प्रभु का प्रसाद मिलेगा ही। इस प्रकार विचार करके कर्म से प्रमाद मनुष्य कर सकता है। इस बात की आत्यन्तिक सिद्धि के लए मैं भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को ही प्रस्तुत कर दे रहा हूँ—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

(गीता, १२/८, ९, १०, ११)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हे धनञ्जय! तुम अपना मन और बुद्धि मुझमें ही लगा दो! पश्चात् तुम मुझमें निवास करने लगोगे। यदि तुम अपना अन्तःकरण मुझमें नहीं लगा सकते तो अभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करना चाहो! यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करो क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से भी तुम सिद्धि (मत्प्राप्तिरूपा) प्राप्त कर सकते हो। यदि मेरे लिए कर्म करने में भी तुम अपने को असमर्थ मानते हो तो सारे कर्मों के फलों को त्यागो!"

यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण श्रेय के साधन का विधान करते हुए, अर्जुन के कार्य करने की अशक्ति को दर्शाते हुए अन्य-अन्य सरल उपायों को बतलाते गये हैं। यह यथाशक्तिन्याय अन्तःकरणनिष्ठ-अनुत्साहनिमित्तक ही है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो भगवान् पूर्व साधन का विधान ही न करते। वेद हों या आप्त जन वे पुरुष के कृतिसाध्यत्व का विचार करके ही साधन का विधान करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण भी 'अर्जुन कर सकता है'; ऐसा समझकर ही ईश्वर में चित्तसमाधानरूप पूर्व साधन का विधान किये। पश्चात् प्रमादजन्य असामर्थ्य की आशङ्का करके साधनान्तर का विधान करते चले गये। अभिप्राय यही है कि ईश्वर की पृथक् सत्ता स्वीकार करने से

कर्मों के प्रति प्रमाद भी सम्भव है। एक लौकिक दृष्टान्त से यह बात और दृढ़ हो जायेगी—माना कि एक कोई धनिक स्वामी है जिसका एक चापलूस सेवक है जो नाना प्रकार के चुटकुलों से अपने स्वामी को खुश रखता है। स्वामी भी अपने सेवक के कर्मनिष्ठप्रमाद पर ध्यान न देता हुआ अनुग्रह करता है। उस स्वामी की किसी वस्तु के निर्माण की इच्छा हुई जिसके लिए उसने पन्द्रह आदमी नियुक्त किये। उन आदमियों को हिदायत दी गयी कि इतना काम करना है तभी तीस रुपये प्रतिदिन मिलेंगे अन्यथा नहीं। उस काम को अपने मालिक से सिपारिश करके उसका सेवक भी स्वीकार कर लिया। मालिक भी सोचा कि इसे कुछ आमदनी हो जायेगी, रख लेते हैं। अब अन्य पन्द्रह आदमी समझते हैं कि अपना काम पूरा कर लेने पर ही पैसे मिलेंगे, इसलिए वे निष्ठा से यथावत् अपना कार्य करते हैं। सेवक ऐसा नहीं समझता। वह सोचता है कि स्वामी मेरे ऊपर मेहरबान हैं ही, कौन करने जाता है काम! पैसे मिल ही जायेंगे। इसलिए वह इधर-उधर घूमता है और स्वामी की चापलूसी करता है अन्त में कर्मचारियों के ऊपर रुआब जमाकर अपना वेतन सबसे पहले ही ले लेता है। वाह! स्वामी के कारण ही वह अपने कर्म से प्रमाद भी किया और वेतन भी लिया। इसीलिए कहता हूँ कि ईश्वर की सत्ता मानने पर कदाचित् कर्मों से प्रमाद भी हो सकता है। किसी शायर ने भी अच्छा फरमाया है—

रात को मय खूब सी पी सुबह को तौबा कर ली।
रिन्द के रिन्द रहे हाथ से जन्नत न गयी॥

इन सभी बातों का विचार करके मीमांसकों ने ईश्वर का प्रत्याख्यान करके धर्माधर्म को फलदातृत्वरूप से स्वीकार किया॥ ठीक है। ईश्वर की सत्ता मानने पर कर्मों से प्रमाद की सम्भावना होती है, अतः उसका प्रत्याख्यान (निराकरण) किया गया। फिर भी कर्म का फलदातृत्व न मानकर देवता का फलदातृत्व मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? श्रुतिस्मृति इतिहास पुराणों में ऐसा सुना भी जाता है। जैसा कि श्रौत वचन है—'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति।' अर्थात् यज्ञ से तृप्त हुआ इन्द्र यजमान को प्रजा और पशुओं से तृप्त कर देता है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा ही कुछ कहा है—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तै र्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

अर्थात् यज्ञ से प्रसन्न होकर देवता तुम लोगों को अभीष्ट भोग-सामग्री प्रदान करेंगे; अतः देवताओं के द्वारा प्रदत्त वस्तुओं का उपभोग जो यागादि—ब्राह्मणतर्पणादि के द्वारा देवताओं को बिना दिये करता है वह तस्कर है जिसे भगवान् की अदालत में तस्कर का ही दण्ड मिलेगा। इसीलिए तो भगवान् अन्योन्यभावन से श्रेय प्राप्त करने का उपदेश करते हैं—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता)

अर्थात् इस यज्ञविधि से आप देवताओं को प्रसन्न करें और प्रसन्न हुए देवता आप को सन्तुष्ट करें। इस प्रकार परस्परोद्‌भावन से परम कल्याण प्राप्त करते रहें। महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में अच्छी कल्पना की है—महाराज दिलीप का व्यवहार भूमण्डल के राजाओं से नहीं था जैसा कि आजकल एक देश का दूसरे देश से सम्पद् के आदान-प्रदान से व्यवहार हुआ करते हैं? किं तर्हि। उनका व्यवहार सीधे इन्द्र से था। इसीलिए महाराज दिलीप पृथ्वी का दोहन करते थे (कर लेकर) जिससे यज्ञ कर सकें और इन्द्र भी स्वर्ग का दोहन करते थे जिससे भूमण्डल पर वर्षा के द्वारा अन्न हो सके। इस प्रकार महाराज दिलीप और देवराज इन्द्र सम्पत्ति के विनिमय से दोनों लोकों का पोषण करते थे। जैसा कि यह श्लोक है—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतु र्भुवनद्वयम्॥

(रघुवंश, १)

अतः कर्म का फलदातृत्व न मानकर देवता का फलदातृत्व स्वीकार करने पर क्या विप्रतिपत्ति है? श्रूयताम्! आप के प्रश्नों का उत्तर भगवान् जैमिनि यज्ञकर्म की प्रधानता तथा देवताओं के गौणत्व का प्रतिपादन करके देते हैं—'यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वेन देवताश्रुतेः' (मीमांसा, ९) अर्थात् किसी भी कर्म के विधायक वाक्य में देवता का श्रवण गौण रूप से ही हुआ है; अतः कर्म की ही प्रधानता होगी। जैसे सौर्ययाग के 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' इस विधायक वाक्य में 'सूर्यो देवता अस्य' इस व्युत्पत्ति से देवता का चरु में गुणत्व और चरु का भी यागोपकारक होने पर

याग में गुणत्व है; अतः याग (कर्म) को ही प्रधान मानना युक्तिसंगत होगा। 'साऽस्य देवता' सूत्र से भगवान् पाणिनि भी इसी अर्थ का स्मरण करते हैं। देवता के हवि में गुणभाव का कथन भगवान् जैमिनि ने अष्टमाध्याय के प्रथम पाद में विशेषातिदेश के निरूपणप्रसङ्ग में किया है— 'गुणत्वेन देवताश्रुतिः' (मीमांसा, ८/१/३४) अर्थात् हवि बलवान् है कि देवता? इस प्रश्न में हविःसामान्य की बलवत्ता मानी जायेगी क्योंकि देवता विशेषणत्वेन श्रुत है और हवि विशेष्यरूप से। जैसा कि स्पष्ट शबर स्वामी ने कहा है—

''विशेषणत्वेन देवता श्रूयते हवि र्विशेष्यत्वेन। विशेष्यञ्च बुद्धौ सन्निहितं भवति न विशेषणम्। तद्विशेषणञ्च निवर्तते। कथं ज्ञायते? विशेष्यानुबन्धसंयोगात्। यथा राजपुरुषः पूज्य इत्युक्ते पुरुषः पूज्यो गम्यते न राजा। एवमिहापि। ऐन्द्रं पय इत्युक्ते हवि र्बुद्धौ सन्निधीयते न देवता।'' (शाबरभाष्यम्)

अर्थात् विशेष्य ही बुद्धि में सन्निहित होता हुआ कार्यातापन्न होता है जिसमें विशेषण की निवृत्ति हो जाती है। जैसे 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) में समास करेंगे तो राजपुरुष बनेगा। 'राजपुरुषः पूज्यः' कहने पर विशेष्यभूत राजा का पुरुष ही पूज्यरूप से लिया जायेगा न कि राजा। उसी तरह यहाँ भी हवि का ग्रहण होने पर देवता की निवृत्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि मीमांसाशास्त्र के अनुसार कर्म को प्रधान मान कर उसे ही फलप्रदातृत्व के रूप में स्वीकार किया जायेगा न कि ईश्वर और देवता को। इस प्रकार जैमिनि और वादरायण दोनों का एक अर्थ में मतभेद का दिग्दर्शन मैंने करा दिया जो कि अभिप्राय विशेष को लेकर श्रौत प्रमाण से ही परिपुष्ट किया गया है। यहाँ पर आगे की आधिकारिक-प्रक्रिया को समझने के लिए दो मतों का ज्ञान कराया और यह भी सिद्ध किया कि अप्रमाणिक निर्मूल विचारों का कोई महत्त्व नहीं है। निर्मूल विचार उन्मत्त (पागल) के प्रलाप जैसे ही हैं। इसलिए हमारे ऋषि, शास्त्रकार, मनीषी वेदादिशास्त्रमूलक ही विचार करते हैं। आप ने ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों के ऊपर जो आक्षेप किया तथा सारे वर्णों के समानाधिकार की बात कही उन सबका मैं समाधान किये देता हूँ। यद्यपि आप का पक्ष निर्मूल रहा है तथापि सामान्य पुरुषों के लिए समाधेय है; अतः समाधान आप अवश्य सुनें! कोई

भी मानव स्वेच्छा से धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान नहीं कर सकता। क्योंकि धार्मिक क्रिया के अनुष्ठान के लिए धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। लोक में भी किसी व्यापार को अच्छी तरह से विचारने पर ही उसमें मनुष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अच्छी तरह समझ बूझ कर ही व्यापार करने से सेठों को सफलता मिलती है, अन्यथा नहीं। इसी तरह बिना धर्म को समझे धर्मानुष्ठान हो नहीं सकता; फिर आप कैसे आक्षेप कर रहे हैं कि कोई व्यक्ति स्वेच्छानुसार कर्म कर सकता है? धर्म को समझने के लिए वेद का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा क्योंकि धर्म वेद से ही ज्ञात होता है, ऐसा मैं पीछे कह चुका हूँ। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसा, १/१/२) सूत्र से भगवान् जैमिनि भी धर्म के वेदैकमात्रगम्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। जब वेद के द्वारा यथाविधि आप धर्म को समझने का प्रयास करेंगे तो उसकी प्रक्रिया को भी समझ लेंगे। फिर उस प्रक्रिया में अधिकार की भी बात आयेगी। उसके बाद स्वेच्छाचारिता का ज्वर आप के मस्तक से उतर जायेगा। भर्तृहरि ने कहा भी है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

(नीतिशतक)

अर्थात् जब मैं थोड़ा ही जानता था तो गैडे की तरह मतवाला हो गया था तथा 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा मेरा मन गर्व से लिप्त हो गया था। किन्तु जब विद्वानों के सम्पर्क से थोड़ा-थोड़ा तत्त्व समझने लगा तब 'मैं मूर्ख हूँ' इस प्रकार से मेरा मद बुखार की तरह उतर गया। जैसा कर्म करेगा उस वर्ण का हो जायेगा; यह बात भी आप की जाती रही, क्योंकि कर्म करने से वर्ण का विभाजन नहीं है; किन्तर्हि? वर्ण के पहले से सिद्ध होने पर तत्तद्वर्णानुकूल कर्मों का विभाजन है। कर्म करने से वर्ण का विभाजन-पक्ष आप स्वीकार करेंगे तो अन्योन्याश्रयता की प्रसक्ति हो जायेगी। जो कि अनुचित है। 'अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रथन्ते' यह वचन भी है। एक दूसरे से आश्रित रहने को ही अन्योन्याश्रय कहते हैं। जैसे ब्राह्मणादिकों का पहले आचार फिर आचार से ब्राह्मणादिकों का भाव। अर्थात् पहले आप

को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों के अलग-अलग आचारों (कर्मों) का विभाग करना पड़ेगा फिर तत्तत् कर्मों के करने से तत्तद् वर्णों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इसके अलावा कोई उपाय नहीं होगा। वैसा स्वीकार करने पर कर्मों के विभाग में ही ब्राह्मणादि वर्णों की जरूरत आप को पड़ेगी तो फिर आप वर्णों की सिद्धि कैसे करेंगे? इसी बात की सिद्धि श्रीकुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक में करते हैं—"**न चाचारनिमित्तवर्णविभागे प्रमाणं किञ्चित्। सिद्धानां हि ब्राह्मणादीनामाचारा विधीयन्ते। तत्रेतरेतराश्रयता भवेत्। ब्राह्मणादीनामाचार स्तद्वशेन ब्राह्मणादय इति॥**" इन सभी बातों से यही सिद्ध होगा कि पहले से ही सिद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे, फिर उनके लिए आचारों का विधान हुआ कि ब्राह्मण कैसा आचार करे, क्षत्रिय कैसा आचार करे, वैश्य कैसा आचार करे और शूद्र कैसा आचार करे? ब्राह्मणत्वादि को उद्देश करके ही वेदों में कर्मों का विधान है। जैसे—'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्' अर्थात् वसन्त ऋतु में ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिये, ग्रीष्म में क्षत्रिय का तथा शरद् में वैश्य का। इसी तरह अग्न्याधान की भी विधि है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः।' मात्र अग्न्याधान के लिए रथकारनामक शूद्र की भी विधि है—'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' अर्थात् वर्षा ऋतु में रथकारनामक शूद्र अग्न्याधान करे। और भी। जैसे—'आर्त्विज्यं ब्राह्मणस्यैव', 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत', 'वैश्यः वैश्यस्तोमेन यजेत' इत्यादि विधियों में भी ब्राह्मण का उद्देश्य करके ही आर्त्विज्य का (याजन) क्षत्रिय के लिए राजसूय याग का तथा वैश्य के लिए ही वैश्यस्तोमनामक याग का विधान है। शास्त्रकारों ने यह निश्चय किया है कि विधेयता अप्राप्त अंश में तथा उद्देश्यता अर्थात् अनुवाद्यता प्राप्त अंश में ही रहती है। इसमें एक अदग्धदहनन्याय चलता है। जैसे अग्नि उसी अंश को जलाता है जो जला न हो। जले हुए भस्म में अग्नि का व्यापार नहीं हुआ करता। उसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, लोक या वचनान्तर से अप्राप्त अंश में ही विधि की विधेयता रहती है। 'अप्राप्तार्थविधायकत्वं विधित्वम्' यह विधि का लक्षण ही किया गया है। उद्देश्यता प्राप्त अंश में ही रहेगी अर्थात् प्रत्यक्षादिलोक-सिद्ध प्रमाणों से जो वस्तु ज्ञात होता है वही उद्देश्य हुआ करता है। पूर्व उदाहृत वाक्यों में

उपनयन, अग्न्याधान तथा ब्राह्मणादि वर्णों के लिए दोनों (उपनयन, अग्न्याधान) का काल अन्य लौकिक उपायों से अज्ञात है। मात्र उक्त वेद-वचनों से ही ज्ञात होता है। अतः उनमें विधेयता है। 'ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि में 'ब्राह्मणम्' की द्वितीया विभक्ति ब्राह्मण के साध्यत्व का बोधन करा रही है क्योंकि कर्म में ही द्वितीया विभक्ति होती है और कर्म को ही साध्य कहा गया है। 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से भगवान् पाणिनि कर्म में ही द्वितीया का स्मरण करते हैं। जो साध्य होगा वही उद्देश्य होगा, अनुवाद्य होगा और पूर्व-प्राप्त भी होगा। अतः प्राप्ति स्वीकार करके ही ब्राह्मणत्वादि साध्य में अनुवाद्यता है!! विषम उपन्यासः। यदि आप ब्राह्मणत्वादि को साध्य मान रहे हैं तो उनकी साध्यता भी किसी-न-किसी क्रिया से ही मानेंगे क्योंकि कोई साध्य बिना क्रिया के नहीं हुआ करता। जैसे परशु के उद्यमन-निपातन क्रिया से छेदन साध्य है, चक्र में भ्रमि क्रिया से घट साध्य है उसी तरह ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्वादि को भी किसी क्रिया से साध्य मानिये! वह कौन सी क्रिया है जिससे ब्राह्मत्वादि की निष्पत्ति होगी? तो सुनिये! उपनयनादि क्रियाओं को ही स्वीकार कीजिये। वे क्रियायें संस्कार के रूप में जानी जाती हैं। इसीलिए अभियुक्तों ने कहा है—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। अर्थात् जन्म से तो सभी शूद्र ही उत्पन्न होते हैं, पश्चात् संस्कार होने से द्विज कहे जाते हैं। इस प्रकार यही निश्चित हो रहा है कि ब्राह्मणत्वादि वर्णों का प्रविभाग कर्म से ही हुआ है। नेति ब्रूमः। ऐसा हरग़िज नहीं होगा। यदि कर्म से आप ब्राह्मणत्वादि की व्यवस्था मानेंगे तो कर्मों का प्रविभाग नहीं हो पायेगा। शास्त्रों में कर्मों का विभाग है कि किसके लिए कौन-कौन से कर्म हैं। संस्कार कर्मों को लीजिये तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए ही हैं। शूद्रों के लिए नहीं हैं। उनकी विवाहादि सारी क्रियायें बिना मन्त्र की होती हैं। 'पूर्ववर्णपारतन्त्र्यममन्त्रिकाश्च क्रियाः' ऐसा शास्त्र ही कहता है। इसी प्रकार अन्य वेद-प्रतिपादित कर्मों के प्रविभाग तत्तद्वर्णों को लेकर ही किये गये हैं। इस प्रकार कर्मों के प्रविभाग को स्वीकार करने के लिए पूर्व में ही वर्णों के विभाग स्वीकार करने ही पड़ेंगे। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि वेदवचन पूर्व-सिद्ध ब्राह्मणादि वर्णों की अपेक्षा उपनयनादि कर्मों के लिए करते ही हैं। यदि पहले से ब्राह्मणादि वर्ण रहेंगे ही नहीं तो फिर

उनके लिए कर्मों का विधान ही अनुपपन्न होगा। अब यह भी समझ लीजिये कि उनकी साध्यत्वोपपत्ति कैसे होगी? संस्कार्यत्वेन होगी, ऐसा मैं कहूँगा! संस्कार पूर्वसिद्ध वस्तु के ही हुआ करते हैं। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' से विहित धान का प्रोक्षण (पानी छिड़कना) संस्कार पूर्वसिद्ध व्रीहि में ही संभव है। एक बात और समझ लेनी चाहिये कि संस्कार भी उन्हीं वस्तुओं के हुआ करते हैं जिनकी भूत में या भविष्य में कोई उपयोगिता हो। 'भूतभाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति' (तन्त्रवार्तिक) अर्थात् भूत अथवा भविष्य में उपयोगी द्रव्य ही संस्कार के योग्य हुआ करते हैं। अभिप्राय यही है कि जिनकी भूतभावि-उपयोगिता नहीं होती उनके संस्कार भी नहीं हुआ करते। व्रीहि के प्रोक्षणादि संस्कार भी भावियाग की उपयोगिता को लेकर ही हुआ करते हैं। इसी प्रकार 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' इन त्रैवर्णिकों के संस्कार भी भावि-उपयोग को लेकर ही हुआ करते हैं। ब्राह्मणादिकों के संस्कारों का उपयोग कहाँ होगा? ऐसा पूछने पर उत्तर है—वेद में होगा और वेदबोधत कर्म, उपासना, ज्ञान में होगा। जिस तरह व्यक्ति को क्रीडादि में उसकी शारीरिक शक्ति को बढ़ा करके ही नियुक्त किया जाता है अथवा किसी नेता को उसकी सक्रियता के आधार पर ही टिकट दिया जाता है उसी तरह अलौकिक वेद भी अपनी क्रियाओं में उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करता है जो अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत होते हुए संस्कारों से सम्यक् संस्कृत होते हैं। अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत होते हुए भी यदि संस्कारों से वञ्चित हैं तो वेद उन नामधारी द्विजों को भी शूद्र की तरह ही सारे द्विजकर्मों से बहिष्कृत कर देता है। 'स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।' और भी, यदि संस्कृत होकर भी अपने अधिकार वाले कर्मों को नहीं करता तो भी सारे द्विजकर्मों से शूद्र की तरह बहिष्कृत हो जाता है। इसीलिए कहता हूँ कि द्विजों को अपने संस्कारों और अपने कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

इस वचन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि जन्म से सभी शूद्र होते हैं, बाद में संस्कार होने पर द्विज हो जाते हैं। क्योंकि पहले से यदि ब्राह्मणादि वर्ण नहीं होंगें तो संस्कार किसके होंगे? 'ब्राह्मणमुपनयीत' से

स्पष्ट ज़ाहिर हो रहा है कि पूर्वसिद्ध ब्राह्मण का ही उपनयन होता है। यदि संस्कारों के पहले ब्राह्मणादि वर्णों की सत्ता नहीं मानेंगे तो फिर उपनयनादिसंस्कारविधायक सारे वैदिक वचन अनुपपन्न (असंगत) हो जायेंगे। अतः आप को हर हालत में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पहले से ही अनादिसिद्ध ब्राह्मणादि वर्णों की सत्ता है, फिर उनके संस्कार हैं। एवम् 'जन्मना जायते शूद्रः' का अर्थ होगा कि द्विजों के लिए संस्कारों का विधान अत्यावश्यक है क्योंकि संस्कारों के न करने से द्विजत्व के लोप की सम्भावना होती है। जन्म से सभी शूद्र होते हैं, बाद में संस्कार होने से द्विज की संज्ञा को प्राप्त करते हैं, यह अर्थ स्वीकार करने पर 'जन्मना जायते शूद्रः' इस वचन की असङ्गति होने लगेगी; क्योंकि द्विजों की केवल जन्मना उत्पत्ति नहीं होती। किन्तर्हि? जन्म, संस्कार दोनों से होती है। इसीलिए उन्हें द्विज कहते हैं; 'द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते' इति द्विजः। अर्थात् जो जन्म और संस्कार दोनों से हो वह द्विज है। यदि प्रमादवश संस्कारों का त्याग होता है तो केवल जन्मना ही उत्पत्ति होने लगेगी। अतः फिर सभी शूद्र होने लगेंगे। इसीलिए यथावत् संस्कारों का करना अति आवश्यक है। एक दो संस्कार नहीं, अपितु सारे संस्कार होने चाहिये। कुछ संस्कार जन्म के पूर्व के हैं, जैसे—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन। कुछ जन्म के बाद के हैं; जैसे जातकर्म, नामकरण, कर्णवेध, उपनयन, समावर्तन, विवाह आदि। कुछ मरणोत्तर, जैसे अन्त्येष्टि। यदि जन्म के पहले के संस्कार कर दिये गये तो केवल जन्मना उत्पत्ति नहीं हुई; अपितु जन्मसंस्काराभ्याम्। इसीलिए द्विज संज्ञा हुई। शूद्रों के संस्कारादि क्रियाओं का विधान शास्त्र में नहीं है, अतः उनके संस्कार नहीं होते। इसलिए वे जन्म से उत्पन्न हुए न कि संस्कार से भी। यदि द्विज महोदय भी बिना संस्कार से ही पुत्र पैदा करने लग जायेंगे तो निःसन्देह उनकी संतति शूद्र ही होगी। अरे भाई! शूद्र, जो चतुर्थ वर्ण के अन्तर्गत आता है, वह महासागर है, जिसमें कई जातियाँ भी हैं। क्या द्विजों में भी अलग जाति है? कदापि नहीं। ब्राह्मण ब्राह्मण हैं। क्षत्रिय क्षत्रिय हैं। वैश्य भी वैश्यत्वेन ही गृहीत होते हैं. उनमें अलग-अलग जातियाँ नहीं हैं। अतः इनके विवाहादि भी अपने वर्ग में हो जाते हैं। शूद्रों में तो पूछिये मत! अहीर, गरेड़ी, कुनबी, काछी, लोहार, बढ़यी, कहार, कोहार, तेली,

कलवार, बीन, बियार, धोबी, चमार, वगैरह वगैरह। इनके विवाह भी अपने ग्रूप में ही होते हैं। भला यादवजी से कह दीजिये कि अपनी लड़की का विवाह धोबी के लड़के से कर दें। श्रीराम! श्रीराम! बन्दूक तान कर खड़े हो जायेंगे। उनकी जाति का अपमान जो हुआ। इसी तरह अन्य जातियाँ भी अपनी जाति में ही सम्बन्ध किया करती हैं। ये सारी जातियाँ शूद्र वर्ण में ही आती हैं। द्विजों में जातियाँ नहीं होतीं, ऐसा पीछे कह चुका हूँ। यदि शूद्र वर्ण में जातिरहितसमाज की कोई परिकल्पना करे तो हमें इष्ट नहीं है। शूद्रों में आती अपनी कुलपरम्परा तथा आचार का लोप हो जायेगा। आर्य के अन्तर्गत आने वाले शूद्रों की कुलपरम्परा से प्राप्त आचारपद्धति और उनका अपना विशेष धर्म विखण्डित हो, यह राष्ट्र के लिए भी घातक है। जो सारे वर्णों को एक करना चाहता है वह ईश्वर से, ईश्वरानुशासनरूप वेद से अथवा जगद्वैचित्र्य से खिलवाड़ करना चाहता है, जो सम्भव नहीं है। जिस दिन लोक में ओतप्रोत वेदाचार का लोप होगा (प्रमाद से) उसी दिन प्रलय होगा। अब आप पूछेंगे कि शूद्रों में उतनी अवान्तर जातियाँ क्यों पैदा हुईं? तो उसका उत्तर होगा 'प्रमाद'। अपने धर्म से प्रमाद! अपने कर्म से प्रमाद! अपने विचारों और आचार से प्रमाद! कुछ द्विज ही कर्म, आचार, विचार से शूद्र हुए जैसे ययाति के शाप से ही उनके कुछ पुत्रों के वंशज अनार्य (म्लेच्छ) हुए और कुछ संस्कारों से, धर्म से च्युत होकर व्रात्य हुए। 'अनधीयाना वात्या भवन्तिः', स्वाध्यायाध्यायन न करने से द्विज भी व्रात्य हो जाते हैं। कुछ अभक्ष्य-भक्षण, अचोष्य-चोषण और अकार्य-करण से शूद्र हुए। कुछ वर्णसाङ्कर्य से अलग जाति के शूद्रों में अपना नाम दर्ज़ कराये। वर्णसाङ्कर्य से नाना शूद्रत्व जाति का विवेचन मनुस्मृति में किया गया है। जिज्ञासुगण वहीं से जानने का प्रयास कर लेंगे। चौधरी (कुनबी, काछी आदि) सोनार, लोहार, कुम्भकार, कहार, वर्धकि (बढ़यी) रथकार आदि वर्णसाङ्कर्य दोष से ही आये हैं। वर्णसाङ्कर्य क्यों हुआ? तो सुनिये। जो वैदिक मर्यादा का अक्रिमण करके अन्तर्जातीय सम्बन्ध कायम कर लेते हैं, क्षेत्र (स्त्री) की प्रधानता होने से उनकी सन्तति वर्णान्तर की हो जाती है। कहीं-कहीं यह क्रम मजबूरी में किसी आप्त के आदेश से स्वीकार कर लिया जाता है। जैसे व्यास से विचत्रवीर्य की पत्नी में क्षत्रियोत्पत्ति और दासी में विदुर

(शूद्र) की ही उत्पत्ति मानी गयी। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि अनुलोम विवाह के क्रम में ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य की कन्या से, क्षत्रिय, क्षत्रिय-वैश्य की कन्या से तथा वैश्य, वैश्य की कन्या से यदि धर्मपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करता है तो कन्या के वर्ण में ही सन्तति का विधान हुआ। अतः वर्णसाङ्कर्य नहीं आया। यदि विधान के अतिक्रमण में जाते हैं तो शूद्रा में ब्राह्मण के बीज से शूद्र की ही उत्पत्ति होगी; जैसे व्यास से दासी के गर्भ में विदुर की उत्पत्ति हुई। इस क्रम में व्यास के लिए माता की आज्ञारूप मजबूरी थी। इसी तरह कुछ लोग कामज प्रवृत्ति से भी शूद्रा में प्रवृत्त हुए जिससे अन्य शूद्र की जातियाँ उत्पन्न हुईं। इन जातियों को अनुलोम क्रम में आने से तत्तद् रूप में स्वीकार किया गया। उनकी उपेक्षा नहीं की। उनको दलित नहीं समझा। उनकी जीविका के लिए स्वतन्त्र व्यवसाय कायम किया। कुछ लोगों को लोहे का काम दिया तो वे लौहकार (लोहार) हुए। इसी तरह स्वर्णकार (सोनार) कुम्भकार (कोहार) वर्धकि (बढ़यी, लकड़ी का काम करने वाले), रथकार, आदि आदि हुए। आभीरों (अहीरों) को दुग्ध का व्यवसाय दिया ही गया है जिससे वे गोप कहलाये। अपनी क्रियाओं से अच्छी तरह सन्तुष्ट होकर वे सब अपने धर्म का आचरण करते हुए सहप्रतिष्ठा के भागीदार भी होते आये हैं। प्रतिलोमक्रम से अपनी वैदिक संस्कृति पर कुठाराघात करके जो उच्च वर्ण की कन्या के साथ सम्बन्ध स्थापित किये उनकी सन्तति अन्त्यज (चाण्डाल) हुई। इस क्रम में उनकी उपेक्षा की गयी क्योंकि वे संस्कृति के विध्वंसक माने गये। तो भी सन्तति का उतना दोष न मानकर उनको भी सेवा प्रदान करके अपने करीब लाया गया। उनको सुसंस्कृत करके आदर भी दिया गया। वे अपने को हीन न समझें तथा अपने धर्म का आचरण करके कल्याणभागी बनें। मैं एक बात साफ-साफ कह देता हूँ ताकि बीच में कुछ कहने का आप को अवसर ही न मिले; वह यह कि सर्गक्रम में ईश्वर को छोड़कर कोई भी जीव कर्म से प्रचोदित (प्रेरित) होकर ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के उपभोग के लिए शरीर-ग्रहण करता है। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी भी योनि में जन्म हुआ हो, उसमें अपना प्रारब्ध स्वीकार करके शास्त्र का अतिक्रमण न करते हुए जीवन-निर्वाह करना चाहिये ताकि शुभगति ही प्राप्त हो। कर्म के प्रभाव से ही किसी की शुभगति होती है और किसी

की अशुभ। कोई मद्यपान, परस्त्रीगमन, हिंसा, अभक्ष्य-भक्षण में बड़े ही प्रेम से प्रवृत्त होते हैं तो कोई पुण्य के प्रभाव से मद्यपानादि से निवृत्त होते हुए शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं। उनका यह उद्घोष सर्वलोक में विदित है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥
किंबहुना? विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव स्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात् शिष्ट की परस्त्री में मातृवत् दृष्टि, परधन में मिट्टी के लोष्ट की तरह दृष्टि और सारे प्राणियों में आत्मवत् दृष्टि होती है। विद्या-विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, बैल में, हाथी में, कुत्तों में और चाण्डालों मे भी पण्डित समदर्शी होते हैं। नीच योनि को प्राप्त किये तो क्या? उसमें रहकर अपने शास्त्रीय दायरे वाले आचार से दुनियाँ को मोह सकते हैं। विदुर शूद्र थे जो कि किसी ब्राह्मण के शाप से हुए थे। वस्तुतः वे यमराज थे। उन्होंने कभी शूद्रधर्म का अतिक्रमण नहीं किया। गो-ब्राह्मणों की सेवा ही करते रहे। नीचयोनि में होते हुए भी वे कृष्ण और कृष्णद्वैपायन जैसे महात्माओं की आखों के तारे बने। रैदास को आप जानते ही हैं। वे भी पूर्वजन्म के ब्राह्मण ही थे। किसी के शाप से अन्त्यज (चमार) के घर पैदा हुए। उन्होंने अपने धर्म को नहीं छोड़ा। जूता ही बनाते रहे और भगवद्-भजन करते रहे। उसी का परिणाम था कि तुलसीदास जैसे महात्मा भी उनको अपने गले लगाये। इस अवसर पर मैं हलवाहे का जिक्र अवश्य करूँगा जो अपने धर्म का कभी अतिक्रमण नहीं किया। उसका नाम 'घूरा' था। वह अपना काम ईमानदारी से करता था और पक्का आचारवान् था। हाथ पैर धोकर ही चुलुक (चुल्लू) में जल पीता था। ब्राह्मणों को जूता निकालकर प्रणाम करता था। कोई ब्राह्मण उसके घर में कभी उसे चारपाई पर बैठा नहीं देखा होगा। बड़ा ही ईमानदार था। इसी कारण ब्राह्मणसमुदाय में भी उसका आदर था। ब्राह्मण भी उसकी बात प्रमाणत्वेन स्वीकार करते थे। अन्त में वह तीर्थयात्रा में निकला और काशी जैसे पवित्र तीर्थ में अपना शरीर-त्याग किया।

मनुष्यों को छोड़िये। पशु-पक्षी भी अपने आचार से ही पूज्य हुए हैं। काकभुशिण्डी जी को कौन नहीं जानता। श्रीराम की भक्ति के लिए वे विश्रुत

रहे हैं। ऐसे ऐसे कुत्ते भी देखे गये हैं जो एकादशीव्रत करते थे। हमारे यहाँ एक कुत्ता ऐसा था जो परम श्रद्धा से भागवतकथा सुनने बैठा था। लाख भगाने पर भी अपना स्थान नहीं छोड़ा था और सप्ताहश्रवण के अनन्तर ही अपना शरीर-त्याग किया था। अभिप्राय यही है कि अपने धर्म के अतिक्रमण से लोक में अपकीर्ति होती है, परलोक में भी कोई गति नहीं होती। अतः अपने अधिकार-क्षेत्र का किसी को भी अतिक्रमण नहीं करना चाहिये।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

इस श्लोक से महाभारत की रचना का प्रयोजन कहा गया है। पूर्वोक्त प्रकार से स्त्री, शूद्र और संस्कारविहीन द्विज को साक्षात् वेदश्रवण का अधिकार नहीं है। श्रवण का तात्पर्य वेद का गुरुमुख से अध्ययन करके विचार के द्वारा अनुष्ठानोपयोगि कर्मों का ज्ञान प्राप्त करना है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि उनके कर्ण में वेदवाक्य न घुसे। यदि यह तात्पर्य होता तो दर्शपूर्णमासादि कर्मों में यजमानपत्नी बैठती ही नहीं क्योंकि वहाँ मन्त्रों का श्रवण अवश्यंभावी है। 'तपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्' से भी यहीं समझना चाहिये कि वेदाध्ययन में उनका महान् अनिष्ट है। और भी, दर्शपूर्णमासादि कर्मों में उनका अधिकार न होने से तदुपयोगी अर्थज्ञान एवं अर्थज्ञानोपयोगि वेदाध्ययन निरर्थक ही है। निरर्थक कर्म नहीं किया जाना चाहिये। यदि कोई करता है तो अन्य के प्रति उसका विद्वेष साफ झलकता है। इस प्रकार वेद में अधिकार न होने पर भी करुणा के अपार सागर मुनि कृष्णद्वैपायन ने इनके लिए वेदार्थ को ही प्रस्तुत करने वाला महाभारत बनाया ताकि चाण्डालपर्यन्त सारे अपने आर्य श्रेयमार्ग को उसका श्रवण करके प्राप्त कर लें। महाभारत-पुराण-श्रवण में सारे वर्णों का अधिकार है, ऐसा मुनि का ही कथन है—

श्रावयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।

अर्थात् ब्राह्मण को आगे बैठाकर चारों वर्ण पुराणों का श्रवण करें। यहाँ श्रावयेत् का शृणुयुः अर्थ है। इस प्रकार ऋषियों ने हर वर्ग को अपना अभिन्न समझ कर श्रेयप्राप्त कराने का प्रयास किया है। अनादि काल से सौमनस्यपूर्वक हर वर्ग अपना-अपना कार्य करते आये हैं। ऐसे में स्वार्थ के लिए राजनैतिक वर्ग का परस्पर-विद्वेष बढ़ाना उचित नहीं है।

साधु! साधु! आचार के पूर्व ही ब्राह्मणादि वर्णों के विभाग का पक्ष ही सम्यक् है जैसा कि आप ने अपने वेदानुकूल तर्कों से सिद्ध कर दिया है; फिर भी मुझे अवान्तर जिज्ञासा हो रही है जिसकी पूर्ति मैं अवश्य करना चाहूँगा। ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग सिद्ध होते हुए भी अलग-अलग कैसे समझा जाय कि अमुक ब्राह्मण हैं, अमुक क्षत्रिय हैं और अमुक वैश्य हैं? आपाततः सभी एक जैसे ही प्रतीत होते हैं फिर इनके पार्थक्य (अलगाव) में नियामक क्या है? इसे मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ—विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि! धन्यवाद! विस्तार से ही सुनाता हूँ। श्रूयताम्। इस पक्ष में मीमांसकों की दो दृष्टियाँ हैं। एक कुमारिलभट्ट की और दूसरी प्रभाकर की। मीमांसा के अक्सर भट्ट और प्रभाकर मत ही चलते हैं। दोनों मतों से मैं उपादन कर रहा हूँ। भट्टपाद के अनुसार ब्राह्मणत्वादि जाति स्वीकार करके नियामकत्वेन उसे ही स्वीकार किया गया है। जाति सामान्य का पर्य्याय है। समानानां भावः सामान्यम्। अर्थात् समान व्यक्तियों में अनुगतरूप से जो एक धर्म प्रतीत हो वही सामान्य है और उसी को जाति कहते हैं। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार जाति का लक्षण करते हैं—'एकत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्'। अर्थात् जो एक होता हुआ अनेकों में रहे वह समनियत धर्मविशेष ही जाति कहलाता है। जैसे अनेक गोव्यक्तियों में एक गोत्वधर्म है अतः गोत्वजाति वह हुआ जिससे अश्व, गर्दभ आदि से पार्थक्य भी सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अनेक ब्राह्मणों में एक ब्राह्मणत्वजाति, अनेक क्षत्रियों में एक क्षत्रियत्वजाति, अनेक वैश्यों में एक वैश्यत्वजाति और अनेक शूद्रों में एक शूद्रत्वजाति मानकर पार्थक्यव्यवहार का उपपादन कर लिया जायेगा। इस प्रकरण में मैं केवल सर्वोच्च एक वर्ण ब्राह्मण का उपपादन कर दे रहा हूँ। आगे अन्य वर्णों की दृष्टि स्वयं हो जायेगी। मीमांसा-प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद का दूसरा सूत्र है—'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च'। इसमें दृष्ट विरोध के उदाहरण में यह वाक्य आया है—

न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽ ब्राह्मणा वा वचनं प्रमाणम्।

(तै०ब्रा०, २/१/२)

अर्थात् हम ब्राह्मण हैं कि अब्राह्मण इसमें कोई प्रमाण वचन हम नहीं जानते। समान आकार वाले पिण्डों में ब्राह्मणत्वादि का विभाग यदि शास्त्र से हम निश्चित करेंगे तो दृष्टविरोध नहीं आयेगा क्योंकि शास्त्रीय विभाग मानने से अनुकूलता ही आयेगी। अतः ब्राह्मणत्वादि वर्णों का विभाग शास्त्र

का विषय नहीं है; अपितु प्रत्यक्ष का ही विषय है क्योंकि जो लोक में प्रसिद्ध है वही मानना पड़ेगा जैसे संसार में नानाजातीय वृक्षों का विभाग लोकप्रसिद्ध है कि यह आम है, यह साल है, यह जामुन है वैसे ही ब्राह्मणत्वादिजाति मान कर हम वर्णों का विभाग भी लोक से ही स्वीकार करेंगे न कि शास्त्र से।

तत्तद्वर्णानुसार संस्कारादि का विधान पश्चात् होगा, यह दूसरी बात है। ठीक है। वृक्षों में हम अलग-अलग पार्थक्य का अनुभव करते हैं। प्राय: आम, इमली इत्यादि वृक्षों की जातियाँ अपने आकारप्रकार से अलग-अलग दिखाई देती हैं। ब्राह्मणादि वर्णों में तो यह बात नहीं दिखायी देती। जैसा आकार-प्रकार ब्राह्मणों का है वैसा ही क्षत्रियादि वर्णों का भी है। इनमें एकाकारता होने से मनुष्यत्वजाति तो मानी जा सकती है जो एकत्र मनुष्यों में अनुगतत्वेन प्रतीत होती हुई अश्वादि से उसे अलग करती है किन्तु परस्पर मनुष्यों में पार्थक्यव्यवहार की नियामिका जाति कैसे मानी जाय जब उनमें आकार-प्रकार का कोई भेद ही नहीं है? यदि आप कहें कि उपनयन, वेदाध्ययनादि ही ब्राह्मणत्वजाति में निमित्त है तो ठीक नहीं; क्योंकि उपनयन, वेदाध्ययनादि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों में ही विद्यमान हैं। यदि केवल ब्राह्मणों में ही होते तो आप की बात जायज थी। दुष्ट शूद्र भी ईर्ष्या से उपनयनादि का पाखण्ड कर सकता है तो क्या उनमें भी ब्राह्मणत्व है? इसलिए आप यह बतलाने का कष्ट करें कि ब्राह्मणत्वजाति में नियामक क्या है? श्रूयताम्! यदि आकार शब्द से आप मुद्रादि का ग्रहण करते हैं तो उसे जाति के रूप में स्वीकार ही न किये जाने से कोई दोष नहीं होगा। ब्राह्मणत्वादि जाति को हम ब्राह्मण-प्रतीति से जानने योग्य धर्मविशेष को ही मानते हैं जिस धर्मविशेष का अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अनुभवसिद्ध है। इसी कारण कहीं पर जाति-ग्रहण में कर्तव्यता का विशेष (इतिकर्तव्यता) हम स्वीकार करते ही हैं। जिस तरह अन्य जाति के ज्ञान में प्रकाश, इन्द्रिय, अनेक पिण्डों में रहने वाला विशेष धर्म, शब्दस्मरण, व्यक्ति-महत्त्व, आकारविशेष आदि को कारण मानते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणादिजाति के स्मरण में भी कारण को स्वीकार करना पड़ेगा। यह उत्पाद्योत्पादकसम्बन्ध माता को ही प्रत्यक्ष है। अन्यों के लिए सम्बन्ध का ज्ञान अनुमान तथा आप्तों (शिष्ट) के उपदेश से

समझना चाहिये। इस प्रकार ब्राह्मणत्वजाति में अभिव्यञ्जक ब्राह्मण माता, पिता के सम्बन्ध से उत्पत्ति ही है। यहाँ पर ब्राह्मण माता और पिता के सम्बन्ध में विवाहित पद का भी सन्निवेश कर देना चाहिये। अतः अविवाहित रूप में ही ब्राह्मण माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं कहेंगे; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। वस्तुतः परमार्थरूप से देखा जाय तो जिस तरह से घोड़े से घोड़ी में उत्पन्न सन्तति को घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तति को ही ब्राह्मण कहेंगे। इसी प्रकार अविवाहित रूप से उत्पन्न ब्राह्मण की सन्तति को ब्राह्मण ही कहेंगे। शास्त्र ने इनकी कुण्ड और गोलक की संज्ञा दी हुई है। यह संज्ञा भी कार्यविशेष के लिए ही की गयी है। जैसे ब्राह्मण के रूप में उनकी श्राद्ध में प्रसक्ति होती हुई भी उक्त संज्ञा से निषेध कर दिया गया अर्थात् वे श्राद्ध-भोजन के अधिकारी नहीं हुए। इन सारे विषयों की चर्चा तन्त्रवार्तिक में भट्टपाद ने और मीमांसाकौस्तुभ में आचार्य खण्डदेव ने बड़े ही विस्तार से की है (१.२.१ अधि०)। एवम् यह निश्चय हुआ कि तपस्या आदि का समुदाय ब्राह्मणत्व नहीं है और न ही तपस्या से उत्पन्न हुआ संस्कार। तपः, संस्कार से अभिव्यक्त हुई जाति भी ब्राह्मणत्व नहीं है। किं तर्हि ? माता और पिता की जाति के ज्ञान से अभिव्यक्त हुए प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेय तत्तद् ब्राह्मणव्यक्ति में अभिव्यक्त धर्मविशेष ही ब्राह्मणत्वजाति है। तपस्या, संस्कार आदि के द्वारा उनकी यथास्थिति अथवा उत्कर्ष मात्र स्थापित किया जाता है। अत एव पूर्वप्रतिपादित न्याय से वर्ण-विभाग के व्यवस्थित होने पर 'मासेन शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्' अर्थात् दूध बेचने से ब्राह्मण एक मास में शूद्रतुल्य हो जाता है, इत्यादि वचन कर्म की निन्दा का प्रतिपादन करते हैं कि अमुककर्म अमुकवर्ण के लिए नहीं हैं। इन्हीं युक्तियों से ही क्षत्रिय-वैश्य-जाति की सिद्धि भी हो जायेगी। यह रही कुमारिलभट्ट की दृष्टि।

इस विषय में प्रभाकर की दृष्टि भिन्न है। वे ब्राह्मणत्वादि जाति को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि एकाकार बुद्धि जिन व्यक्तियों में होती है वहीं जाति स्वीकार की जाती है। जैसे गोत्व, अश्वत्व, मनुष्यत्व आदि। ब्राह्मणादि व्यक्तियों में यह बात नहीं देखी जाती। क्योंकि क्षत्रियादि वर्णों में अविद्यमान केवल ब्राह्मणों में अनुगतरूप से वर्तमान एकाकार का

ज्ञान बार-बार अनुसन्धान करने पर भी नहीं होता। यदि आप कहना चाहेंगे कि माता-पिता के सम्बन्ध के ज्ञान से एकाकार का ज्ञान सम्भव है तो मैं कहूँगा कि माता-पिता के सम्बन्ध का लाख अनुसन्धान करने पर भी कौन एकाकार को जानने में समर्थ होगा? अतः सकल वर्णों से व्यावृत्त, केवल ब्राह्मणों में अनुगत एकाकार मति के अवभासित न होने से ब्राह्मणत्व जाति नहीं मानी जा सकती। इसी न्याय से अन्य वर्णों में भी जातिपक्ष अस्वीकृत ही समझना चाहिये। विषम उपन्यासः। यदि जाति स्वीकार नहीं करेंगे तो सारा तन्त्र ही आकुल हो जायेगा। आप के मत में भी सारी व्यवस्था बिगड़ जायेगी। आहवनीयादि अग्नि में साध्य कर्मों में किसी का ही अधिकार, न कि अन्य पूर्वपरिगणित शूद्रों का भी, और ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति-व्यवस्था भी किंमूलक होगी? श्रूयताम्। इन आक्षेपों का भी पूरा समाधान है। हमारे (मीमांसक) मत में सृष्टिप्रतिपादक वचनों को भी अर्थवादों के अन्तर्गत गृहीत करके, उनका अपने अर्थ में प्रामाण्य न स्वीकार करके सृष्टि को ही अस्वीकृत किया गया है। इसलिए संसार को अनादि ही माना गया है। स्पष्ट आचार्य खण्डदेव इसकी उद्घोषणा करते हैं—

अस्मन्मते सृष्टिप्रतिपादकवचनानामर्थवादत्वात् सृष्टेरस्वीकारात्।

(कौस्तुभ, अर्थवादाधिकरण)

एवम् अनादि संसार में जन्यजनकभाव से कुछ स्त्री-पुरुष की सन्ततियाँ व्यवस्थित हैं। उनकी परस्पर भिन्न गोत्र के विवाह-क्रम से उत्पन्न हुए स्त्री पुरुषों को हम ब्राह्मण कहेंगे। यही पहली सन्तति है; ऐसा सिद्ध न होने से। (क्योंकि संसार-व्यवस्था अनादि है) सारे ब्राह्मण व्यक्तियों की ब्राह्मणसन्ततिपरम्परा में आने से ब्राह्मण-प्रवृत्ति का व्यवहार भी निष्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार हम 'ब्राह्मणादि' शब्द की प्रवृत्ति में सन्ततिविशेष से जो जन्य (उत्पन्न) है तज्जन्यत्व को उपाधिरूप से स्वीकार करेंगे। जातिपक्ष कथमपि स्वीकार नहीं करेंगे। अर्थात् संक्षेप से यही बात निष्पन्न होगी कि ब्राह्मणपिता द्वारा असमान गोत्रीय ब्राह्मणी माता से उत्पन्न सन्तति ब्राह्मण है, क्षत्रिय से क्षत्रियस्त्री में उत्पन्न क्षत्रिय, वैश्य से वैश्यस्त्री में उत्पन्न वैश्य कही जायेगी। शूद्रों में संस्कारादि का विधान न होने पर भी पूर्ववत् ही व्यवस्था है। शूद्र वर्ण तो महासागर है। हर वर्ण अधोगति को प्राप्त हुए उसी में समाविष्ट हो जाते हैं नदियों की तरह; ऐसा

मैं पीछे कह चुका हूँ। और भी; अनुलोम विवाहपरम्परा की दृष्टि में भी क्षेत्र (स्त्री) की प्रधानता होने से ब्राह्मण पिता द्वारा सविधि विवाहिता क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न सन्तति क्षत्रिय, वैश्य पत्नी से वैश्य ही होती है तथा क्षत्रिय पिता द्वारा सविधि विंवाहिता वैश्य पत्नी से वैश्यसन्तति ही कही जायेगी। शूद्रा स्त्री में त्रैवर्णिक का वैवाहिक विधान न होने से यदि सन्तति होती है तो उसे कोई विशेष दर्जा नहीं दिया गया है। उन्हें शूद्रकोटि में ही रखा गया है। निम्न वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण की कन्या का सम्बन्ध निन्दित, अशास्त्रीय है। इस अशास्त्रीय सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति का न तो कोई कुल होता है और न ही कोई मर्यादा ही होती है। इनमें भी तारतम्य के आधार पर व्यवस्था दी गयी है; जैसे शूद्र के द्वारा वैश्य-कन्या से मनुष्यों में अधम चाण्डालसंज्ञक अन्त्यज कहा जाता है। ये सभी वर्णसङ्कर के अन्तर्गत आते हैं। जैसा कि मनु ने कहा है—

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डाल श्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः॥

(मनु० १०/१२)

अनुलोमक्रम से भी यदि अशास्त्रीय ढंग से सन्तति उत्पन्न होती है तो संस्कारादि के अभाव से शूद्र ही कही जायेगी। प्रतिलोमक्रम में भी आयोगव और क्षत्ता स्पृश्य हैं। चाण्डाल तो अतिशय निकृष्ट होने से अस्पृश्य और बहिष्कृत होते हैं। मनुस्मृति के दशवें अध्याय में वर्णसाङ्कर्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। जिज्ञासुगण विशेष जानकारी वहीं से कर सकते हैं। इतना मैं स्पष्ट कहूँगा कि जो अशास्त्रीय ढंग से सन्तति-परम्परा आयी है और जिन जातियों में परम्परा से उपनयनादि संस्कार नहीं होते तथा जो स्पृश्य होते हुए भी आचारप्रक्रिया से शून्य हैं, जिनमें भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं है, वे त्रैवर्णिक नहीं हैं। वे शूद्र ही हैं। आभीर भी। हमारे शिष्ट पूर्वज उनको यादव इसलिए कहना प्रारम्भ किये कि भगवान् श्रीकृष्ण, जो कि यदु के कुल के थे; उनके (गोपों) ऊपर बाल्यकाल में अनुग्रह किये थे। अहीर शूद्र ही हैं, इसमें मनुस्मृति के दशमाध्याय का पन्द्रहवां पद्य प्रमाण है— आभीरोऽम्बष्ठकन्यायाम्॥ अथवा अम्बष्ठनामक वर्णसङ्कर कन्या में आभीर पैदा होता है। यह उत्कृष्ट शूद्र है; यह दूसरी बात है, लेकिन है शूद्र ही। अन्यत्र भी कहा गया है—'आभीर स्तु महाशूद्रः'। आभीर का ही अपभ्रंश

रूप 'अहीर' शब्द है। इसी प्रकार कुर्मी, काछी, कलवार, जायसवाल आदि जो जातियाँ दिखलाई देती हैं; वे भी शूद्र ही हैं। जो इनको क्षत्रिय कहता है उसमें मैं पूछता हूँ—क्या कभी भी इनकी परम्परा में उपनयनादि संस्कार होते हैं या इनको स्वप्न में भी वेदोदित कर्मों में नियोजित किया गया है अथवा शिष्ट त्रैवर्णिक इनके दारसंग्रहादि (विवाहादि) उत्सवों में भाग लेकर इनके द्वारा बनाये गये पक्के भोजन को स्वीकार करते हैं। (कच्चा चावल आदि बिना सम्बन्ध के एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण के यहाँ नहीं खाते इसीलिए पक्के भोजन पूड़ी आदि का ही उल्लेख किया गया है) कथमपि नहीं!! ऐसा न देखा गया है और न ही सुना गया है। अभी भी जिन शूद्रों का अन्न ग्राह्य है जैसे कूर्मी, काछी, अहीर, कायस्थ, बढ़यी, लोहार आदि, उनके यहाँ जब कोई उत्सव होता है तब ब्राह्मणभोजन के लिए भोजननिर्माण में पवित्र ब्राह्मणों को ही नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार उनके अन्न को तभी स्वीकार किया जाता है जब पवित्र ब्राह्मण अपने हाथों से पूड़ी आदि बनायें और उस भोजन पर उनकी (कूर्मी आदि शूद्रों की) दृष्टि न पड़े; नहीं तो वह भोजन दृष्टिदूषित होकर ब्राह्मणों के लिए अग्राह्य हो जाता है। कलवार, जायसवाल, तेली आदि शूद्रों का कच्चा अन्न भी शिष्ट त्रैवर्णिक दूषित समझ कर अस्वीकार ही करते आये हैं। इन सबकी अपेक्षा से कुर्मी, काछी, (कुशवाहा, कछवाहा) अहीर, कायस्थ, लोहार, बढ़यी आदि विशिष्ट शूद्र हैं; इसलिए इनका कच्चा अन्न त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए स्वीकार्य्य है। पटेल जिनकी गुजरात में अधिक संख्या है; कूर्मी ही हैं। अतः शूद्र ही हुए।

क्या कह रहे हैं? कूर्मी क्षत्रिय हैं। शिव, शिव! ऐसी लौकिक मान्यता नहीं है। यदि क्षत्रिय हैं तो गुजरात के पटेल अपने को वैश्य क्यों कहते हैं? कहने का मतलब यह है कि अगर वे क्षत्रिय होते तो अपने को वैश्य क्यों कहते? क्या कह रहे हैं? तब उन्हें वैश्य क्यों न माना जाय? विचित्र आदमी हैं आप! आप जो कहेंगे सो मैं मानता जाऊँ? यह तो मुझसे नहीं होगा। मेरे वश में यदि कुछ होता तो अवश्य कुछ-न-कुछ रियायत कर देता। मैं भी तो शास्त्र और शास्त्रीय दायरे में चलने वाले शिष्टों से बँधा हुआ हूँ। शास्त्रों में तो तुष्टीकरण की नीति चलती नहीं। अतः जो जैसा है उसको वैसा ही कहूँगा। कूर्मी! कूर्मः कच्छपः जीविकात्वेनास्ति

अस्य स कुर्मी। अर्थात् जो कछुवा से अपनी जीविका चलाते हों वे कूर्मी कहे जाते हैं। मैंने बहुतायत कूर्मियों को कछुवा भून कर खाते देखा है। जी हाँ! कूर्मी चूहे भी भूनकर खाते हैं। मैंने अपनी आँखों से देखा है। असंस्कृत भोजन तो वे करते ही हैं। छोड़िये इन सारी बातों को। जिनमें उपनयनादि संस्कारों की मान्यता नहीं है और जिनके घर में शास्त्रीय गृह्यकृत्य नहीं होते वे कथमपि द्विज नहीं हैं। वे शूद्र ही हैं। अतः इसी न्याय से उपनयनादि से वञ्चित कुछ वैश्य भी शूद्रान्तर्गत ही आ गये हैं जैसे 'गुप्त' उपाधिधारी कुछ वणिक्। इसी अभिप्राय से भगवान् श्रीकृष्ण ने वैश्यों को भी नीच योनि के अन्तर्गत ही परिगणित कर रखा है—

मां तु पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्या स्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

यहाँ पर उन्हीं वैश्यों को भगवान् ने अधमयोनि के अन्तर्गत माना है जो आचारपरम्परा से शून्य हैं। आचारपरम्परा से सम्पन्न मारवाड़ी वैश्य तो द्विज के अन्तर्गत ही आयेंगे। यदि आप कहें कि उक्त शूद्रों का उपनयन ब्राह्मण द्वारा करा कर द्विजमण्डली में शामिल करके क्यों न द्विज बना दिया जाय? असम्भव! जो कभी हुआ ही नहीं वह अब कैसे होगा? क्या घट को पट बनाया जा सकता है? कौन ब्राह्मण उनका उपनयनादि करके पतित होना चाहेगा। मनु महाराज कहते ही हैं कि जो पतितों (आचार भ्रष्ट) का याजनाध्यापन करता है वह शीघ्र ही पतित हो जाता है—

सम्वत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥

अर्थात् पतित के साथ यात्रा करने से बैठने से और भोजन करने से एक वर्ष में द्विजाति पतित हो जाता है। योनिसम्बन्ध, याजन और अध्यापन से तो तुरन्त ही पतित होते हैं। देवल ने भी इसी का स्पष्टीकरण किया है—

याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम्।
कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः॥

अभिप्राय यह है कि शूद्रों का जो संस्कार करे वह भी पतित हो जायेगा। अतः उनकी परम्परा में श्रौत संस्कारों का अभाव है। जो ऊपर निर्दिष्ट विशिष्ट शूद्र हैं उनकी विवाहादिक्रिया पौराणिक मन्त्रों से होती है।

इसीलिए क्षत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक की जब बात आयी तो उस समय के महाराष्ट्र के ही महापण्डित विश्वेश्वर जिनका उपनाम 'गागाभट्ट' भी है, ने शूद्र होने के कारण शिवाजी का वैदिक मन्त्रों से अभिषेक न कर पौराणिक मन्त्रों से ही किया था। कुछ लोग कहते हैं कि महामना मदनमोहन मालवीयजी ने गङ्गा के तट पर हरिजनों (चमारों) को गायत्री-मन्त्र का उपदेश दिया था। सुनकर मुझे भी कुछ अटपटा लगा था लेकिन बाद में जब वास्तविकता मालूम हुई तो उनके महामनस्त्व का उद्‌बोध हुआ। बात यह थी कि दशाश्वमेध घाट पर मालवीयजी ने हरिजनों से कहा—"जाओ स्नान करके आओ।" स्नान करके आने पर उन्होंने सभी को ऊपर से एक-एक धौतवस्त्र देकर 'राम' नाम का उपदेश दिया। 'राम' नाम के जप में सभी का अधिकार है। चाण्डालों का भी। चाण्डाल जैसे निकृष्ट और अजामिल जैसे पापात्मा भी भगवन्नाम से पवित्र हो जाते हैं। भागवत में आया भी है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।

(भा० २/४/१८)

अर्थात् किरात-हूण-आन्ध्र-पुलिन्द-पुल्कस-अहिर-कङ्क-मुसलमान खस आदि पापात्मा जिसकी भक्ति से शुद्ध होते हैं उस परमात्मा को नमस्कार है। एवम् संसार अनादि है जिसमें शूद्रों की अनादिता में कोई सन्देह नहीं है। उनका बाहुल्य इसलिए है कि संस्कारविहीन होने से व्रात्य हुए द्विज भी उसी वर्ग में शामिल हो गये हैं। इसका स्पष्टीकरण मनुस्मृति के इन वचनों से हो जायेगा—

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतां स्तु यान्।
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥

(मनु० १०/२०)

अर्थात् द्विजों द्वारा सवर्णा स्त्री में ही संस्कारविहीन गायत्री से भ्रष्ट जो होते हैं उन्हें व्रात्य की संज्ञा दी गयी है। फिर व्रात्यों की जो सन्तति होगी वह अधम होगी ही। मनु ने क्रमिक दिग्दर्शन करा ही दिया है—

व्रात्यात्तु जायते विप्रात् पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च॥

अर्थात् संस्कारविहीन व्रात्य ब्राह्मण के द्वारा जो सन्तान होती है वह पापसत्त्व ही भूर्जकण्टक नाम वाली होती है। देश के भेद से भूर्जकण्टक की ही कहीं पर आवन्त्य, कहीं पर वाटधान, कहीं पर पुष्पध और क़हीं पर शैख संज्ञा हुई है। आजकल मुसलमानों में जिनकी शेख संज्ञा है वे ब्राह्मण ही शूद्रत्व को प्राप्त हुए हैं। इस समय इस्लाम को स्वीकार किये हुए हैं। व्रात्य क्षत्रिय वर्ण की जो सन्तति हुई वो भी शूद्र में परिगणित है जिनकी संज्ञा हुई है झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड़। एक ही इन शूद्रों की देश भेद से इतनी संज्ञायें हैं। आज भी इन संज्ञाओं वाले लड़ाकूप्रकृति के साहसिक काम करने वाले हैं जिनका शौर्य देखकर अनुमान किया जा सकता है कि ये क्षत्रियबीज से ही आये हैं। लेकिन कालक्रम से संस्कारविहीन होने से शूद्र हुए हैं। जैसे नट और खस (खानाबदोस) संज्ञा वाले आज भी साहसिक कार्य से ही अपनी जीविका चला रहे हैं। इसकी सिद्धि भी मनु के इस वचन से हो जायेगी—

झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥

(मनु० १०/२२)

संस्कारविहीन वैश्य व्रात्य से सुधन्वाचार्य जाति हुई जिसकी देशभेद से कारुष (कोइरी) विजन्मा, मैत्र और सात्वत संज्ञा हुई जैसा कि मनु ने कहा है—

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥

(मनु० १०/२३)

इस प्रकार यह भी निश्चित होता है कि वर्णसाङ्कर्य (वर्णान्तरत्व) केवल विजातीय सम्बन्ध से ही नहीं होता अपितु अपने संस्कारादि कर्म के परित्याग से भी होता है। उसी बात का उपसंहार मनु करते हैं—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणाञ्च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः॥

(मनु० १०/२४)

अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णों के परस्पर व्यभिचार से, सगोत्रा स्त्री के साथ विवाह करने से, उपनयादि अपने कर्मों के त्याग से वर्णसङ्कर होते हैं। यहाँ पर विशेष यह समझ लेना चाहिये कि अपने-अपने वर्ण में ही विवाह और

सन्तति-वितान उत्तम होता है क्योंकि उनमें सजातीयोत्पत्ति ही होती है। याज्ञवल्क्य ने भी इसी की पुष्टि की है—सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। (या० स्म० १-९०) परिष्ठितिवश यदि वर्णान्तर की भार्या स्वीकार करनी पड़े तो द्विज त्रैवर्णिक के अन्तर्गत ही, न कि शूद्रा में भी। त्रैवर्णिकान्तर्गत में अनुलोमक्रम से, न कि प्रतिलोम क्रम से भी। ऐसा क्यों? तो सुनिये! ऐसा होने से छह प्रकार के संस्कार के योग्य ही द्विजपुत्र होते हैं—तीन सजातीय वाले और तीन विजातीय वाले। त्रैवर्णिक द्वारा शूद्रा में उत्पन्न और शूद्रद्वारा त्रैवर्णिक की कन्या में उत्पन्न सारे के सारे पुत्र अपध्वंसज होते हैं जिनके द्विजों वाले संस्कारादि नहीं होते जैसा कि मनु ने कहा है—

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः॥

(मनु० १०/४१)

महर्षि गौतम ने भी इसी बात का अनुमोदन किया है—

'प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः।' 'शूद्रायाञ्च।' 'असमानायां तु शूद्रात् पतितवृत्तिः।' अन्त्यः पापिष्ठः॥　(गौतमधर्मसूत्र ४/२०, २१, २२, २३)

अर्थात् प्रतिलोमक्रम से आये सूत, मागध, आयोगव, कृत, वैदेहक और चाण्डाल उपनयनादि धर्म से हीन होते हैं। अनुलोमक्रम में भी शूद्रा में उत्पन्न पारशवादि धर्महीन होते हैं। शूद्र से असमान वैश्यादि की स्त्री में उत्पादित सन्तानें पतितवृत्ति होती हैं अर्थात् जैसे पतित का दर्शन, स्पर्श और दानादि का ग्रहण वर्जित है वैसे ही इनका भी। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वैश्य से क्षत्रिया में और क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तानें पतितवृत्ति नहीं है। जिन शूद्रों के दर्शन, स्पर्शादि चलते हैं वे इसी क्रम से आये हैं, ऐसा कहना अनुचित नहीं है। अन्त्यःपापिष्ठः। शूद्र से असमानजातीय ब्राह्मणी में उत्पन्न चाण्डाल पापिष्ठ है जो कि दर्शनादि के अत्यन्त अयोग्य है अर्थात् इनके दर्शन के बाद प्रायश्चित्त शिष्टों को कर लेना चाहिये। इसी क्रम में सजातीय क्रम से आयी सन्तानों की महर्षि गौतम स्तुति भी करते हैं—'पुनन्ति साधवः पुत्राः' (गौ० ४/२४) अर्थात् उत्तमप्रणाली से उत्पन्न साधु पुत्र पिता के कुल को पवित्र कर देते हैं। अन्यत्र भी प्रसिद्धि है ही—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
स्वर्गस्थितास्ते पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥

जिसके कुल में वैष्णव नाम उत्पन्न हुआ अर्थात् साधु पुत्र उत्पन्न हुआ उस पुत्र से कुल पवित्र हो जाता है, माता भी कृतार्थ हो जाती है और पृथ्वी भी अपने को पुण्यशालिनी समझने लगती है; किं बहुना स्वर्ग में विद्यमान पितर भी उससे धन्य हो जाते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि सजातीय सन्तति ही प्रशस्त होती है। विजातीय में भी अनुलोम क्रम से आयी। उनमें भी शूद्रा में निषेध किया गया है। शायद इसीलिए लोक में सजातीय विवाह की ही मान्यता है। विजातीय सम्बन्ध कायम रखने वाले समाज से बहिष्कृत देखे गये हैं। कई ब्राह्मणों को मैं जानता हूँ जो अन्तर्जातीय सम्बन्ध के कारण ही अपने कुटुम्बवालों से भी उपेक्षित हुए हैं। कायस्थ की कन्या से विवाह करके अपने परिवार वालों से अलग हो गये हैं। कुलीन पिता या भाई उसका जल भी ग्रहण नहीं कर रहा है। शूद्रों में भी लौकिक या शास्त्रीय मर्यादायें नहीं हैं; ऐसी बात नहीं है। उनमें भी सजातीय सम्बन्ध ही प्रशस्त माना गया है। मैंने कूर्मी आदि विशिष्ट शूद्रों की विधवाओं को देखा है जो कि विधवा-धर्म का यथावत् पालन करती हुई पर पुरुष का व्यावर्तन करके साधुता में ही अपना जीवन बिता दी हैं। वे भी हमारे लिए वन्द्य हैं। उनकी स्त्रियाँ भी द्विजाति की स्त्रियों की तरह ही हरतालिका (तीज) और जीवत्पुत्रिका (जीवतिया) आदि व्रतों का अनुष्ठान करती आ रही हैं जिनमें पति और पुत्र के मङ्गल की कामना की गयी है।

ऐसी नारियाँ भी आदरणीय हैं। इस प्रकार व्यभिचार का व्यावर्तन (परहेज) शूद्रसमाज में भी होता आया है। इन्हीं सब कारणों से मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि वे सच्चरित्र शूद्र की स्त्रियाँ भी मेरी मातायें ही हैं। उनमें भी मेरी श्रद्धा मातृवत् ही है। ज्यादा क्या कहूँ बिगड़ी हुई नारियाँ भी मेरी दृष्टि में मातृवत् ही हैं। उनके प्रति भी मेरी तरफ से श्रद्धासुमन अर्पित है। क्यों? क्योंकि व्यभिचार के कारण पुरुष ही हुआ करते हैं। एक उपाख्यान याद आया। सुनाये देता हूँ। महाराज केकय के यहाँ कुछ ऋषि-गण आये। महाराज ने पाद्य, अर्घ्यआदि उपचारों से ऋषियों का पूजन किया। अन्त में जब भोजन का प्रकरण आया तो ऋषिगण कतराते नज़र आये। महाराज समझ गये कि ऋषिगण भोजन से क्यों कतरा रहे हैं? ऋषियों के राजान्न से परहेज को समझ कर महाराज ने जो उत्तर दिया वह

एक आदर्श के रूप में ही आज भी याद किया जाता है। क्या है उनका उत्तर? तो सुनिये—

न मे स्तेनो जनपदे न मद्यो न च मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

महाराज ने कहा कि "हे ऋषिश्रेष्ठगण! मेरे राज्य में ढूँढ़ने पर भी आप चोर नहीं पायेंगे, न शराब पायेंगे और नहीं शराबी ही पायेंगे। मेरे राज्य में ऐसा कोई त्रैवर्णिक नहीं है जो आहिताग्नि (अग्न्याधान संस्कार से संस्कृत) नहीं है, ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं है जो कि यज्वा (याग कराने वाला) न हो और कोई व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है तो व्यभिचारिणी स्त्री कहां मिलेगी!" महाराज का उत्तर सुनकर ऋषियों ने सादर भोजन किया और उन्हें नैकविध आशीर्वाद भी दिये। आशय यही है कि व्यभिचार का बीजारोपण पुरुष ही करता है अतः राजाओं का नियन्त्रण उन पर ही विशेष रूप से होता है। एक कूर्मी स्त्री की घटना मुझे आज भी याद आती है। अपने श्वसुरालय में पीड़ित होकर वह स्त्री अकेले ही दो-तीन कोस का रास्ता तय करके मायके आ गयी। यद्यपि वह स्त्री साध्वी थी इसमें कोई सन्देह था ही नहीं तथापि उसकी माता ने ही उसे अपने घर में प्रवेश नहीं दिया। अपनी ही कन्या को खरी खोटी सुनायी। और भी स्त्रियाँ आयीं। निर्णय लिया गया। क्या? यही कि उसे वापिस श्वसुरालय में ही भेज दिया जाय। पर्यन्त में यही हुआ। उसे उसी पाँव वापिस किसी के द्वारा भेजा गया। इसी प्रकार निम्न शूद्रों में भी इतनी नहीं तो बहुत कुछ अंश तक मान्यतायें हैं ही। चमारों की स्त्रियाँ भी बहुत कुछ परम्पराओं का निर्वाह करती हुई देखी गयी हैं। अष्टमी इत्यादि स्मार्त व्रतों की परम्पराओं का निर्वाह शूद्रों में भी होता है। मैंने निम्न शूद्रों में भी इस तथ्य का अन्वेषण किया है। ज्यादा क्या कहूँ? अपने अधिकार के क्षेत्र तक सीमित रहते हुए शूद्र भी द्विजातियों की परम्परा में हाथ बटाते आये हैं। इसीलिए मुसलमानों से बहुत ऊपर हैं। हिन्दू इसीलिए कहे जाते हैं। मुसलमानों में तो दूध का परहेज करके अपनी बहन से भी विवाह जायज माना जाता है। एक ही स्त्री तलाकप्रक्रियाद्वारा न जाने कितनों की ज़ायज़ पत्नी हो सकती है। क्या हमारे चातुवर्ण्य के अन्तर्गत आने वाले शूद्रों में भी यह मान्यता है? हरग़िज नहीं। किसी को यदि वर्णसङ्कर कहा जा रहा है तो चिढ़ क्यों हो रही है?

व्यभिचार की सम्भावना तो मैं कर नहीं रहा हूँ। जब मैं सर्वत्र माताओं में मातृदृष्टि की बात कर रहा हूँ तो कौन होगा जो अपनी माता में व्यभिचार की सम्भावना करे? क्या आज लोग अन्तर्जातीय विवाह नहीं कर रहे हैं? देखिये न! कोई ब्राह्मण कायस्थ की कन्या से विवाह कर रहा है तो कोई कायस्थ अपना विवाह ब्राह्मण की कन्या से कर रहा है। इसी प्रकार आज अपने को एडवांस समझने वाले कुलाधम शास्त्रीय मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हैं और धड़ल्ले से सन्तति का विस्तार भी कर रहे हैं। ऐसे लोगों से ही मैं पूछ रहा हूँ कि क्या उनकी सन्तति वर्ण-साङ्कर्य के दोष से ग्रस्त नहीं हुई? दें न वे उत्तर? मूक क्यों हैं? इसीलिए यथार्थ वस्तु कही जाय तो कष्ट नहीं होना चाहिये। हमारे ब्राह्मणश्रेष्ठ पण्डितनरेन्द्र जगन्नाथ शाहजहाँ की लड़की को रख लिये थे। जी हाँ! मैं सत्य कह रहा हूँ। हुआ यह कि शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह और उसकी बहन लवङ्गी को वे संस्कृत पढ़ाते थे। अन्त में दक्षिणा की बात जब आयी तो भरी सभा में जहाँ लवङ्गी भी खड़ी थी; पण्डितराज ने कहा—

न याचे गजालिं न वा वाजि राजन् न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥

अर्थात् हे राजन्! मैं गुरुदक्षिणा में न हाथियों की कतारें माँगता हूँ और न ही घोड़ों का समूह। धन में तो मेरा चित्त है ही नहीं। यह सुन्दर स्तनों वाली अपने हाथ पर मस्तक रखने वाली मृगनयना जो लवङ्गी खड़ी है, इसी को तुम मुझे दे दो। पण्डितराज की बात सुनकर सारी सभा स्तब्ध रह गयी। शाहजहाँ गुणग्राही था। बुरा नहीं माना। लवङ्गी को पण्डितराज के हाथ में दे दिया। वे उसे काशी लेकर आये तो पण्डितसमाज में उनका बड़ा निरादर हुआ। लोगों ने उनके हाथ का पानी पीना भी छोड़ दिया। उनको किसकी परवाह थी। वे उस समय पण्डितों से कहे थे कि यह न समझो कि मैं यवनी को रख लिया हूँ बल्कि यह समझो कि बादशाह की कन्या को रखा हूँ। उस बादशाह की कन्या को जो या जिसके पूर्वज यहां के क्षत्रियों की कन्याओं से विवाह करके उनकी मर्यादाओं का हनन किये थे। क्षत्रिय की कन्या को मुसलमान रख ले यह कम शर्म की बात है। जो भी हो पण्डितराज ने अपने हिन्दूसमाज की नाक रखी थी; ऐसा मैं समझता हूँ।

इतना सब होते हुए भी वे उस मुसलमान की कन्या में सन्तति-वितान नहीं किये। कैसे करते? पण्डित जो थे। भला कोई पण्डित अपनी सन्तति का अपकर्ष कैसे देख सकता है? रही उपभोग की बात तो गङ्गाजी के प्रसाद से विधिवत् किये। इस विषय में भी उनके एक-दो पद्य मिलते हैं। पहला पद्य है—

यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः॥

नवनीत (मक्खन) की तरह मुलायम् अङ्गों वाली वह मुसलमान की लड़की यदि कभी पलंग पर आती है तो मैं मनोरञ्जन के लिए पृथ्वी के तल को अच्छा मानता हूँ। उस समय इन्द्र का नन्दनवन भी फीका है; ऐसा प्रतीत होता है। दूसरा पद्य है—

यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥

मुसलमान की वह कमनीय लड़की विपत्ति को दूर भगाने वाली है; कमनीयता में तो वह नवनीत के समान है। इस संसार में वही व्यक्ति सुखी है जिसकी गोद में ऊहि-ऊहि अमृत वचन बोलती हुई आ जाती है; ऐसा मैं मानता हूँ। इस प्रकार उस मुसलमान की लड़की में रामणीयकत्व होते हुए भी भक्ति का भी प्रकर्ष था; इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। जनप्रवाद के अधिक्य से जब पण्डितराज जगन्नाथ शरीरत्याग के निमित्त गङ्गाघाट के चरमसोपान पर समासीन हुए और गङ्गाजी उनकी एक स्तुति पर एक सीढ़ी बढ़ती हुईं उन्हें जब अपने अङ्क में लेकर चलती बनी तो एकाकिनी उस मुसलमान की लड़की की एक स्तुति ही उसकी गति के लिए पर्याप्त हुई। वह स्तुति है—

सुरधुनि मुनिकन्ये पुण्यवन्तं पुनासि
स तरति निजपुण्यैस्तत्र किन्ते महत्त्वम्।
यदि हि यवनजातिं पापिनीं मा पुनीहि
तदपि तव महत्त्वं तन्महत्त्वं स्फुटं स्यात्॥

"अयि जाह्नवि, गङ्गे! यदि तुम पुण्यात्मा को पवित्र करती हो तो वह अपने पुण्यों से ही तर जाता है फिर उसमें तेरा क्या महत्त्व है? यदि मुसलमानजाति की पापिनी मुझे पवित्र करो तब तेरा महत्त्व सचमुच प्रकाशित हो।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जब शिष्ट विद्वान् कभी मर्यादा का उल्लङ्घन कर भी देता है तो उसे अपने तक ही सीमित रखता है। अपनी अपकीर्ति का बीज आने वाली अपनी सन्तति में नहीं बोता। लेकिन आज का मूढ समाज जब यह अकार्य कर रहा है तो उसकी सन्तति को वर्णसङ्करता का लाञ्छन ढोना ही पड़ेगा। एतावता अभी तक यही सिद्ध हुआ कि अनादि संसार में ब्राह्मणत्वादि वर्णों के विभाग में ब्राह्मणमाता-पितृजन्यत्वादि की अपेक्षा से ज्ञेय ब्राह्मणत्वादि जाति ही नियामक है अथवा प्रभाकर के मत में ब्राह्मणमातापितृजन्यत्वादिरूप उपाधि है। दोनों मतों में उपपत्ति हो जायेगी। चाहे जाति मानें या उपाधि; अनादित्वेन पूर्व में ही ब्राह्मणत्वादि वर्णों का विभाग सिद्ध होगा ही। इस विषय में गीता भी अनुकूल है। यथा—

ब्राह्मणक्षत्रयविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवै र्गुणैः॥

(गीता १८/४१)

अर्थात् हे अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के और शूद्रों के कर्म उनके अनादिसिद्ध स्वाभाविक गुणों के आधार पर प्रविभक्त हैं। प्रकर्षेण विभक्त हैं। यहाँ पर ध्यान से विचार करने पर पूर्व प्रतिपादित मेरे वचनों की सिद्धि ही होगी। देखिये न! भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मणादि जो वर्ण हैं उनके अलग-अलग कर्म हैं जो कि परस्पर के विभाग से पहले से ही व्यवस्थित हैं। भगवान् यह नहीं कहते कि अमुक-अमुक कर्म हैं, जो जिसको अपनायेगा वह उस वर्ण का हो जायेगा। वे पहले ही वर्णों की ही गिनती करते हैं। एक या दो वर्णों की ही नहीं, चारों वर्णों की। चारों वर्णों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं; ऐसी उद्घोषणा वे पौन-पुन्येन करते हैं। चातुर्वर्ण्य स्वाभाविक रूप से भगवान् को अभीष्ट है। कहते भी हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(गीता, ४/१३)

यहाँ पर मीमांसा के अनुसार सृष्टि के न मानने पर उक्त वचन को भगवत्प्राशस्त्यपरक या मात्र गुणकर्मविभाग के साथ वर्णविभागपरक माना जायेगा। वेदान्तमत के अनुसार सृष्टि को स्वीकार करने पर चारों वर्णों की रचना स्वीकार कर लेने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। चाहे अनादिता हो,

चाहे ईश्वर की रचना का क्रम हो। पूर्व में ही वर्णों के विभाग को बिना माने दूसरी कोई गति है ही नहीं। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि 'चातुवर्ण्यं मया सृष्टम्'। ज्यों ही वर्णों के विभाग की रचना हुई त्यों ही उनके कर्म भी विभक्त होकर जुड़े कि अमुक कर्म ब्राह्मण के लिए, अमुक क्षत्रिय के लिए, अमुक वैश्य के लिए और अमुक शूद्र के लिए आचरणीय हैं। तत्तद्वर्णों की उत्पत्ति में भी शुभाशुभ पूर्वजन्मों का कर्म ही कारण है, यह दूसरी वार्ता है। सर्वथा वर्णविभाग की पूर्वता माननी ही पड़ेगी अन्यथा कर्मों का विभाग नहीं हो पायेगा। इन्हीं सभी कारणों से भगवान् को शुरू में ही वर्णों का नाम लेना पड़ा। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य' इन तीनों वर्णों में समास किया, वह इसलिए कि इन तीनों के वेदाध्ययन यज्ञादि का ज्ञापन हो सके। 'शूद्राणाम्' से शूद्र को अलग रखा। वह भी इसलिए कि उनको उक्त कर्मों से अलग किया जा सके। शास्त्र उनके लिए संस्कारों का निषेध करता ही है। इसीलिए असंस्कृत सारे व्रात्य भी शूद्रों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। सर्वथा शूद्रभूयस्त्व में प्रमाद कारण है। वर्णों के तारतम्य को समझने के लिए ही 'स्वभावप्रभवै गुणैः,' यह कहना पड़ा। अर्थात् वर्णों के ऊपर कर्मों को थोपा नहीं गया अपितु स्वाभाविक गुणों के आधार पर ही उनका विभाग कर दिया गया। अब समझिये कि वर्णों के गुणों में स्वाभाविकत्व क्या चीज है?

स्वस्य भावः स्वस्मिन् वा भावः स्वभावः। अर्थात् अपनी सत्ता ही स्वभाव है। तत्र स्वभावे भवः स्वाभाविकः। उस अपनी सत्ता में अपार्थक्येन होने वाला गुण ही स्वभाविक गुण कहा जाता है। इस प्रकार 'स्वभावप्रभवैः' पद से गुणों का तत्तद्वर्णों से अपार्थक्य ही कहा गया है। तत्तद्गुणस्वरूप ही वर्ण होते हैं; यह फलितार्थ है। इस प्रकार से भगवान् पहले वर्णविभाग को नियतरूप से व्यवस्थित करते हैं फिर तत्तद्वर्णों के आधार पर कर्मों का विभाग करते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कर्म के आधार पर वर्ण का विभाग भगवान् किये हैं। ऐसा होने पर भगवान् की भगवत्ता ही क्या रह जायेगी? कोई भी व्यक्ति आचार का आकलन करके विभाग कर सकता है। भारतसरकार भी यह कार्य कर सकती है। फिर इसमें और भगवान् में भेद ही क्या रहा? भगवान् की भगवत्ता तब है जब किसी भी मनुष्य की सोच के ऊपर प्रारब्धानुसार भिन्न-भिन्न स्वाभाविक गुणों को रच दे। भिन्न-भिन्न

स्वाभाविक गुणों को बनाना ही चातुर्वर्ण्य का विभाग है। फिर उनके कर्मों का विभाग है। कैसे? भगवान् कहते हैं—

शमो दमस्तथा शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृति र्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्वकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

ब्राह्मणादि वर्णों के ये सभी स्वभाविक कर्म हैं। इसीलिए हर वर्ण के कर्मों को प्रतिपादित करके भगवान् 'स्वभावजम्' कहना नहीं भूले हैं। विपरीत अर्थ समझने वालों से मैं पूछता हूँ कि 'स्वभावजम्' क्यों आया है? है कोई उत्तर? 'स्वभावजम्' का मतलब यही है कि अनादिसिद्ध पूर्वविभक्त तत्तद्वर्णों के ही ये कर्म हैं। स्वभाव क्या बदला जा सकता है? कथमपिं नहीं। अग्नि को शीतल नहीं किया जा सकता। पृथ्वी को निर्गन्ध नहीं किया जा सकता। ज्यादा क्या कहूँ? प्राकृतिक जितनी संरचनायें हैं उन सबका अपना-अपना अलग स्वभाव है। किसी में ताकत जो उन रचनाओं को उनके स्वभाव से अलग कर दे? सिंह सिंह ही है। उसे गीदड़ नहीं बनाया जा सकता। गीदड़ गीदड़ है। सिंह की खाल ओढ़ कर वह सिंह नहीं हो सकता। गीदड़ आदि की खड़खड़ाहट तभी तक होती है जब तक सिंह की गम्भीर गर्जना नहीं होती। किसी कवि ने अच्छा भाव व्यक्त किया है—

मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरै र्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत्तद्गर्जितं गर्जितम्॥

हे हाथियों! तुम्हारे चिग्घाड़ने से क्या प्रयोजन है? हे गीदड़ों! तुम लोगों के निष्फल आडम्बर से भी क्या होगा? हे मृग और भैसों! अपना-अपना घमण्ड छोड़ो। शून्य स्थान में कौन बहादुर नहीं होते? कोप के आधिक्य से जिसकी गर्दन के बाल उठ गये हैं; उस हाथी के दुष्मन सिंह के सामने समुद्र की तरह गम्भीर गर्जना होने पर अगर कोई गर्जना होती है तो वही सार्थक गर्जना है। अभिप्राय यही है कि सिंह के शौर्य्य के सामने अन्य

पशुओं का शौर्य बेकार है। इसीलिए कहता हूँ कि हर वर्ण का अलग-अलग स्वभाव है। स्वभाव का भेद ही वर्ण के पार्थक्य में निमित्त है। उसका संततिविशेष से ही जन्म हुआ करता है। इस प्रकार ब्राह्मणादि-सन्ततिप्रभवत्व ही ब्राह्मणत्वादि के व्यवहार में नियामक है; यह उचित ही शास्त्रकार कहते हैं। इस प्रकार स्वभाव से ही ब्राह्मण के कर्म हैं शम अर्थात् अन्त:करण का शमन, दम अर्थात् बहिरिन्द्रियों का निग्रह, पवित्रता, सहनशीलता, अकुटिलता, ज्ञान, निश्चय, स्वरूपविज्ञान, आस्तिकता आदि। क्षत्रिय के कर्म हैं—सिंह की तरह शूरता, दूसरों से पराभूत न होने वाला तेज, युद्धादिकर्म में अनवसादरूप धैर्य तथा सारी क्रियायों में चातुर्य, युद्ध में डटे रहना, अर्थियों के लिए सर्वस्वसमर्पणरूप दान, ईश्वरभाव अर्थात् कुमार्गगामी प्रजाओं के नियन्त्रण का सामर्थ्य। वैश्य के कर्म हैं—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य। शूद्र के कर्म हैं—द्विजातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा। संक्षेपत: यह समझना चाहिये कि जिसके जो स्वभावज कर्म हैं वे उसमें अधिक मात्रा में रहते हैं; औरों में कुछ मात्रा रह सकती है। जैसे शौर्य क्षत्रिय का स्वभावज कर्म है तो ब्राह्मणों में भी उसकी मात्रा रहेगी। शमदमादि ब्राह्मण के कर्म हैं तो क्षत्रियों में भी कुछ मात्रा स्वाभाविक तौर पर रहेगी। ऐसा लोकव्यवहार में देखा जाता है। द्रोणाचार्य, परशुराम, अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण थे तो क्या उनमें शौर्य की कमी थी? जनक, विश्वामित्र, दधीचि, जह्नु, ययाति आदि क्षत्रिय थे तो क्या उनमें शमदमादि की कमी थी? कथमपि नहीं। ज्यादा नहीं तो एक आध अंश तक ब्राह्मण-क्षत्रिय के स्वभाविक धर्म की मात्रा यत्र कुत्रचित् वैश्य में भी पहुँच जाती है। वैश्यकर्म की मात्रा भी कुछ अंश तक ऊपरी वर्ण में जाती है। इस प्रकार 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से परिगमन कर लेना चाहिये कि जिसमें जिसकी प्रधानता हो वह उसका स्वभाविक कर्म है। यही कारण है कि आपत्ति में अन्योन्यता को स्वीकारने की अनुमति शास्त्र दे देता है। अब कहिये कि जो जैसा करे उसे वैसा मानिये तो सरासर बेइमानी होगी। वैसे यह तय नहीं है कि जो जैसा चाहेगा वैसा कर देगा। शमदमादि या शौर्यादिरूप ब्राह्मण और क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों को करना कोई आसान काम नहीं है। यह वेश्या का स्तन नहीं है कि जो चाहे जब चाहे पकड़ ले। एक बात याद आ गयी। सेना में भरती हो रही थी। सब के सब जा रहे थे

लेकिन नियुक्ति होती थी कम लोगों की। बात यह थी कि नियोजक नियोज्य के सर पर मुर्गी का अण्डा रख देता था और बन्दूक का निशाना लगाता था। शौर्य्य-परीक्षण का अच्छा तरकीब निकाला था वह अंग्रेज। उस परीक्षण में कोई विरला ही सफल होता था। एक दिन कोई शूद्र का लड़का घर से नाराज होकर सेना में भरती होने के लिए चला। उसे इतना निर्वेद हो चला था कि मरना, जीना एक समझ लिया था। घर में जीने से अच्छा वह लड़ाई में मरना पसन्द किया था। हाँ, तो नियोजक महोदय के पास आया और कहा कि साहेब; मैं भी सेना में भरती होकर एक सैनिक के रूप में देश-सेवा करना चाहता हूँ। नियोजक को लगा कि वाह, यह तो कोई साहसिक क्षत्रिय ही आ धमका है। बस देर किस बात की थी? अण्डा उसके सर पर रख कर निशाना साधा। अण्डे के चिथड़े हो गये। नियोजक बहुत प्रसन्न हुआ। उस लड़के की पीठ थपथपाते हुए बोला—"तू बहादुर है। तेरी भरती हो गयी।" लड़के ने कहा कि नहीं होना है मुझे सेना में भरती। पहले साबुन खरीदने के लिए पैसा दो। कपड़ा गन्दा हो गया है। हुआ यह था कि वह लड़का पेशाब के साथ कुछ और कर दिया था। शिव, शिव! हाँ तो पहले कोई किसी दूसरे का स्वाभाविक कर्म कर नहीं पायेगा। यदि करता ही है तो वर्ण-परिवर्तन कैसे? अर्थात् यह कहो कि ब्राह्मण शूद्र का कर्म करता है तो शूद्र हुआ और शूद्र ब्राह्मण का कर्म करता है तो ब्राह्मण हुआ। इस पर मैं पूछता हूँ कि शूद्र का कर्म क्या है कि जिसे करने से ब्राह्मण शूद्र हो जायेगा? क्या प्याज, लहसुन, अण्डा, मुर्गा, गांव का सुअर आदि अभक्ष्य पदार्थ खाना या शराब आदि अपेय वस्तु का पीना या भोज्य पदार्थों में भी गन्दा, बासी भोज्य खाना या बिना स्नान के बिना हाथ-पैर धोये खाना-पीना, या जूता पहने खाना या खड़े-खड़े खाना या पशुओं की तरह खड़े-खड़े मल-मूत्र का विसर्जन करना या विसर्जन करके मृत्तिकादि से हस्तपाद का शोधन न करना या स्नान न करना और कभी भी किसी भी अवस्था में स्त्री-गमन करना अर्थात् गमनागमन का विचार न करना आदि आदि? ये सभी शूद्र के कर्म हैं; ऐसा मैं नहीं मानता। ये कर्म नहीं हैं। ये तो कुकर्म हैं। जो भी इसे करेगा वह दोषग्रस्त होगा ही। चाहे ब्राह्मण करे, चाहे क्षत्रिय, चाहे वैश्य या चाहे शूद्र करे, दोष तो सभी को लगेगा अर्थात् अकार्यकरण से सर्वत्र अनिष्ट है। हाँ, शास्त्र ने शूद्रों में कुछ

छूट ज़रूर दे रखी है। अकरणीय कार्य करने से शूद्रों का अनिष्ट कम होता है। क्यों ? क्योंकि वे असंस्कृत पहले से ही हैं। उसमें कुछ कुकर्म हो गया तो क्या बिगड़ता है ? जैसे चालीस अभियोग जब पहले से ही हैं तो एक-या दो और बढ़ जाने से विशेष हानि नहीं। जैसे पचीस वैसे घसीट। अगर कोई पहले से ही पाक है, उसमें यदि एक छोटा सा भी धब्बा लग जाय तो बहुत बड़ी बात होगी। एक थे ब्रह्मचारी जिनकी हर क्रिया नियम से होती थी। आठ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य से रहे। बड़े ही सात्त्विक महात्मा थे। संयोग की ही बात थी किसी लड़की के चंगुल में आ गये। दश मिनट में ही आठों वर्षों की तपस्या खाक में मिल गयी। अवकीर्णी जो हो गये। अवकीर्णी ब्रह्मचारी के लिए एक ही प्रायश्चित्त है कि वह चौराहे पर गदहे से निर्ऋृति देवता का याग करे। 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैऋतं गर्दभमालभेत।' तो उन ब्रह्मचारी महोदय का अवकीर्णी होने का बहुत दुःख था। उनको रोते हुए भी लोगों ने देखा था। यदि वही अभ्यस्त व्यक्ति हो तो वह एक-दो केश दायें-बायें से झेल सकता है।

इसलिए इसका दोष शूद्रों को कम होता है। असंस्कृतत्वादेव। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ये सभी शूद्रों के स्वाभाविक कर्म हैं। उनका स्वाभाविक कर्म है द्विजाति-सेवा। चाहें तो वे पशुपालन, कृषि आदि भी कर सकते हैं। व्रतोपवासादि भी समय-समय पर करते रहें तथा अभक्ष्य भक्षणादि न करें तो सोने में सुहागा। मैं कब कहता हूँ कि शूद्र अपना परलोक न बनावें। बनावें, मगर अधिकार के दायरे में रह क़र। अभी संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनकी कुलपरम्परा में जितनी धार्मिक मर्यादायें हों उनका अनुशीलन वे अवश्य करें। यह तो सभी के लिए है कि अपनी परम्परा का निर्वाह अवश्य किया जाय। यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य, भी कुल-परम्परा का निर्वाह नहीं करते तो मैं उन्हें शूद्र से भी बदतर 'पशु' कहने में भी नहीं चूकूँगा। इस प्रकार शूद्र का स्वाभाविक कर्म है 'द्विजाति-सेवा'। अब आप पूछेंगे कि यह क्यों है तो अवश्य सुनिये। द्विजाति का शास्त्र में अधिकार है। क्यों और कैसे ? तो प्रकरण आने पर चर्चा होगी। शास्त्र की मर्यादाओं का इन्हें ज्ञान होता है। अब शूद्रों को इनका ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि शास्त्र में तो उनका अधिकार है ही नहीं। तो एकमात्र साधन बनती है 'सेवा'। सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः। सेवा धर्म परम

गहन है, जो योगियों के लिए भी अगम्य है। बड़ी से बड़ी वस्तु भी सेवा से प्राप्त हो जाती है। कुछ शास्त्रीयतत्त्वों का ज्ञान शूद्रों को भी हो जाता है मात्र सेवा से। सेवा से ब्राह्मण प्रसन्न होगा तो अवश्य ही आम (कच्चा) श्राद्ध स्वीकार करके शूद्रों के लिए भी परलोक का मार्ग प्रशस्त करेगा। यदि ब्राह्मण किसी का दान स्वीकार करता है तो उसकी बहुत बड़ी कृपा समझनी चाहिये बगरना कर्मनिष्ठ ब्राह्मण बहुत मुश्किल से प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं। ब्राह्मणों से भी मैं कहूँगा कि अधिकारी व्यक्ति बिना याचना से कुछ देता है तो अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि मेरे वचन में विश्वास नहीं है तो समझिये कि यह मनु का अनुशासन है—

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापति र्ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः॥

(मनु० ४/२४८)

अर्थात् दान लेने वाले के पास लायी हुई, सामने बिना किसी की प्रेरणा से दी हुई भिक्षा (सिद्ध अन्न को छोड़कर हिरण्यादि रूप) पापकारी से भी ले लेनी चाहिये। यह प्रजापति ब्रह्मा का अनुशासन है। ऐसा न करने पर दोष होता है। इस प्रकार द्विजाति-सेवा का स्पष्ट लाभ दृष्ट ही है। अब कहिये कि सेवा शूद्र का धर्म है तो द्विजाति यदि सेवा करता है तो वह शूद्र ही हुआ तो कहने वाले की अगाध मूर्खता ही प्रकट होगी। 'गुरुशुश्रूषया विद्या' अर्थात् गुरु की सेवा से विद्या मिलती है; इसीलिए यदि त्रैवर्णिक शिष्य ब्राह्मण गुरु की सेवा करता है और यदि कोई क्षत्रिय अपने घर में आहूत करके किसी ब्राह्मण का चरणप्रक्षालनपूर्वक कुछ सेवा कर देता है या शिष्ट वैश्य ही ब्राह्मणसेवा कर देता है तो क्या ये त्रैवर्णिक शूद्र हो गये? यदि ऐसा है तो मात्र एक वर्ण 'शूद्र' ही मानना चाहिये। क्योंकि ब्राह्मण-सेवा तो त्रैवर्णिक भी करते हैं। आचारवान् ब्राह्मण तो भूलोक का देवता है। वह सबकी गति है। ब्राह्मण से बैर करके कोई कहाँ जायेगा। जल में रहकर मगरमच्छ से बैर? यदि परलोक भी कोई वस्तु है, वेद की शाश्वत सत्ता है, जगद्-व्यवहार या शरीर-व्यवहार अनित्य है अर्थात् अध्यस्तशरीर की त्रैकालिक सत्ता नहीं है तो भूदेवता का अपलाप नहीं किया जा सकता। अनादि काल से चली आ रही अपनी शाश्वत मान्यता को नहीं मिटाया जा

सकता। जिस क्षण शास्त्रीय मान्यता का प्रत्येक व्यक्ति में अभाव होगा वही क्षण प्रलय का क्षण होगा। एक भी शास्त्रीय मर्यादा से सम्पन्न व्यक्ति यदि भूलोक में रहेगा तो निश्चय ही पृथ्वी सारे पशुओं का भार वहन करती रहेगी। मैं सबकी नहीं कहता किन्तु अपने विचार में यही बात बार-बार आ रही है कि यदि एक आचारसम्पन्न कर्मनिष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण की सुरक्षा का प्रश्न आये तो उसमें सारे संसार को अपनी बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिये। ऐसे ब्राह्मण की सुरक्षा करना भारत के ही नहीं विश्व के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। क्यों? क्योंकि वह सारे संसार का गुरु है। इसीलिए कि विद्या स्वयं ब्राह्मण का ही वरण करती है। 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' विद्या कामरूपिणी होकर ब्राह्मण के पास आयी और गद्‌गद् होकर बोली—'गोपाय माम्' मेरी रक्षा करो! क्यों? 'शेवधिष्टेऽहमस्मि' तेरी मैं निधि हूँ अर्थात् जिस तरह सेठ धन की रक्षा करते हैं उसी तरह हे ब्राह्मण! तुम भी अपनी निधि मेरी रक्षा करो! कैसे? 'असूयकायानृजवेऽयताय मा ब्रूयाः' निन्दक, कुटिल और अजितेन्द्रिय को मुझे मत दो! क्यों? वीर्यवती तथा स्याम्। ऐसा करने से ही मैं निग्रहानुग्रहसामर्थ्य से सम्पन्न होऊँगी। यह वेद का ज्ञापन स्पष्ट रूप से ब्राह्मण को गुरुत्वेन स्वीकार कर रहा है। ऐसा क्यों? तो मानना ही पड़ेगा 'ब्राह्मणों में सत्त्वप्रकर्ष'। जिसकी उत्पत्ति ही धर्मार्थ है वह कैसे नहीं गरीयान् होगा? महाराज मनु मूर्ख नहीं थे कि जो क्षत्रिय होकर यह कहते हैं—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्ति र्धर्मस्य शांश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(मनु० १/९८)

अर्थात् ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वती (सनातन) मूर्ति है क्योंकि वह धर्म के लिए ही उत्पन्न होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। ब्राह्मण उत्पन्न होते ही धर्म की रक्षा के लिए समर्थ होता है जैसा कि मनुजी महाराज कहते हैं—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥

(मनु० २/९९)

ब्राह्मण के लिए भी ज़ब दूसरा ब्राह्मण पारलौकिक गति प्रदान करता है तो औरों के लिए कैसे नहीं कर सकता? उसके दिल से पूछिये कि जिसके पिता आदि के श्राद्ध में यदि ब्राह्मण नहीं मिलते तो उसकी क्या दशा होती है? प्रत्यक्ष मैंने एक व्यक्ति को प्रमुक्त कण्ठ से रोते देखा है। इस प्रकार ब्राह्मण से द्वेष करके कोई भी प्राणी कहाँ जायेगा? अभिप्राय यही है कि त्रैवर्णिक भी यदि ब्राह्मण-सेवा कर दिये तो क्या शूद्र हो गये? कथमपि नहीं। यदि ऐसा मानोगे तो एक ही ब्राह्मण अपने घर की सफाई करता हुआ शूद्र हुआ, गोपालन करता है तो वैश्य हुआ, अपने परिवार की रक्षा करता है तो क्षत्रिय हुआ और सन्ध्या-वन्दनादि करता है तो ब्राह्मण हुआ। एक ही व्यक्ति में चातुर्वर्ण्य! शिव शिव! महाननर्थ। वार्तिककारपाद ने ठीक ही कहा है—

"स एव शुभाचारकाले ब्राह्मणः पुनरशुभाचारकाले शूद्र इत्यनवस्थितत्वम्। तथैकेनैव प्रयत्नेन परपीडानुग्रहादि कुर्वतां युगपद् ब्राह्मणत्वाब्राह्मणत्वविरोधः।" (तन्त्रवार्तिक, १.२.२)

वही ब्राह्मण यदि शुभ आचार करता है तो उस समय ब्राह्मण और पुनः अशुभ आचरण के समय शूद्र हुआ; इस प्रकार की अव्यवस्था आती है। जैसे कि एक ही प्रयत्न से दूसरे को दुःख और सुख नहीं दिया जा सकता। किं तर्हि? भिन्न-भिन्न प्रयत्न की आवश्यकता पड़ेगी। सुख के लिए दूसरा प्रयत्न और दुःख के लिए दूसरा प्रयत्न करना ही पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को गाली देकर यदि दुःखी किया जा रहा हो तो उसी गाली से उसे सुखी नहीं किया जा सकता वैसे ही एक ही व्यक्ति में ब्राह्मणत्व और अब्राह्मणत्व दोनों धर्म रहें; यह सम्भव नहीं है। क्या प्रकाश और अन्धकार को एकत्र किया जा सकता है? कथमपि नहीं। तो फिर वैसे ही विरुद्ध धर्मों को एकत्र नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रभाकर का पक्ष मानें या कुमारिलभट्ट का; दोनों पक्षों में संसार के अनादित्व-व्यवहार को स्वीकार करते हुए सन्ततिविशेषजन्यत्व को ही ब्राह्मणादिव्यवहार में निमित्त मानना पड़ेगा। अर्थात् संस्कृत ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न को ब्राह्मण कहा जायेगा। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों में भी समझना चाहिये। शूद्रों में भी यही व्यवस्था चलेगी, ऐसा विस्तार से प्रतिपादन कर ही दिया हूँ।

त्रैवर्णिकों में व्यभिचार की आशङ्का

साधु आह भवान्। तथापि अनादि संसार में ब्राह्मणादिव्यवहार शुद्ध ही है; इस बात को दृढ़ता से कैसे कह सकते हैं? क्यों? स्त्रीणां व्यभिचार-दर्शनात्। स्त्रियों में व्यभिचार देखा ही जाता है। अभियुक्तों ने कहा भी है—

रहः नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद! नारीणां सतीत्वमुपजायते॥

अर्थात् एकान्त न मिलने से, समय न मिलने से और प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के अभाव में नारियों का सतीत्व बरकरार रहता है। यदि एकान्तादि-लाभ हो तो उनमें व्यभिचार का वारण असम्भव सा ही है। अधिक क्या कहा जाय, वेद भी नारियों के अपतिव्रतात्व का ज्ञापन करता ही है—

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता।

नूतन वस्तु की प्रार्थना करते रहना उनका स्वभाव भी है। जैसे गौवें नयी-नयी घास खोजती हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी नये-नये पुरुषों की प्रार्थना करती हैं।

गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम्।

अपि च; नारियां व्यभिचार के लिए हँसती हैं तो कभी रोती हैं। पुरुषों को विश्वास दिलाती हैं किन्तु स्वयं विश्वास नहीं करतीं। ये वामनयनायें पुरुषों के सरल हृदय में प्रवेश करके क्या-क्या अकाण्ड नहीं करतीं?

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोः
विश्वासयन्ति पुरुषं न च विश्वसन्ति।
एताः प्रविश्य हृदयं सरलं नराणां
किं किं न वामनयना न समाचारन्ति॥

अपि च; दूसरे के साथ बोलती हैं तो किसी अन्य को हावभाव से देखती हैं और हृदय में किसी तीसरे का चिन्तन करती हैं। एवम् स्त्रियों का कौन प्रिय हो सकता है?

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम्॥

अपि च; अग्नि की लकड़ी से तृप्ति नहीं होती, नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती और यमराज की प्राणियों से तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार नारियों की पुरुषों से तृप्ति नहीं होती।

नाग्नि स्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना॥

यदि कोई समझे कि नारी किसी को अपना दिल दे दी है तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल ही समझी जायेगी। क्यों? क्योंकि वैसा समझने वालों को औरतें अपना खिलौना समझती हैं। अभियुक्तों ने बुरा नहीं कहा है—

यो मोहात् मन्यते मूढो रक्तेयं मम कामिनी।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत् क्रीडाशकुन्तवत्॥

अभिप्राय यही है कि स्त्रियों में काम की प्रधानता होती है, अतः वे कामतृप्ति के लिए किसी से भी सम्पर्क स्थापित कर सकती हैं। फिर आप कामिनीमूलक ब्राह्मणदिकुल की शुद्धता की गारण्टी कैसे ले सकते हैं? अभियुक्तों ने कहा भी है—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना?

अर्थात् यह संसार अनादि है और स्त्री-पुरुषों के कामप्रवाह को रोकना भी असम्भव है। कुल का मूल भी कामिनी (काम से युक्त) है फिर जाति की कल्पना कैसे की जा सकती है। इसी बात को तार्किकशिरोमणि कविचक्रवर्ती श्रीहर्ष भी कलि के मुख से कहते हैं—

शुद्धं वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रो र्यदेकशः।
तदनन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का?
(नैषध; १७/३९)

माता-पिता की प्रत्येक शुद्धि के द्वारा दोनों वंशों के शुद्ध होने पर शुद्ध ही पुत्र होता है, इस प्रकार उस अनन्त कुल के अदोष से निर्दोष जाति जो मानते हैं वह क्या है? कुछ नहीं है। स्त्रियों में व्यभिचार के दर्शन से हम विशुद्ध ब्राह्मणत्वादिजाति को नहीं मान सकते। एवम् मनुष्यों के सारे प्रकार वर्णसाङ्कर्य से ग्रस्त हैं, यह मानना ही न्यायसंगत होगा।

समाधान

आप की दृष्टि में ज़रूर कोई-न-कोई खोट है जिससे आप कर्मतन्त्र या ईश्वरतन्त्र पर कुठाराघात करना चाहते हैं। क्या हर नारियाँ आप को व्यभिचारिणी ही दिखायी दे रही हैं? ऐसा मैं समझूँगा। आप आर्यों के आचार-विचार और मर्यादाओं को नहीं जानते। अनन्त वर्ष पहले वेद की

जितनी मात्रायें थीं और उनका जैसा क्रम-स्वर था वही आज भी विद्यमान है। इसकी जानकारी आप उन ब्राह्मणों से कर सकते हैं जो गुरु परम्परा के क्रम से वेदों और वेदोदित क्रियाकलापों का संरक्षण करते आ रहे हैं। 'मात्रामात्राविप्लुतिदर्शनेन वेदशाखानां परिपाल्यमानत्वात्।' अर्थात् जो हमारे शिष्ट त्रैवर्णिक वेद की शाखाओं की एक-एक मात्रा और एक-एक स्वर का अपरित्याग करते हुए संरक्षण करते चले आ रहे हैं वे अपने कुल और अपनी मर्यादा को भूलते आये हैं; यह कहना बहुत बड़ा साहस होगा। आज भी शिष्ट त्रैवर्णिक उसी मर्यादा में जी रहे हैं। जिनमें मर्यादा नहीं वे त्रैवर्णिक नहीं। इसीलिए गौतमबुद्ध ने जब वेद का विरोध करके सनातन मर्यादा को छोड़ा तभी वे क्षत्रिय होते हुए भी त्रैवर्णिक नहीं रहे। अतः उनकी स्मृतियों का अप्रामाण्य घोषित किया गया। जिसका विवेचन मैं अनुपद ही क्रिया के प्रामाण्यनिरूपणप्रसङ्ग में करूँगा। तो स्त्री-विषय में त्रैवर्णिकों की मर्यादा सुनिये।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

बाल्यकाल में स्त्रियाँ पिता के संरक्षण में, यौवनकाल में पति के संरक्षण में और वार्धक्यकाल में पुत्र के संरक्षण में रहती आयी हैं क्योंकि वे स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं। न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः। स्त्री का किसी भी तरह से स्वातन्त्र्य नहीं है। क्यों? क्योंकि स्वातन्त्र्य से उनके बिगड़ने की सम्भावना रहती है। 'जिमि स्वतन्त्र भए विगरहिं नारी' ऐसा गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं। हमारे आर्यों में नारीसंरक्षण की मर्यादा अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। आप के उदाहृत स्त्री-निन्दा वचनों का अभिप्राय क्या है? इसे आप नहीं जानते। अनभिप्रायज्ञो देवानां प्रियः। मीमांसा में एक न्याय है। क्या? 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रभवति अपि तु विधेयं स्तोतुम्'। अभिप्राय यह है कि किसी की भी निन्दा का तात्पर्य व्यक्ति की निन्दा से नहीं होता। किन्तर्हि? उसका तात्पर्य प्रतिपाद्य वस्तु की स्तुति से होता है। जैसे वेद में आया है— 'अपशवो ह वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः'। अर्थात् गो और अश्वों से अन्य पशु नहीं हैं, पशु तो गो और अश्व ही हैं। यहाँ पर गदहे, सिंह आदि पशुओं की निन्दा हुई। क्यों? क्यों क्या? मैं आपको यदि कहूँ

कि आप मनुष्य नहीं है तो आप को अच्छा लगेगा? वैसे ही गो और अश्वों को ही पशु कहने पर अन्य जो गदहे, सिंह आदि पशु हैं, उन्हें बुरा नहीं लगेगा? इसीलिए उस वेद-वचन का तात्पर्य निन्दा में न मान कर घोड़ों और बैलों के प्राशस्त्य में माना गया है कि गो और अश्व दानादि कार्यों में प्रशस्त हैं। ठीक इसी न्याय से जहाँ कहीं भी स्त्री-निन्दा का प्रसङ्ग आया है वहाँ निन्दा का अभिप्रायान्तर समझना चाहिये। क्या? यही कि स्त्री-संरक्षण के विषय में प्रमाद मत करो नहीं तो स्त्री के बिगड़ने पर कुल के बिगड़ने का खतरा रहेगा। उन पर हर प्रकार की दृष्टि रखो। हर तरह से उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिये। वस्त्र से, अलङ्कार से, भोजन से, प्रियवचन से और संभोग से। इन पाँचों प्रकारों से जहाँ स्त्रियाँ सन्तुष्ट रहती हैं वहाँ सुख-शान्ति रहती है और उत्तम सन्तति भी होती है। असन्तोष होने पर कलह आदि की सम्भावना रहती है। शायद इसी अभिप्राय से अभियुक्तों ने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं अर्थात् सुख-समृद्धि बनी रहती है। इन्हीं सभी कारणों से हमारे शिष्टगण स्त्री के विषय में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम ने पूरे मनोयोग से रावण से मोर्चा लिया और अन्त में भगवती जगज्जननी को हासिल किया। दिखावे के लिए अग्नि-परीक्षा हुई अन्यथा अग्नि की इतनी मज़ाल कि वह उसे शुद्ध करे जिसके स्मरणमात्र से सारी दुनियाँ पवित्र हो जाती है। कहने का अभिप्राय यही है कि नारी के नारीत्व की रक्षा के लिए हमारे हिन्दू तन-मन-धन सभी कुछ निसार कर देते हैं। क्या अलाउद्दीन पापात्मा हमारी श्रद्धा की देवी पद्मावती का सत्त्व हरने में समर्थ हुआ? कथमपि नहीं। हमारे हजारों हिन्दुओं ने अपने को कुर्बान कर डाला मगर सतीत्व पर आँच नहीं आने दी। हमारी संस्कृति में ही यह मान्यता है कि नारी जिसका एक बार हाथ पकड़ लेती है वह उसका छाया की तरह अनुगमन करती है। यह नहीं कि तलाक से एक भौरे को छोड़ दूसरे के यहाँ जाती रहे। एवम् स्त्री-निन्दा का अभिप्राय उनके संरक्षणमात्र से है। ब्राह्मण और क्षत्रियों की स्त्रियाँ यहाँ की आदर्श रही हैं जिनका स्मरण करके पूरे विश्व की स्त्रियाँ अपने को गौरवान्वित समझ सकती हैं। अनुसूया, अरुन्धती, लोपामुद्रा,

दमयन्ती, सीता, गान्धारी आदि नारियाँ उदाहरण हैं जिनके प्रति मनुष्यों की चर्चा दूर रही, देवता भी नतमस्तक हुए हैं। आज भी जिन घरों में शास्त्रीय मर्यादा कायम है वहाँ शतप्रतिशत नारियाँ विशुद्धचरित्र हैं। कैसे? तो वर्तिककारपाद के वचनों को उद्धृत करता हूँ—

"न च स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचारदर्शनात् सर्वत्रैव कल्पना युक्ता, लोकविरुद्धानुमानासंभवात्। विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीनाः परिरक्षन्त्यात्मानमनेनैव हेतुना राजभि र्ब्राह्मणैश्च स्वपितृ-पितामहादिपारम्पर्याविस्मरणार्थं समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि। तथा च प्रतिकुलं गुणदोषस्मरणात् तदनुरूपाः प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते।"

(तन्त्रवार्तिक, १/२/२)

अर्थात् स्त्रियों में यदि कहीं व्यभिचार का दर्शन होता भी है तो सर्वत्र व्यभिचार ही उनमें व्याप्त है, ऐसी कल्पना का कोई आधार नहीं है। लोक से विरुद्ध अनुमान सम्भव ही नहीं है। न्याय भी है कि 'दृष्टानुसारिणी कल्पना भवति न हि दृष्टवैपरीत्येन' अर्थात् दृष्ट के अनुसार ही परिकल्पना होनी चाहिये न कि दृष्ट के विपरीत। अन्यान्य अदृष्टकल्पना अनर्थ की जननी होती है। यदि क्वचिद् व्यभिचार से सर्वत्र व्यभिचार की कल्पना कर भी लिया जाय तो उसका परिणाम समस्त लोकवेदोभयव्यवहार का समुच्छेदक होगा। कोई पुरुष अपने को शुद्ध नहीं समझेगा तथा माता-पितामहादि के प्रति उसकी श्रद्धा समाप्त हो जायेगी। मातापितृनिमित्त कोई उनका पारलौकिक कर्म नहीं करेगा। स्वामिनारायणीय भक्तों की भाँति। शङ्काग्रस्त पुरुष अपने-अपने वेदैकसमधिगम्य कर्मों में प्रवृत्त भी नहीं होगा। परिणामतः वेद अप्रासङ्गिक हो जायेंगे। फलतः धर्मनिरपेक्षता का अकाण्ड ताण्डव होगा। जो धर्मनिरपेक्षता नेतृवर्ग तक ही सीमित है वह पूरे भू-मण्डल में व्याप्त हो जायेगी तथा सारी सनातन मर्यादा का समूल उच्छेद हो जायेगा। पशु से भी विगर्हित जीवन जीने को आदमी विवश हो जायेगा। अतः सर्वत्र व्यभिचार की कल्पना उचित नहीं। इसीलिए महाकुलीन ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त हिन्दू आर्य विशिष्टप्रयत्न से अपनी आर्यमर्यादा की रक्षा करते आ रहे हैं। क्षत्रियों और ब्राह्मणों के द्वारा अपने पितृ-पितामहादि की परम्परा का विस्मरण न हो, इसीलिए समूहलेख्यों का प्रवर्तन हुआ। अन्य आर्य जनता भी उनकी परम्परा को ही आत्मसात् करती

हुई आर्यमर्यादा का पालन करती आ रही है। एवम् प्रतिकुल में दोष-गुणों का स्मरण होने से तदनुरूप ही प्रवृत्ति और निवृत्ति लोक में देखी जाती है। कोई भी व्यक्ति अपना सम्बन्ध श्रेष्ठ कुल में जाँच-परख करके करता है। सभी को अपनी कुलपरम्परा का आदर करते हुए व्यवहार करना चाहिये, विशेषतः ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों को। उनके आचार का पतन पूरी आर्यजनता को प्रभावित करेगा। इसीलिए तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता)

अर्थात् श्रेष्ठ जन जो जो आचरण करता है इतर जन भी उसी का आचरण करता है। श्रेष्ठजन जो प्रमाण प्रस्तुत करता है लोक उसी का अनुसरण करता है।

इतने ग्रन्थों से यह सिद्ध किया गया कि अनादि संसार-प्रवाह में वर्णव्यवस्था भी अनादि है। वेद वर्णानुरूप विशेष धर्मों का उपदेश करता है। यदि वर्णों को अनादि न माना जाय तो वेदों का उपदेश निरवकाश हो जायेगा। लोक के साथ-साथ वेद से भी चातुर्वर्ण्य की अनादिता सिद्ध होती है। इसलिए जो व्यक्ति दुर्बुद्धि से प्रचोदित होकर वर्णप्रविभाग को समाप्त करने के लिए गीदड़ों की तरह चीत्कार करता है वह जगत्-वैचित्र्य को ही समाप्त करना चाहता है। जगद्वैचित्र्य को समाप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए शश में शृङ्ग के उद्भावन जैसा ही है। इधर ब्रिटिशप्रशासन के बाद मुट्ठीभर धर्मनिरपेक्ष ताकतों के द्वारा आर्य जनता में चातुवर्ण्य में दोषों का उद्भावन करा कर विद्वेष को हेमन्त ऋतु में कुहरों की तरह फैलाने का प्रयास किया जा रहा है। सभी आर्यों को इसे समझने की आवश्यकता है। अनादिकाल से चली आ रही सौमनस्यपरम्परा इस काल में ही क्यों वैमनस्य का मूल हो गयी है, यह भी विचारणीय है। यदि वर्गविद्वेष से पारस्परिक विग्रह की घटनायें हो रही हैं तो शासन क्या कर रहा है। यह शासक का कर्तव्य है कि कोई भी वर्गसंघर्ष राष्ट्र में न हो। वर्गसंघर्ष के होने पर भी शासकवर्ग अपने दोषों को ढकने के लिए शास्त्रीय व्यवस्था की आलोचना करता है। अपना निकम्मापन जानता हुआ भी वह सत्ता से चिपका ही रहना चाहता है। उसका स्वार्थ व्यक्त है। शास्त्रों और शास्त्रज्ञों

से नियन्त्रित पूर्ववर्ती राष्ट्र के नरेशों में ऐसी बातें नहीं थीं। जनता की प्रसन्नता के लिए सब कुछ त्यागने के लिए वह तत्पर रहता था। एक भी व्यक्ति की अनिच्छा उसे राज्य से विरत होने के लिए प्रेरित करती रहती थी। कहा ही है उत्तररामचरितम् में श्रीरामचन्द्र ने—

स्नेहं दयां च सौख्यञ्च यदि वा जनकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

अर्थात् प्रजा की आराधना (अनुरञ्जन) के लिए स्नेह, दया, सुख और तो और जानकी जैसी अर्धाङ्गनी को भी त्यागने में मुझे कोई व्यथा नहीं है।

कवि की रचना में देश-काल की अवस्था का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। इतना तो दृढ़ता के साथ कहा ही जा सकता है कि महाकवि भवभूति के काल में राजा अपने प्रजापालन में जरा भी च्युत होने पर सर्वस्व त्यागने के लिए आतुर रहते थे। अलाउद्दीन के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि पण्डित श्रीविश्वनाथजी का कथन है—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलाउद्दीनखिलजौ न सन्धि र्न च विग्रहः॥

अर्थात् अलाउद्दीनखिलजी के यहाँ न सन्धि थी और न ही विग्रह था क्योंकि संधि में वह सर्वस्व ले लेता था और विग्रह में प्राण ही ले लेता था। शास्त्र और शास्त्रज्ञों से नियन्त्रित राजा में यह सब सम्भव नहीं। अतः जो कुछ भी दोष वैदिक व्यवस्था में दिखाया जा रहा है वह शासनतन्त्र का और अशिष्ट अयोग्य शासक का ही दोष है। वर्ण अनादि हैं और उनका विशेषधर्म भी अनादि वेद से विहित होने से अनादि है। सामान्य धर्म सारे मनुष्यों के लिए हैं। इस प्रकार वर्णों के सिद्ध हो जाने पर उनके लिए तत्तद् विशेष धर्म भी व्यवस्थित हुए। अब धर्म क्या है? अधर्म क्या है? धर्म में प्रमाण क्या है? इस विषय में विस्तार से चर्चा होगी। सामान्यतः पूर्व में व्यक्त धर्म का विस्तार से विवेचन मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी होगा, अतः धर्म के स्वरूप और प्रमाण का विस्तार से प्रतिपादन असङ्गत नहीं होगा।

●

धर्म का स्वरूप और धर्म में प्रमाण

धर्म में क्या प्रमाण है तथा धर्म का क्या स्वरूप है, इन दोनों अर्थों का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने एक सूत्र से ही कर दिया है। सूत्र है—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनि सूत्र १.१.२)

यहाँ पर धर्म को उद्देश्य करके यदि प्रमाण की विधि स्वीकार किया जाय तो अर्थात् धर्म का स्वरूप और धर्म का विशेष सिद्ध होगा। यदि स्वरूप-विधि स्वीकार करें तो अर्थात् धर्म में प्रमाण की सिद्धि हो जायेगी। अब प्रश्न उठता है कि महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण अपने वैशेषिक सूत्र में कर ही दिया है तो जैमिनि को धर्म का लक्षण प्रतिपादित करने की क्या आवश्यकता थी ?

कणाद ने धर्म के विषय में कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे पुरुषों की अभ्युदयसिद्धि हो और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है। अब यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अभ्युदयनिःश्रेयस की सिद्धि किससे होगी। पुरुष तो भ्रम-प्रमाद दोष से ग्रस्त होता है। उसे सुरापान, परस्त्री-अधरपान में भी अभ्युदय यदि दिखायी दे तो उसके लिए वही धर्म हो जायेगा और उसकी सुरापानादि में निष्कम्प प्रवृत्ति होने लगेगी। अतः धर्म का ऐसा लक्षण आवश्यक है जिससे धर्म गृहीत हो सके। दूसरी बात यह भी है कि महर्षि धर्म-व्याख्या की प्रतिज्ञा करके द्रव्यगुणादि सप्त पदार्थों का प्रतिपादन करने लग जाते हैं। कहा भी है वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्टपाद ने—

धर्मं व्याख्यातुकामस्य पदार्थप्रतिपादनम्।
सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनं यथा॥

अर्थात् महर्षि कणाद की कामना थी धर्म की व्याख्या करने की और उन्होंने प्रतिपादन कर दिया पदार्थों का। यह तो वैसा ही है जैसे कोई सागर में जाना चाहता हो और पहुँच जाय हिमालय पर। इस प्रकार पुरुष को भ्रान्ति हो सकती है कि द्रव्यादि पदार्थ ही धर्म है। अतः अपार करुणासागर महर्षि जैमिनि को केवल धर्माधर्म की व्याख्या करने के लिए बारह अध्यायों में मीमांसाशास्त्र की रचना करनी पड़ी। स्वार्थदृष्टि से सर्वथा वञ्चित हमारे ऋषियों-मनीषियों का आज भी धर्मनिरपेक्ष शासनतन्त्र में आस्तिकजनों के ऊपर बहुत बड़ा उपकार है कि आस्तिक जनता धर्मानुष्ठान के द्वारा

निःश्रेयस की प्राप्ति कर रही है। अन्यथा स्वार्थप्रेरित जन लोकसंग्रह-यशःप्राप्ति मात्र के लिए कुछ तुच्छ मार्गों में जनता को लगाने में व्यस्त हैं। एक घटना का स्मरण कराना इस समय असंगत नहीं होगा। शाहजहाँ ने पण्डितराज जगन्नाथ से कहा कि सबसे पुराना मुसलमानों का धर्म है। पण्डितराज ने कहा ऐसा नहीं है। उन्होंने भारत में ही प्रायः दृष्टिगत वैदिक मार्ग को ही धर्म कहा। शाहजहाँ के यह कहने पर कि आप अपनी बात कैसे सिद्ध कर सकते हैं? पण्डितराज ने कहा कि मैं आप के ग्रन्थ से ही यह बात सिद्ध कर सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने उनकी भाषा का अध्ययन किया पश्चात् उनके सारे ग्रन्थों का अनुशीलन किया। हदीस में उनको एक जगह मिला कि वैदिक मार्ग के विरुद्ध जो कुछ भी आचार है वही मुसलमानों का धर्म है। पण्डितराज ने हदीस की उस पङ्क्ति को शाहजहाँ को दिखाया और कहा कि पहले वैदिक मार्ग सिद्ध था बाद में उसके विपरीत मुसलानों का मार्ग चला। शाहजहाँ निरुत्तर हो गया। उसी दिन से उसकी वैदिकेतर मार्ग से कुछ अश्रद्धा जैसी हो गयी। अभिप्राय साफ है। यदि आचार्यों के द्वारा धर्म की व्याख्या समय-समय पर न होती तो स्वार्थी तत्त्वों के द्वारा स्वकपोलकल्पित कदाचार ही धर्म के रूप में भारत में भी अपनी पूरी जगह बना लेता। विचार कीजिये कि वैदिकमार्ग के विरुद्ध जो भी मार्ग है यदि वही धर्म है तो अनादिकाल से चला आ रहा तथा कुछ अंशों में पूरे विश्व में व्याप्त वैदिक मार्ग क्या है? वह धर्म है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि हदीस के अनुसार उसके विरुद्ध मार्ग को ही धर्म की संज्ञा प्राप्त हुई है। दोनों में से एक ही मार्ग धर्म हो सकता है। उनके यहाँ यह भी है कि उनके मार्ग के विरोधी उनके शत्रु हैं। अर्थात् वेद ही उनका शत्रु है। हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था नहीं है। वेद के द्वारा धर्म-अधर्म का परिचय करा दिया जाता है। कोई धर्म करे या न करे। यदि कोई धर्म के विपरीत ऐसा कार्य करे जिससे किसी दूसरे पुरुष का अनिष्ट न हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। निरर्थक कर्म किसी के करने पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। यही बात अधर्म की है। यदि कोई सुरापान, कलञ्जभक्षण, रजस्वलागमन, ग्राम्यकुक्कुटभक्षण, ग्राम्यकुक्कुटाण्डभक्षण, असत्यभाषण करता है तो करे। इससे उसी का अनिष्ट है। जिस कदाचार से अन्य को पीड़ा है वह कदापि न करे। इसके लिए वह राजा के द्वारा दण्डनीय है। जैसे सुरापान करके सिगरेट पीते हुए शिष्ट के मुख के सामने धुआँ छोड़ना, परस्त्री का

अधरपान करना, हिंसा करना, अशब्द-बोलना आदि-आदि। हमारे मार्ग में विरोधी भी यदि हमारा अनिष्ट न करें तो हमें कोई आपत्ति नहीं। यहीं पर हमें अपनी रक्षा का दायित्व कदलीकन्द की तरह उभरकर सामने आता है। यदि कोई यह कहे कि वेद-मार्ग के विरुद्ध जो कुछ मार्ग है वही धर्म है। शिव-शिव! हमारी भोली-भाली जनता के बीच में इसका प्रचार करे और उन्हें सनातन आर्य-मर्यादा से भ्रष्ट करे तो हम कैसे नेता की तरह चुप बैठे रहेंगे। यहाँ पर हमारा यह कर्तव्य बनता है कि हम भ्रान्त आर्यजनता को वास्तविक धर्म का परिचय करा कर उन्हें विधर्मियों के कुचक्र से बचाते हुए उनके श्रेय का मार्ग प्रशस्त करें। धर्मनिरपेक्ष शासनतन्त्र में तो यह नितान्त आवश्यक है। हमारा प्रयास सभी के लिए है। आचार्ययुक्तियों की सहायता से प्रतिपादित सुव्यवस्थापित वास्तविक धर्म का आचरण कोई यदि धर्मबुद्धि से करता है तो किसी को भी क्या आपत्ति हो सकती है। विवादविशेष का विषय होने से साधारणतया धर्म प्रसिद्ध है। कोई कहता है कि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण से ही गम्य है। कोई जगद्वैचित्र्य को देखते हुए तत्कारणरूप से अर्थापत्तिप्रमाण-गम्य उसे मानता है। कुछ धर्मनिरपेक्ष ताकतें यह भी कहती हैं कि धर्म में कोई प्रमाण ही नहीं अर्थात् धर्म नाम की कोई वस्तु नेता की नैतिकता के समान है ही नहीं। कुछ का कहना है कि बुद्ध-मोहम्मद आदि के वचनों से ही धर्म गम्य है। वैदिकों का कहना है कि धर्म में वेद ही एकमात्र प्रमाण है। इस प्रकार विवाद होने पर यह प्रतिपादित करने की आवश्यकता है कि वास्तव में धर्म में क्या प्रमाण है और वह कौन सी वस्तु है। इस पर जैमिनि ने कहा—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।' अर्थात् धर्म में चोदना ही प्रमाण है। चोदना क्या है? इस जिज्ञासा में भाष्यकार श्रीशबरस्वामी कहते हैं—

चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः।

(शाबरभाष्य)

वार्तिककार ने भी स्पष्ट किया है—

चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः। (श्लोकवार्तिक)

अर्थात् क्रिया में प्रवृत्त-कराने वाला वेदवाक्य ही चोदना है जिसे विधि और उपदेश भी कहते हैं। यहाँ पर आशङ्का स्वाभाविक है कि प्रवर्तकवचन के रूप में केवल 'लिङ्' प्रत्यय या केवल प्रत्यय के प्रयोग में असाधुत्व होने से पूरा 'यजेत' इत्यादि पद या सम्पूर्ण वाक्य 'चोदना' पद से ग्राह्य है?

उसका उत्तर यह है कि साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता, इन तीनों अंशों से परिपूर्ण प्रत्यय ही पुरुष की प्रवृत्ति कराने में समर्थ होता है अतः पूरा वाक्य ही चोदना है। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य में साध्य अंश का परिपूरक 'स्वर्गकामः' यह पद है, साधन अंश का परिपूरक 'यज्' धातु है। इतिकर्तव्यता अर्थात् साधन का उपकारक अंश, प्रकरण में पठित अवान्तर वाक्यों से गृहीत होता है। तात्पर्य यह निकला कि विहित अङ्गों से अनुगृहीत अग्निहोत्रहोम से अधिकारी जन स्वर्ग को प्राप्त करें। स्वर्ग को अग्निहोत्र-होम से प्राप्त करें, ऐसा विधि से बोधित हो रहा है। इस प्रकार चोदना अर्थात् विधि (वैदिक उपदेश) से बोधित होने से अग्निहोत्रहोम धर्म हुआ। धर्म को उद्देश्य करके प्रमाणविधि स्वीकार करने पर अर्थात् धर्म का स्वरूप और धर्म का विशेष भी सिद्ध हो जाता है। दो प्रकार से अवधारण (निश्चय) करने पर उक्त बात सिद्ध होती है। तथा हि—

'चोदना धर्मे प्रमाणमेव' अर्थात् धर्म में चोदना प्रमाण ही है, न कि नहीं है। इस प्रकार की अवधारणा होने पर यह सिद्ध होगा कि चोदना से बोध्य अग्निहोत्रादि का धर्मत्व है ही, न कि नहीं है। यह धर्म के स्वरूप की सिद्धि हुई। यदि 'धर्मे चोदना एव प्रमाणम्' अर्थात् 'धर्म में चोदना ही प्रमाण है' यह अवधारणा होगी तब अर्थात् सिद्ध होगा कि चोदना से बोध्य अग्निहोत्रादि ही धर्म है, न कि बौद्धों के द्वारा किया जाने वाला चैत्यवन्दन, इसाइयों के द्वारा की जाने वाली चर्च में प्रार्थना, मुसलमानों के द्वारा मस्जिद में पढ़ा जाने वाला नमाज आदि-आदि। क्यों? चोदनागम्यत्वाभावात् अर्थात् चोदना से बोध्य न होने से। इस प्रकार धर्मविशेष की सिद्धि हुई। इसी प्रकार यदि यह स्वीकार करें कि भगवान् जैमिनि ने सूत्र से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है तो अर्थात् धर्म में प्रमाण की सिद्धि भी हो जायेगी। जैसे चोदना के द्वारा बोध्य अग्निहोत्रादि को ही धर्म कहा जाय तो अर्थात् धर्म में चोदना का ही प्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा, न कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी। अभिप्राय यह है कि धर्म अलौकिक वस्तु है। प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षमूलक अनुमानादिप्रमाणों से उसका बोध उसी प्रकार असम्भव है जैसे अङ्गनाचित्रदर्शन मात्र से तदालिङ्गनजन्य सुख। शब्द में ऐसी बात नहीं है। शब्द अत्यन्त अविद्यमान शशशृङ्ग इत्यादि का भी बोध करा सकता है। यही शब्द का सामर्थ्य है। इस बात को कहा ही है श्रीवार्तिककार ने—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता॥

(श्लोकवार्तिक चो०सू०)

अर्थात् जिस प्रमाण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। शब्द का यह सामर्थ्य ही है कि वह अत्यन्त अविद्यमान वस्तु का भी बोध करा देता है। तत्क्षण उस बोध का प्रामाण्य भी स्वभावतः गृहीत हो जाता है। इस प्रकार जिस ज्ञान के कारण के दोष का ज्ञान हो या उस ज्ञान का बाधक ज्ञान हो तो कारणदोषज्ञान से, बाधक ज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य अपनोदित हो जाता है अर्थात् उसका अप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। जैसे इन्द्रियादि-दोष से किसी को शुक्ति में रजत का ज्ञान हो गया। दोषी पुरुष की उस समय यथार्थता-बुद्धि ही होती है। कोई लाख कहे कि यह रजत (चाँदी) नहीं है तो भी उसकी बात वह स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि उसकी उसी ज्ञान में प्रामाण्य-बुद्धि है। जब उसे रजतज्ञान का बाधक ज्ञान 'यह तो शुक्ति है, अब तक मैं इसे रजत समझता रहा' इस प्रकार का होता है तभी उसे अपने ज्ञान में अप्रामाण्यबुद्धि होती है। मीमांसक 'प्रामाण्यं स्वतः, अप्रमाण्यं परतः' इस सिद्धान्त को लेकर ही चलता है। वेदजन्यज्ञान कभी भी किसी अवस्था में बाधित नहीं होता। अतः उसका प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहता है। चोदनाजन्य अग्निहोत्रादि धर्म का ज्ञान अबाधित होने से यथार्थ है, अतः चोदना से बोध्य अग्निहोत्रादि ही धर्म है, यह सिद्ध हुआ।

आशङ्का

निश्चय ही आप हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख, इसाई, जैन आदि की भारत में चली आ रही परस्पर सौहार्दपरम्परा को ध्वस्त कर देना चाहते हैं। आप की धर्मव्यवस्था से भारतीय सर्वधर्मसमभाव वाली धर्मनिरपेक्षता की पूरे भूमण्डल में आदर्शभूत नींव ही हिल जायेगी। मुसलमान-बौद्ध आदि की आदरपूर्वक आत्मसात् की जाने वाली धार्मिक रीति को ही समाप्त कर देना अच्छी बात नहीं है। मैं भी समाजशास्त्री हूँ तथा पूरे समाज की हितभावना हमारे रोम-रोम में व्याप्त है। अपना धर्म आप युक्तियों से दृढ़ करें. दूसरे के धर्म पर आक्षेप करना कहाँ की बुद्धिमानी है। चोदना को ही आप धर्म में प्रमाण मान रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सर्वज्ञता की कोटि में आने वाले भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, पैगम्बर मोहम्मद, ईसामसीह आदि

अप्रामाणिक हो गये? इनके उपदेशों का कोई अर्थ नहीं? महानुभाव! धर्मनिरपेक्षता के लिए मैं हमेशा लड़ता रहा हूँ और लड़ता रहूँगा। मैं किसी भी तरह आप का अभीष्ट सिद्ध नहीं होने दूँगा। चोदना, जिसे आप धर्म में प्रमाण मान रहे हैं वह प्रमाण ही नहीं हो सकती, धर्म जैसे विषय में उसकी प्रमाणता तो नपुंसक में सुरतसुख की तरह बहुत दूर है। कोई भी शब्द पुरुष के सम्बन्ध के बिना हो ही नहीं सकता। पारस्परिक व्यवहार के लिए ही तत्तद्-अर्थ-विशेष में संकेत करके शब्द का अस्तित्व लोक में आता है। चोदना भी आप के कथनानुसार प्रवर्तकवचन होने से शब्द के भीतर ही आयेगी। अतः वह पुरुष के द्वारा निर्मित होने से अनित्य हुई। धर्म को आप अलौकिक कह रहे हैं। यद्यपि सामाजिक सद्भाव कायम रखने के लिए कुछ चुने गये पुरुषों के द्वारा बनाया गया विधान ही हमारी दृष्टि में धर्म है। फिर भी जैसा आप कह रहे हैं कि धर्म पुरुषों की बुद्धि की उपज नहीं हो सकता, अतः वह अलौकिक है। यदि वह अलौकिक है तो अनित्य पौरुषेय चोदना से गम्य भी नहीं हो सकता। क्योंकि पौरुषेय वाक्यों का अलौकिक अर्थों में प्रामाण्य ही सम्भव नहीं। अतः लौकिक वचन के समान ही अलौकिक धर्म में चोदना प्रमाण नहीं है।

चलिये। जैसा आप कहते हैं वैसा ही मैं चोदना को नित्य, किसी भी पुरुष के द्वारा निर्मित न होने से अपौरुषेय मान लेता हूँ। तथापि आप की इष्टसिद्धि नहीं हो पायेगी। सारे परीक्षकों को चाहिये कि लौकिक प्रमाणगति का वे अनुसरण करें। वक्ता यदि प्रामाणिक पुरुष है तो वक्ता के गुण से संपृक्त होने से शब्द भी प्रमाण होगा। लोक में शब्द प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवगत अर्थ का ही बोधक होता है। अतः स्मृतियों का जैसे स्वतः प्रमाण खण्डित है वैसे ही शब्द का भी स्वीकार करना उचित है। इस प्रकार शब्द का प्रामाण्य वक्ता के ज्ञान के अधीन हुआ। इस प्रकार बुद्ध, महावीर, मोहम्मद आदि महापुरुषों का वचन उनके ज्ञान के अधीन होने से प्रमाण हो सकता है। वेद अर्थात् चोदना का कोई वक्ता नहीं, क्योंकि आप उसे अपौरुषेय मान रहे हैं। अतः किसी आप्त वक्ता का अभाव होने से वक्ता के ज्ञान के अधीन जो शब्द का प्रामाण्य है, वह चोदना का स्वतः ही निरस्त हो गया। और भी—

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह वैदिकी चोदना स्वर्ग और अग्निहोत्र के साध्य-साधनभाव सम्बन्ध का बोध करा रही है। वह कह रही है कि अग्निहोत्र-होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। मैं कहता हूँ

कि यह चोदना मिथ्या है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष से जो गम्य नहीं उस अर्थ का बोध करा रही है। प्रत्यक्ष से अदृष्ट अर्थ का बोध कराने वाले अन्य वाक्यों के समान ही।

हम यह भी यहाँ कह सकते हैं कि आप की अपौरुषेयी चोदना किसी बुद्धादि जैसे आप्त (-प्रामाणिक) पुरुषों से निर्मित न होने के कारण भी मिथ्या ही है, जैसे बालक और पागलों का वाक्य यथार्थ अर्थ का बोधक न होने से मिथ्या होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार के सारे किसी न किसी कर्म में पुरुषों को नियोजित करने वाले प्रवर्तक वचन अपने प्रामाण्य की सिद्धि के लिए गुणवान् पुरुष की अपेक्षा करते हैं। यदि वेद को अपौरुषेय मानेंगे तो उसमें पुरुष का अभाव होने से अप्रामाण्य आया और उसे यदि पौरुषेय मानेंगे तो उसे बनाने वाले पुरुष में गुण हैं, इसी में प्रमाण न होने से अप्रामाण्य आया। वेद के वचन भी पागलों की बातों जैसे ही लगते हैं। कहीं लिखा है कि पत्थर तैरते हैं (ग्रावाणः प्लवन्ते) और कहीं लिखा है कि तुमड़ी पानी में डूब रही है (अम्बुनि अलाबूनि मज्जन्ति)। इसी तरह के वाक्यों से परिपूर्ण वेद के निर्माता के भीतर गुण की खान होगी, इस बात में कौन सचेता विश्वास करेगा। एवम् चोदना का प्रामाणत्व ही जब नेता के भाषण की तरह असिद्ध हो गया तो आप कथमपि अलौकिक अपने धर्म को सिद्ध नहीं कर सकते।

समाधान

यह सत्य है महानुभाव! कि आप समाजवादी-विचारधारा के व्यक्ति हैं। यदि आप ऐसे नहीं होते तो 'सर्वधर्मसमभाव' शब्द आप के मुख से सड़े हुए दाँत की तरह नहीं निकलता। सर्वधर्मसमभाव अर्थात् शशशृङ्ग। शशशृङ्ग का अस्तित्व कोई समाजवादी ही स्वीकार कर सकता है। भगवान् जैमिनि फल के तारतम्य से धर्म में तारतम्य स्वीकार करते हैं—

फलस्य कर्मनिष्पत्ते स्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात्।

अर्थात् कोई भी पुरुष को प्राप्त हुआ फल पुरुष द्वारा किये गये कर्मों से ही प्राप्त होता है। लोक में भोगों का तारतम्य दिखायी देता है, अतः परिमाणतः कर्मों का भी तारतम्य है। एकदिनसाध्य अग्निहोत्र का फल स्वर्ग है, ज्योतिष्टोम का तथा अश्वमेध का भी फल स्वर्ग है। अश्वमेध वर्षों में अधिकद्रव्यव्ययसाध्य कर्म है। ऐसे में तत्तत्साधनों से

साध्य स्वर्ग को भी भिन्न-भिन्न मानना ही पड़ेगा। तथा च, पूर्वोक्त स्वर्गसाधनीभूत धर्मों का समभाव कहाँ सिद्ध हुआ। यदि आप कहें कि वैदिकों की, मुसलमानों की, बौद्धों की, इसाइयों की, जैनों की या अन्य धर्मावलम्बियों की धर्म के रूप में स्वीकार की गयी आचार-पद्धति समान है तो यही बात सामने आयेगी कि अमृत और विष दोनों के भक्षण का प्रभाव समान है, हंस और वक के कार्य समान हैं, हेमन्त और ग्रीष्म का तापमान समान है, स्त्री और पुरुष का व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र समान है, नेता और शिलोञ्छजीवी ब्राह्मण की द्रव्यदृष्टि समान है। कहाँ अनादिकाल से चली आ रही निर्दुष्ट वेद से प्रसूत सनातन आर्यमर्यादा और कहाँ स्वार्थलोकसंग्रहमात्र तुच्छ प्रयोजन से प्रसूत अनर्थजननी स्वेच्छाचारिता। जो धर्म ही नहीं, उसकी चले हैं आप अनादि मीमांसान्यायों से परिशोधित धर्म से समानता सिद्ध करने। आप और आपके अनुयायी सारे समाजावादी ऋजु जनता में भ्रम फैलाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। पुनः मैं पूर्वावधारण दोहराता हूँ कि धर्माधर्म में चोदना प्रमाण ही है, चोदना ही प्रमाण है। जो चोदना से बोध्य है वही धर्म है तथा जो चोदना से बोध्य नहीं वह धर्म किसी काल में भी नहीं हो सकता। आप का यह जो कहना है कि सारे शब्दों में प्रामाण्य पुरुषापेक्ष है तो इसका उत्तर देने के लिए सारे विज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार यहीं पर कर लेना उचित है। इस विषय में चार कोटियाँ ही सम्भव हैं—

(१) प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों स्वतः।

(२) प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों परतः।

(३) अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः।

(४) प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः।

इनमें ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः निर्णीत होता है, इस पक्षवाले का तात्पर्य यह है कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य का स्वाभाविक सामर्थ्य नहीं होगा तो अन्य से भी उसका आपादन सम्भव नहीं। अतः दोनों का स्वतः भासन ही है। यह सांख्यमत है। दूसरे पक्षवाले का अभिप्राय यह है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य, ज्ञान का साधारण धर्म है। अतः ज्ञान स्वतः कुछ भी निर्णय करने में समर्थ नहीं होगा। अत एव गुणवान् कारण से उत्पन्न ज्ञान का गुण तथा दोषवान् कारण से उत्पन्न ज्ञान का दोष

होगा। इस प्रकार कारणगुणज्ञान से ज्ञान का यथार्थत्वरूप प्रामाण्य का तथा कारणदोषज्ञान से ज्ञान का अयथार्थत्वरूप अप्रामाण्य का निर्णय होने से दोनों परतः ही होंगे। इसमें प्रथम पक्ष तो सर्वथा असङ्गत है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य, ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः ज्ञान में ये दोनों स्वाभाविक नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि ज्ञानोत्पत्तिकाल में ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य का स्वतः निर्णय सम्भव नहीं। यदि आप दो ज्ञान मानकर एक ज्ञान में प्रामाण्य का तथा दूसरे ज्ञान में अप्रामाण्य का निर्णय स्वतः हो जायेगा, ऐसा कहेंगे तो भी अनुचित होगा। क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त कोई प्रामाण्य और अप्रामाण्य का चिह्न न होने से किस ज्ञान में प्रामाण्य होगा और किस ज्ञान में अप्रामाण्य होगा, यह निरूपण किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। इस प्रकार इस पक्ष में अगम्यागमन में धर्म के समान विरोध अवश्यंभावी है। अतः यह पक्ष अश्रद्धेय है। दानों का निर्णय कारणगुणज्ञान तथा कारणदोषज्ञान के अधीन है, यह नैयायिक मत भी अनुचित है। उनसे यह पूछा जाय कि उत्पन्न हुआ ज्ञान गुणदोष के निश्चय के पहले अर्थ का निश्चायक होता है कि नहीं? यदि निश्चायक मानेंगे तो स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि हो जायेगी अन्यथा अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी। किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य, यह दो ही स्वभाव है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का निश्चय पराधीन मानने पर ज्ञान उभयरूप से रहित स्वीय स्वभाव से शून्य हो जायेगा। ज्ञान में अर्थ का निश्चायकत्व और अनिश्चायकत्व होता है, यह दोनों सम्भव नहीं, गुणदोषनिश्चयगम्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों हैं, ऐसा आप मानते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आप गुणजन्य प्रामाण्य और दोषजन्य अप्रामाण्य स्वीकार कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में गुणदोष से शून्य चक्षुरादि इन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य दोनों भी सिद्ध नहीं होगा। ज्ञान के निःस्वभावत्व दोष के प्रसक्त हो जाने से। गुणदोषज्ञानाधीन ज्ञान का प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने पर अनवस्थादोष की प्रसक्ति भी होगी। अतः यह मत भी अश्रद्धेय ही हुआ।

इसके अनन्तर सुरत में प्रसक्त कामी की तरह चोदना के अप्रामाण्य-साधन में प्रसक्त बौद्धमत आयेगा जिसमें ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः स्वीकार किया जाता है। उनका अभिप्राय यह है—

अप्रामाण्य का तात्पर्य है प्रामाण्याभाव। अभाव के अवस्तु होने से वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता जैसे वनिता का श्मश्रु (मूछ)। अतः ज्ञान

का अप्रामाण्य दोषों से उत्पन्न नहीं हो सकता। दोषों से उत्पन्न न होने के कारण ही अप्रामाण्य दोषज्ञान से भी निर्णीत नहीं हो सकता। अतः अप्रामाण्य को स्वतः ही स्वीकार करना उचित है। प्रामाण्य की स्थिति इसके विपरीत है। प्रामाण्य के वस्तुरूप होने से ज्ञान का प्रामाण्य गुण से जन्य हो सकता है, अतः प्रामाण्य का निश्चय कारणगुणनिश्चय के अधीन हो सकता है। अपि च, कोई भी ज्ञान तद्विषय के होने पर भी होता है, न होने पर भी होता है, जैसे कामादिदोषदूषितनयन को कामिनी के न होने पर भी स्थाणु (ठूठ) के छायादर्शन मात्र से विचित्रवस्त्राभरणा कामिनी का ज्ञान होता है तथा कामिनी के होने पर भी तथैव उसका ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होने से कामिनी के ज्ञानमात्र से तथाभूत कामिनी का निश्चय सम्भव नहीं। अतः कामिनीज्ञान के यथार्थस्वरूप प्रामाण्य का निश्चय कारणगुणज्ञान से, संवादज्ञान से तथा अर्थक्रियाज्ञान से ही सम्भव है। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य परतः ही सिद्ध हुआ। ऐसा न मानने पर स्वप्नादिज्ञानों का भी प्रामाण्य रोकने पर भी नहीं रुकेगा।

कारणगुणज्ञान से तात्पर्य यह है कि जिस कारण से ज्ञान हुआ उस कारण में गुण है कि नहीं। यदि स्वच्छत्वादि गुण हैं तो उसके ज्ञान से ही पूर्वज्ञान का प्रामाण्य उपपन्न होगा। संवादज्ञान से तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान किसी के वचनादि से हुआ वह तद्विषयक अव्यभिचरित ज्ञान के समान है कि नहीं। यदि है तो उससे ज्ञान का प्रामाण्य उपपन्न होगा। अर्थक्रियाज्ञान अर्थात् यद्विषयकज्ञान हुआ, उस ज्ञान के विषय घटादि में अर्थक्रिया है कि नहीं। अर्थक्रिया = प्रयोजनाय क्रिया। इस प्रकार बौद्ध के मत में ज्ञान का प्रामाण्य परतः सिद्ध हुआ॥ ये बौद्ध और तन्मूलक इसा–मूसा के अनुयायी, वेद और वैदिकधर्म किंवा धर्म के महाशत्रु हैं। इनके विचार मिथ्याग्रहग्राह से ग्रस्त हैं। सनातनमार्गी ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त आर्यजनता को इनसे सतर्क रहने की जंरूरत है। ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः स्वीकार करने में इनकी बहुत बड़ी चाल है। किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अप्रमाण ही रहता है पश्चाद् गुणज्ञान से अप्रामाण्य हटता है और प्रामाण्य का भारत में विधर्मियों की तरह, शासन में धर्मनिरपेक्षता की तरह आगमन होता है। बुद्ध सर्वज्ञ हैं। ईसा, मूसा, मोहम्मद साक्षात् ईश्वर के पास से आये हैं। अतः इनके उपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञान पूर्व में अप्रमाण

होता हुआ भी पश्चात् सभी में विद्यमान आप्तोच्चरितत्वरूप गुण से प्रमाण हो जाता है। अतः उनके उपदेश से ज्ञात हुआ जो भी आचरणीय वस्तु है वही धर्म है। चोदना अपौरुषेय है, अतः उसमें आप्तोच्चरितत्वरूप गुण का भारतीय शासक में स्वार्थहीनता की तरह सर्वथा अभाव है। अतः चोदनाजन्य ज्ञान के अप्रमाण ही रह जाने से तद्विषय अग्निहोत्रादि का धर्मत्व तथा कलञ्जभक्षण-सुरापान-ब्राह्मणहननादि का अधर्मत्व भी सिद्ध नहीं होगा। ऐसी अवस्था में मानवमात्र को वास्तविक धर्माधर्म के परिज्ञान के लिए बौद्धों के कुतर्क का छद्मप्रजातन्त्र की तरह पूर्णरूप से मूलतः छेदन-विखण्डन आवश्यक है।

बौद्धमतखण्डन

सारे ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः ही स्वीकार करना उचित है न कि कारणगुणज्ञान-संवादज्ञान-अर्थक्रियाकारिताज्ञान से परतः। क्यों ऐसा स्वीकार किया जाय, इस पर वार्तिककार कहते हैं—

न स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।

अर्थात् यदि ज्ञान का अपने विषय के तथात्वनिश्चय की स्वतः शक्ति नहीं होगी तो अन्यों से भी उसका सम्पादन अशक्य होगा। इस प्रकार कभी भी किसी का भी कोई भी अर्थ निर्णीत नहीं हो पायेगा। फलतः किसी भी विषय का अवभासन न हो पाने से पूरे संसार की अन्धता प्रसक्त हो जायेगी। भारतीय न्यायप्रणाली में संसाधनशून्य व्यक्ति के न्याय की तरह पदार्थमूलक सारा व्यवहार ही असम्भव होने लगेगा। मैं पूछता हूँ कि परतः प्रामाण्य की सिद्धि कैसे होगी? इसके उत्तर में आप कहेंगे कि गुणनिश्चय से। अब प्रश्न होगा कि वह गुण क्या है? क्योंकि चक्षुत्वगादि इन्द्रियों में कोई गुण नहीं है। यदि आप कहेंगे कि निर्मलता ही इन्द्रियों का गुण है। इस प्रकार मल का अर्थ होगा दोष। तथा च दोषाभाव ही गुण हुआ। दोषाभाव तो वेद में भी सम्भव है। एवम् दोषाभावरूप गुण के अधीन भी यदि वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाता हो तो भारतीय अधिकारीवर्ग में कमीशन की तरह हमें क्या आपत्ति हो सकती है। कोई भी अधिकारी अपना कमीशन आज उसी तरह स्वीकार कर रहा है जैसे याग में देवता अपने-अपने भागों को स्वीकार करते हैं।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।

लेकिन अधर्म के व्यवस्थापक बौद्धादिकों को वेदों का प्रामाण्य आज की व्यवस्था में न्याय की तरह कैसे इष्ट हो सकता है। अतः बौद्धसम्मत गुणनिमित्त ज्ञान की यथार्थविषयता वेदमार्गव्यवस्थापक हम मीमांसकों को कैसे इष्ट हो सकती है। यदि गुणनिमित्त विषयों की यथार्थता होती तो गुणशून्य दोषसंपृक्त चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले पीतशंखादिज्ञानों में किसी भी अंश में सत्यता की प्रतीति न होती। होती है पीतशंखादिज्ञान में भी शंखरूपादि में सत्यता। इसलिए ज्ञान की यथार्थता स्वकारणजन्य तथा अयथार्थता दोषों के कारण ही माननी उचित है। इस प्रकार पीतशंखादिज्ञान की स्वकारण से ही सत्यविषयता तथा दोष से असत्यविषयता माननी ही पड़ेगी। फलतः ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः, यह मीमांसा का वैदिक वास्तविक सिद्धान्त ही परिपुष्ट होगा। यदि यह मान भी लिया जाय की प्रमाणभूत घटादिविषयक ज्ञान अपने गुणवान् कारण से ही उत्पन्न होता है तथापि उस ज्ञान के विषय घटादि का निश्चय कथमपि उसके अधीन नहीं हो सकता। क्यों? इसीलिए कि संसार के जितने भी भाव पदार्थ हैं वे अपनी सत्ता के लिए अपने कारण की अपेक्षा करते हैं। जैसे घट अपनी सत्ता के लिए स्वकारण दण्डचक्रकपाल आदि की अपेक्षा करता है। घट अपने कार्य जलाहरण (जल लाना) के लिए किसी की अपेक्षा नहीं करता। नेता प्रजातन्त्र में अपनी सत्ता के लिए ही जनता के मत की अपेक्षा करता है। उसको जब सत्ता की प्राप्ति हो जाती है तो मदमस्त सांड़ की तरह स्वेच्छा से अपना कार्य करता है। वह घोटाला आदि कुकर्म भी करता है। दलबदल करता है। राजकोष का अपव्यय करता है। यह सब करने में वह स्वतन्त्र है। किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता।

ऐसी ही स्थिति ज्ञान की है। वह अपनी उत्पत्ति में, अपनी सत्ता में गुणवान् या अन्य कारण की अपेक्षा कर सकता है। यदि वह चक्षुरादि कारणों से उत्पन्न हो गया तो अपना कार्य स्वतः कर सकता है। ज्ञान का कार्य है अपने विषय घटादि का निश्चय कराना। ऐसा अपना कार्य करने में वह अनपेक्ष है, अर्थात् किसी की भी अपेक्षा नहीं करता। इसी बात को हमारे आचार्य श्रीपार्थसारथिमिश्र कहते हैं—

आत्मवाची 'स्व' शब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता।

(न्यायरत्नमाला)

बौद्ध यदि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः न मानकर कारणगुणज्ञानादि से मानते हैं तो उनसे पूछा जाना चाहिये कि ज्ञान के प्रामाण्यनिश्चय के कारण जो कारणगुणज्ञान-संवादज्ञान-अर्थक्रियाज्ञान हैं, उनका प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा। उनके प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान, इस प्रकार हजारों जन्मों में भी विषय का निश्चय नहीं हो पायेगा। मूलक्षयकारिणी अनवस्था की प्रसक्ति होगी। यदि वे कहते हैं कि कारणगुणज्ञानादि का प्रामाण्य स्वतः है तो उन घुटमुण्ड पाखण्डियों के लिए प्रथम ज्ञान ने क्या अपराध कर दिया कि उसका प्रामाण्य परतः स्वीकार करने पर आतुर हो गये।

इस प्रकार बौद्धसम्मत परतः प्रामाण्य के खण्डित हो जाने पर उनके स्वतः अप्रामाण्य का भी निराकरण करना अतीव आवश्यक होगा। अप्रामाण्य मिथात्व, अज्ञान, संशय के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें अज्ञान के ज्ञानाभावरूप होने के कारण अवस्तु होने से दोषजन्य अप्रामाण्य के सम्भव न होने पर भी मिथ्या और संशय के वस्तु होने से दोषजन्य अप्रामाण्य की अवधारणा हो सकती है। संशय, यह ठूठ है कि पुरुष है, इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को कहते हैं तथा मिथ्या अतथाभूत अर्थ में तथाभावनिश्चायक ज्ञान को कहते हैं जैसे शुक्ति में रजत का, रज्जु में सर्प का ज्ञान। मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं। इस प्रकार संशय और विपर्यय के ज्ञानरूप होने से वस्तुत्वात् उनके अप्रामाण्य का निश्चय कारणदोषज्ञान से, बाधकज्ञान से सम्भव है।

सिद्धान्त पक्ष का उपपादन

इस प्रकार सारे दोषग्रस्त मतों का निराकरण हो जाने से सिद्धान्तभूत मीमांसकमत ही हिमालय की तरह दृढ़ता से सुस्थिर हो जाता है जैसा कि वार्तिककारमिश्र श्रीमत्कुमारिलभट्ट कहते हैं—

तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥

(श्लोकवार्तिक चो०सू०)

अर्थात् विषयतथात्वरूप प्रामाण्य के बोधात्मक होने से स्वतः बोध हो जाने पर भी अर्थान्यथात्वज्ञान से, कारणगत दोषज्ञान से परतः पश्चात् अपनोदन अर्थात् अपसारण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्पन्न हुए ज्ञान के विषय घटादि का यथावत् निश्चय स्वतः हो जाता है। अर्थात् ज्ञान की

ऐसी स्वाभाविक विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा ज्ञान अपने विषय का निश्चायक स्वतः ही होता है। वह ज्ञान यथार्थ होने से चाहे प्रमाणभूत हो या अयथार्थ होने से चाहे अप्रमाणभूत हो, उसके द्वारा प्रारम्भ में उसका प्रामाण्य ही निश्चित होता है। इसी बात को वार्तिककार कहते हैं—

अप्रामाणमपि ज्ञानं तत् प्रमाणमिव स्थितम्।

माना कि किसी को पुरुषवेशादि के कारण महिला में पुरुषज्ञान हो गया तो उसके ज्ञान का प्रामाण्य भी गृहीत हो गया। वह उसको पुरुष ही समझता रहेगा और उसके प्रति पुरुष जैसा ही व्यवहार करता रहेगा। पुरुष में उसकी प्रामाण्यबुद्धि तभी तक कायम रहेगी जब तक उसको महिला के कुचादि लक्षणों का ज्ञान नहीं हो जाता। उसके कुचादि लक्षणों का ज्ञान ही बाधकज्ञान कहा जायेगा। तभी उसके चक्षुरादिकारणदोषों का भी ज्ञान होगा और वह सोचेगा कि जिसे आँखों के दोष के कारण पुरुष समझकर व्यवहार करता रहा वह तो महिला है। अब तक मुझे उसके विषय में भ्रम रहा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञान का विषययाथार्थ्यलक्षण प्रामाण्य स्वतः भासित होता है जो कारणदोषज्ञान से और बाधकज्ञान से दूर होता है। इस प्रकार प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः सिद्ध हुआ। सर्वथा दोषों से शून्य यही पक्ष यथार्थ है। परतः प्रामाण्यवादी के मत में जिस अनवस्थादोष की प्रसक्ति होती है वह स्वतः प्रामाण्यवादी के मत में नहीं होगी। क्यों? इसीलिए कि पराधीनतामात्र से अनवस्था की प्रसक्ति नहीं होती। अपि तु सजातीयापेक्षा में ही अनवस्था की प्रसक्ति होती है। अत एव जैसा कि अन्य प्रमाण के अधीन प्रामाण्य का निश्चय होता है वैसे ही यदि अन्य अप्रमाण के अधीन अप्रामाण्य होता तब अनवस्था होती। पूर्व भ्रमज्ञान का अप्रामाण्यनिश्चय जिस अर्थान्यथात्वज्ञान से होता है वह तो प्रमाणरूप ही है जिसके प्रामाण्य का निश्चय स्वतः हो जाता है। उत्तरज्ञान की उत्पत्ति पूर्व भ्रमज्ञान को बिना बाधे नहीं होती अतः उत्तरकाल में होने वाला बाधकज्ञान अबाधित ही रहता है। जैसे तमिलनाडु के मुख्यमन्त्री पर घोटाला का आरोप लगा। सभी को इसका ज्ञान हुआ कि मुख्यमन्त्री ने घोटाला किया है करोड़ों का। यदि अदालत ने कह दिया कि घोटाला नहीं हुआ है तो घोटाला न होने का जो ज्ञान होगा वह 'घोटाला किया है', इस ज्ञान को बाध करके ही होगा, अतः वह अबाधित ही रहेगा। फलतः पुनः मुख्यमन्त्री

की कुर्सी मिल जायेगी। इसी प्रकार बिहार में अरबों का 'चारा' घोटाला हुआ है। सभी जनता को इसका ज्ञान हुआ कि चारा-घोटाला हुआ। यदि चारा-घोटाला नहीं होता तो लाखों निरीह पशु मरते नहीं। पशु मर गये तो निश्चय ही घोटाला हुआ। अत एव मुख्यमन्त्री जेल गये और उनकी मुख्यमन्त्री की कुर्सी उनकी पत्नी के पास पहुँच गयी। जब तक अदालत से यह फैसला नहीं आ जाता कि मुख्यमन्त्री ने घोटाला नहीं किया है तब तक मुख्यमन्त्री ने घोटाला किया है, यह अबाधित ही रहेगा और मुख्यमन्त्री की कुर्सी उनकी पत्नी के पास ही रहेगी। जब अदालत का फैसला आ जायेगा कि मुख्यमन्त्री ने चारा घोटाला नहीं किया तब इस बाधकज्ञान से मुख्यमन्त्री ने घोटाला किया है, इसका बाध हो जायेगा और उन्होंने घोटाला नहीं किया है, यह अबाधित ही रहेगा। फलतः मुख्यमन्त्री की कुर्सी उनकी पत्नी के पास से पुनः उनके पास आ जायेगी। अथवा करोड़ों का घोटाला करके श्रीसुखरामजी विदेश चले गये। पूरे विश्व में उनकी निन्दा हुई। भारत में उन्हें लाने का उपक्रम चलने लगा। भारत में जब वे आये तो उनके पैर जवाब दे गये। फलतः सरकने वाली कुर्सी से उन्हें लाया गया। टी०वी० में सारी दुनियाँ ने देखा और समाचार पत्रों में सभी ने पढ़ा। कुछ दिन अन्दर भी रहे। पुनः उनके ऊपर मुकदमा चला। जमानत पर रिहा हुए और आदर्शमयी भारतीयजनतापार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़े। गठबन्धन विजयी हुआ। जनता ने उन्हें निर्दोष समझकर ही उनकी पार्टी को चुना। बाद में अदालत ने उन्हें निर्दोष सिद्ध कर दिया और वे घोटाला नहीं किये हैं, ऐसा सिद्ध हो गया। यह बात दूसरी है कि घोटाला तो हुआ। आखिर घोटाला किसने किया? घोटाला में जनता का अरबों रुपया कहाँ गया? अदालत इसका निर्णय क्यों नहीं करती? इसीलिए तो जितने नेता और संभ्रान्त जन हैं उन्हें हमारी न्यायप्रक्रिया पर पूरी आस्था है। न्यायालय का वे सम्मान करते हैं। यही स्थिति ज्ञान के यथार्थतालक्षण स्वतः प्रामाण्य की है जो कारणदोषज्ञान तथा बाधकज्ञान से अपनोदित होता है। वार्तिककार इस बात को कहते ही हैं—

स्वत एव हि तत्रापि दोषाज्ञानात् प्रमाणता।
दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शङ्क्या निष्प्रमाणता॥
(श्लोकवार्तिक चो०सू०)

अर्थात् स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करने पर दोषज्ञान के अनुत्पन्न होने पर बाधकज्ञान के अप्रामाण्य की आशङ्का का कोई अवसर नहीं। इस प्रकार शब्द में दोषों की सम्भावना वक्ता के दोष के अधीन हुई। यदि गुणवान् आप्त वक्ता है तो कहीं पर ही पौरुषेय वाक्य में दोष का अभाव होता है। यदि कहीं पर वक्ता का ही अभाव सिद्ध हो जाय तो निराश्रयतया दोषों की प्रसक्ति सम्भव ही नहीं। अपौरुषेय होने से चोदना के द्वारा स्वर्गादिसाधन अग्निहोत्रादि का उत्पन्न हुआ ज्ञान चोदनातिरिक्त चक्षुरादि से उत्पन्न न होने के कारण दोषज्ञान तथा बाधकज्ञान के अभाव होने से प्रमाण ही रहता है अर्थात् उसमें अप्रामाण्य की प्रसक्ति नहीं होती। आप्तोच्चरितत्व गुण तथा दोषभाव पौरुषेय वाक्य में देखा जाता है। वहाँ गुणज्ञान से प्रामाण्य अवभासित होता है, यह सिद्धान्त खण्डित कर दिया गया है। फलतः यही अवशिष्ट रह गया है कि दोषाभाव के कारण ही प्रामाण्य की स्थिति है। वेदजन्य ज्ञान में दूर तक दोषों की सम्भावना नहीं दिखायी देती। इस प्रकार सर्वथा दोषों से विनिर्मुक्त चोदना ही धर्म में प्रमाण है, चोदना धर्म में प्रमाण ही है, यह बात सिद्ध हो जाती है। भाष्यकार श्रीशबरस्वामी भी इसी बात को ध्वनित करते हैं—

यत्र च दुष्टं करणं मिथ्येति प्रत्ययः स एव असमीचीनः प्रत्ययः।

(शाबरभाष्य)

अर्थात् जिस ज्ञान के कारण में दोष है और जहाँ दूसरा बाधकज्ञान उत्पन्न होता है वही मिथ्याज्ञान है। श्रीभाष्यकार के इसी कथन से कहीं से भी बिना विचार किये प्रभूतसंपत्ति लेकर केवल मठसमृद्धि में दत्तावधान वेदान्तियों का सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है वैसे ही जैसे अङ्कुर निकल आने पर बीज। उनके विचार से सारा संसार ही मिथ्या है। क्यों? ब्रह्मज्ञान से तत्प्रतीति के बाधित हो जाने से। अर्थात् चक्षुरादि से उत्पन्न हुआ प्रपञ्चज्ञान ब्रह्मज्ञानरूप बाधकज्ञान से बाधित होकर स्वविषय प्रपञ्च के मिथ्यात्व को सिद्ध कर देता है। इसका उत्तर यही है कि प्रपञ्चज्ञान का बाधकीभूत कोई ज्ञान नहीं। ब्रह्मज्ञान के अनन्तर सारे बाह्य-आभ्यन्तर करणों का विलय हो जाने से बाधकज्ञान होता ही नहीं। अतः संसार का ज्ञान यथार्थज्ञान ही है। अर्थात् संसार मिथ्या नहीं है। संसार के मिथ्या हो जाने से सकल आर्यमर्यादा भी भग्न हो जायेगी। इसी न्याय से ज्ञानत्व हेतु से स्वप्नज्ञान की तरह सारे ज्ञानों को निरालम्बन (बाह्यविषयशून्य) मानने वाले बौद्ध भी खण्डित हो जाते हैं। कुतः? स्वप्नादि मिथ्याज्ञान के अन्दर

इसलिए आयेंगे कि जागने पर बाधकज्ञान से बाधित हो जायेंगे। जाग्रत्ज्ञान किसी भी अवस्था में कालान्तर में पुरुषान्तर में अबाधित ही रहता है। अतः वह यथार्थज्ञान ही माना जायेगा। चोदनाजन्य अग्निहोत्रादिविषयक ज्ञान यथार्थ ही है। अतः अग्निहोत्रादि धर्म हैं, यह सिद्ध हुआ।

इस पर बौद्ध यदि यह कहता है कि ज्ञान की प्रत्यक्षता में कोई बाधक है कि नहीं? यदि बाधक है तो स्वयं अप्रकाशित वह नीलादि विषयों का कैसे अवभासक हो सकता है। यदि बाधक कोई नहीं है तो प्रत्यक्षीभूत ज्ञान का आकार ही नीलादि विषय हुआ, तो फिर बाह्य नीलादि विषय सिद्ध ही नहीं होंगे। ततः प्रत्यक्ष का विरोध दिखा कर कैसे स्वप्नादिज्ञान के तुल्य जाग्रत्ज्ञान का मिथ्यात्वखण्डन सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि बाधक के कारण ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं सम्भव है, यह हम नहीं कहते। अपि तु ग्राहक के अभाव में ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होगा। ज्ञान को ही ग्राहक मान लें तो उसी के ग्राह्य होने से एक ही का कर्मकर्तृत्व मानना पड़ेगा। विरोध होने से एक ही का कर्मकर्तृत्व मानना सम्भव नहीं। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि ग्राहक के बिना ज्ञान का ग्रहण सम्भव नहीं। भगवान् भाष्यकार इसी बात को कहते हैं—

न हि अज्ञाते अर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते।
ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति।

(शाबरभाष्यम्)

अर्थात् अगृहीत (अज्ञात) ही ज्ञान अर्थ को प्रकाशित करता है। यद्यपि प्रत्यक्षोत्पत्तिकाल में कोई प्रतिबन्धक ज्ञान के ग्रहण में नहीं है तथापि ग्राहकाभाव के कारण ही ज्ञान का ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं होता। ज्ञान स्वयं गृहीत नहीं हो सकता, इसमें हेतु है एकत्र कर्मकर्तृ का विरोध, ऐसा पूर्व में ही कह दिया गया है। अन्य ग्राहक के न होने से अन्य से भी गृहीत नहीं हो सकता। अतः जैसे इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय (इन्द्रिय का अविषय) होने के कारण स्वयं अगृहीत होती हुईं भी अर्थ को अवभासित कर देती हैं वैसे ही ज्ञान भी उत्पत्तिवेला में अगृहीत होता हुआ भी अर्थ को अवभासित करता है। अर्थ के ज्ञात होने पर पश्चात् ज्ञान का अनुमान होता है। इस प्रकार ज्ञानानन्तर अर्थगत ज्ञातत्व ही ज्ञान का ग्राहक हुआ। यह ज्ञातत्व ज्ञान के पूर्व उत्पन्न न होने से, ज्ञान के पश्चात् ही उत्पन्न होने से ज्ञानकाल में नहीं रहता। अतः ज्ञानकाल में ज्ञान अगृहीत ही रहता है। यह अनुमान का

आकार हुआ। घटज्ञान के अनन्तर—घटः विषयतासम्बन्धेन ज्ञानवान् स्वरूपसम्बन्धेन ज्ञाततावत्त्वात्। अभिप्राय यह है कि जब तक विषय का ज्ञान नहीं होगा तब तक यह मालूम ही नहीं होगा कि ज्ञान हुआ है। जैसे कोई विद्यार्थी विद्याग्रहण करता है। पूरा पढ़ लेने पर भी यदि विद्या गृहीत नहीं हुई तो यही समझता है कि इतने सालों तक पढ़ता रहा ज्ञान नहीं हुआ। गुरुजी सिर्फ सरकारी वेतन लेकर कुटुम्बपोषण करते हुए नरक का रास्ता ही प्रशस्त करते रहे। पढ़ाई में ध्यान नहीं दिया। पङ्क्ति का भाव पूछने पर टाल-मटोल करते रहे। मास में तीन दिन ही विभाग में आते रहे। जब संस्कृतविश्वविद्यालय के बाहर किसी सिद्ध शास्त्रैकपरायण गुरु से पढ़ना प्रारम्भ किया तो एक वर्ष में ही विषय का ज्ञान होने पर अनुमान से ज्ञान को समझा, केवल वेतन लेकर प्रपञ्च बढ़ाने से कोई अध्यापक नहीं हो सकता। प्रोफेसर साहेब ने मेरा कई वर्ष बरबाद किया और मैं मूर्ख ही रहा। आज त्यागमय जीवन बिताने वाले सिद्ध गुरु के चरणों के प्रभाव से मुझे शास्त्रीय विषय ज्ञात हुआ। अवश्य ही मुझे ज्ञान हुआ है। एवम् अन्वयव्यतिरेक से अर्थगत ज्ञातत्व ही ज्ञान का ग्राहक है, यह बात सिद्ध हुई। इस प्रकार नीलपीतादि विषय की बाह्यता सिद्ध हुई। ज्ञान निराकार होता है तथा विषय बाह्य आकारवान् होता है जो ज्ञान से ज्ञात होता है। इसी न्याय से जो बाह्यार्थवादी वैशेषिक ज्ञान के उत्पत्ति-काल मे ही ज्ञान का अन्तरिन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हैं वे निश्चय ही अपने घर में यमराज का आवाहन करते हैं। निराकार ज्ञान की प्रत्यक्षता सम्भव नहीं। अतः उत्पत्तिकाल में ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व को स्वीकार करने पर उसे साकार ही मानना पड़ेगा। ऐसा स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष ज्ञान में भासमान आकार ज्ञान का ही होगा। कथमपि बाह्य अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः पूर्वोक्त न्याय से ज्ञान को अनुमेय मानना ही उचित है।

अवान्तर-आशङ्का

इतनी युक्तियों से जो कुछ भी आप ने सिद्ध किया वह यही है कि प्रामाण्य अन्यापेक्ष न होकर स्वतःसिद्ध है। अभी-अभी आप ने सिद्ध किया कि उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षादि ज्ञान स्वयम् अगृहीत होकर पश्चात् ज्ञेय-अर्थनिष्ठ ज्ञातत्व से अनुमित होता है। जो ज्ञान स्वयम् का ग्राहक नहीं हो सकता वह कैसे अपने धर्मभूत प्रामाण्य का ग्राहक होगा? यदि स्वतः

प्रामाण्य से चोदना का धर्म में प्रामाण्य स्थापित हो रहा हो तो हो। हमें इससे क्या आपत्ति हो सकती है। अग्निहोत्रादि यदि धर्म हैं तो उनका अनुष्ठान जिनको करना है वे करें। आपत्ति इस बात की है कि बुद्ध, ईसा, मूसा आदि के द्वारा स्थापित मार्ग को आप धर्म मानने को तैयार नहीं हो रहे हैं। महानुभाव! आप को विदित होना चाहिये कि बुद्ध सर्वज्ञ हैं। ईसा, हजरत मोहम्मद आदि सीधे ईश्वर के पास से आये हैं। इनके आने का क्या हेतु हो सकता है बिना धर्मोपदेश के। बुद्ध सर्वज्ञ हैं, वे करामलकवत् सकल धर्माधर्म का ज्ञान रखते हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग को आप धर्म मानिये। ईसामसीह, हजरत मोहम्मद ईश्वर के दूत हैं। क्या ईश्वर को धर्माधर्म का परिज्ञान नहीं है? यदि है तो ईसा, मोहम्मदसाहब को भी धर्माधर्म का परिज्ञान है। तब उनके द्वारा उपदिष्ट जो भी मार्ग है वह धर्म क्यों नहीं हो सकता? वह धर्म ही है, ऐसा आपको वैसे ही मानना पड़ेगा जैसे हमारे नेता संविधान को मानते हैं। ऐसा मानने पर ही भारतीयता, अखण्डता, एकता सुरक्षित रहेगी। सर्वधर्मसमभावरूप धर्मनिरपेक्षता की भारतीय नींव हिमालय की तरह अखण्ड कायम रहेगी। इस प्रकार चोदना ही धर्म में प्रमाण है, यह अवधारणा मिथ्या ही रहेगी।

समाधान

प्रामाण्य के ग्रहण के लिए ज्ञान का भी ग्रहण हो यह आवश्यक नहीं, इसको मैंने सूचित कर ही दिया है। वार्तिककार का भी इस विषय में कथन है कि—

प्रामाण्यं ग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम्।
निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरैः॥

(श्लोकवार्तिक)

अर्थात् ज्ञान के ग्रहण के पूर्व ही तद्गत प्रामाण्य स्वरूप से विद्यमान रहता हुआ अपने कार्य में अन्य की अपेक्षा नहीं करता। पश्चात् जिज्ञासा होने पर आनुमानिक प्रत्ययान्तर से गृहीत होता है। ज्ञान का ज्ञायमानत्व स्वप्रामाण्यग्रह में उपयोगी नहीं होता है। यह ज्ञान का सम्बन्धी है, ऐसा समझकर प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता। ज्ञान का प्रामाण्य है विषय का तथाभाव, अर्थात् विषय का जैसा ज्ञान हुआ है उसका वैसा ही रहना। यह विषयतथात्व अज्ञात ज्ञान से ही स्वतः गृहीत हो जाता है। उसके लिए प्रमाणान्तर का गवेषण आज के पारिभाषिक प्रजातन्त्र में न्याय के गवेषण

की तरह अनर्थक है। वह ज्ञान यथार्थ होने से चाहे प्रमाण हो या अयथार्थ होने अप्रमाण, हो स्वतः वह अपने विषय के तथाभाव का ही अवभासक होगा। कहते ही हैं आचार्य पार्थसारथिमिश्र—

तेन अप्रमाणज्ञानमपि स्वतः प्रामाण्यमेवात्मनः अविद्यमानमपि गृह्णत् तन्निबन्धनं व्यवहारं प्रवर्तयति।

अप्रामाण्य के ग्रहण के लिए इससे विपरीत विधा है। वहाँ पर व्यवहारनिवृत्ति के लिए परापेक्षा होगी ही। क्योंकि विषय का अन्यथाभाव ही ज्ञान का अप्रामाण्य होता है। वह अन्यथाभाव तथाभाव की तरह स्वतः गृहीत नहीं होता। अतः वहाँ पर परापेक्षा होगी ही। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि अप्रमाण्य के ग्रहण में यह अन्यथा अर्थ है अथवा इस अर्थ का जो ज्ञान हुआ उनका करण (इन्द्रियाँ) दुष्ट हैं, ऐसा जो स्वयं का ज्ञान होता है वह ज्ञान ही कारण है। नैयायिक मत के समान अनुमानगण कारण नहीं है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः (दोषज्ञान-बाधकज्ञान से) निर्णीत होगा। फलतः चोदनाजन्यज्ञान में दोष और बाधक के अभाव में प्रामाण्य ही सत्पुरुषों में भारतीय शासनव्यवस्था के प्रति अनास्था की तरह दृढ़ होगा।

सर्वज्ञखण्डन

वेदों का अपौरुषेयत्व अप्रामाणिक नहीं है, इसका आगे निरूपण होगा। सर्वज्ञ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है अतः सर्वज्ञ-कल्पना अप्रामाणिक है। सर्वज्ञता में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि हम लोगों को सर्वज्ञ का कहीं भी दर्शन नहीं होता। अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक होता है, अतः वह भी उसमें प्रमाण नहीं, प्रत्युत अनुमान से सर्वज्ञता के विपरीत अर्थ की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जैसे पर्वत में अग्नि का साधक धूम लिङ्ग होता है वैसे ही सर्वज्ञता के अनुमापक लिङ्ग का अभाव है तथा सर्वज्ञता के निराकरण का अनुमापक लिङ्ग है। सर्वज्ञता के अभाव की सिद्धि इन दो अनुमानों से हो जाती है—

अतीतःकालः सर्वज्ञशून्यः कालत्वात् आधुनिककालवत्।
बुद्धो न सर्वज्ञः पुरुषत्वात् अस्मदादिवत्।

अनुमान से बुद्ध की सर्वज्ञता सिद्ध न होने से यदि आप कहें कि आगम से बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि हो जायेगी तो यह आप का भ्रममात्र

होगा। आगम से सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होगी। क्यों? अन्योन्याश्रयदोष के शासकवर्ग में अर्थलोलुपता की तरह प्रसक्त हो जाने से। कैसे? पहले सर्वज्ञ सिद्ध हों फिर उनके आगम का प्रामाण्य सिद्ध होगा, उनके आगम के प्रामाण्य की सिद्धि होने पर सर्वज्ञ सिद्ध होंगे। दूसरी बात यह है कि अन्य पुरुष के द्वारा निर्मित आगम का प्रामाण्य कैसे सम्भव होगा। बुद्ध की सर्वज्ञता का प्रतिपादक यहाँ नित्य आगम की उपलब्धि तो सम्भव ही नहीं। यदि आप कहें कि नित्य आगम उपनिषद् के रूप में वैसे ही विद्यमान है जैसे भारत में दुर्व्यवस्था। उपनिषद् का यह कथन तो हमेशा वेदान्तियों के मुख में रहता है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

इसका उत्तर यह है कि यदि इस आगम को नित्य मानेंगे तो इसकी अर्थवादता सिद्ध होगी जिसका मुख्य अर्थ में तात्पर्य ही नहीं होता। यदि यह आगम शरीरधारी आप के बुद्ध की सर्वज्ञता सिद्ध करने में जुट जाय तो निश्चय ही अनित्य हो जायेगा। अपि च, यदि आगम की नित्यता को ही स्वीकार करने में अम्बेडकर के शास्त्रविरोध की तरह जुट जायेंगे तो सर्वज्ञता की कल्पना निरर्थक हो जायेगी। कैसे? जिस आगम से सर्वज्ञता का प्रतिपादन करके सर्वज्ञ के द्वारा धर्म का प्रतिपादन स्वीकार करेंगे तो सीधे उसी आगम से धर्म का प्रतिपादन क्यों नहीं स्वीकार कर लेते। गन्ने की गाँठ की तरह मध्य में सर्वज्ञ की क्या जरूरत है। यदि आप कहें कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने आप को सर्वज्ञ कहा है। उनका कथन मिथ्या तो नहीं हो सकता। जैसे उनका अग्नि को उष्ण कहना, जल को शीतल कहना यथार्थ है वैसे ही उनका अपने आप को सर्वज्ञ कहना भी यथार्थ होना चाहिये। अतः सर्वज्ञ बुद्ध के द्वारा चैत्यवन्दनादि का उपदेश भी यथार्थ हुआ। फलतः बौद्धों के द्वारा आचर्यमाण चैत्यवन्दनादि धर्म ही हुआ। महोदय! इसके विपरीत अर्थ की भी सिद्धि हो सकती है आप के ही हेतु से। जैसे कोई कहे कि बुद्ध सर्वज्ञ नहीं हैं, यह मेरा वचन उसी तरह से सत्य है जैसे अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, यह वचन सत्य है। बुद्ध का वचन यथार्थ होगा, दूसरे का वचन अयथार्थ होगा, यह आप या कोई भी कैसे कह सकता है। प्रत्युत दूसरा पुरुष प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध है, अतः उसकी बात ही यथार्थ होनी चाहिये। आप इस समय अनुपलब्ध बुद्ध की

बात सिद्ध करना चाहते हैं, अतः बुद्ध का कथन ही अयथार्थ होगा। सर्वथा यह सर्वज्ञत्ववाद अम्बेडकरवाद की तरह ही अतीव तुच्छ है। इसका खण्डन साधारण पुरुष भी उक्त रीति से कर सकता है। अतः कोई महामूर्ख ही सर्वज्ञता की कल्पना कर सकता है। यदि कहा जाय की बुद्ध सर्वज्ञ हैं, ऐसा लौकिक पुरुषों का अविच्छिन्न स्मरण है। अतः बुद्ध सर्वज्ञ हैं, ऐसा उनके काल में ही किसी को ज्ञान हुआ जिसकी स्मरण परम्परा आज तक चली आ रही है। यह भी खल्वाट के मुण्ड में केशराशि की तरह सर्वथा असम्भव है। क्यों? स्मरण में विरोधबाहुल्य होने से। जनता को ठगने के लिए बुद्ध ने आगम बनाया है, यह बात भी स्मृतिपरम्परा में आती है। किसी मूल की असम्भाव्यता के कारण ही सर्वज्ञत्व का स्मरण उत्पन्न नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि बुद्ध की सर्वज्ञता का ग्रहण कुछ मुट्ठी भर लोगों को हुआ, अतः विरोध है। स्मरण का मूल ज्ञान है। ज्ञान, फिर संस्कार तब जाकर स्मरण होगा। सर्वज्ञता का ज्ञान किसी को भी नहीं है फिर स्मरण कहाँ से होगा। सर्वज्ञ को किन-किन विषयों का ज्ञान है, जब तक किसी को ज्ञात नहीं होगा तब तक सर्वज्ञ का भी ज्ञान सम्भव नहीं। भला उनके ज्ञान के ज्ञेय का ज्ञान बिना प्राप्त किये कोई उन्हें सर्वज्ञ कैसे समझ सकता है। सामान्य पुरुष के मन में क्या-क्या बाते हैं, जब इसका ही ज्ञान सम्भव नहीं तो सर्वज्ञ के हृदय में किन-किन विषयों का ज्ञान है, इसका परिज्ञान किसी को कैसे हो सकता है। अतः बुद्ध की सर्वज्ञता का किसी को जब ज्ञान ही नहीं हुआ तो उनकी सर्वज्ञता संसार की स्मरणपरम्परा में कैसे आ सकती है। यदि बुद्ध के सर्वज्ञत्व के ज्ञान के लिए किसी दूसरे को भी सर्वज्ञ के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो उसी प्रकार से अन्य-अन्य की भी सर्वज्ञत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार मस्जिद में जुमे की नमाज के लिए जुटे मुसलमानों की तरह पूरा विश्व ही सर्वज्ञ हो जायेगा। क्यों? इसीलिए कि जो सर्वज्ञ नहीं होगा वह सर्वज्ञ को कैसे जान पायेगा। एवं सर्वज्ञता में किसी प्रकार का प्रमाण अनुलब्ध होनें से उसका अभाव ही सिद्ध होगा। अतः सम्यग्-मूलत्व के अज्ञान से बुद्ध के आगमों का भी धर्माधर्म में प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। इस कारण से भी बुद्ध के आगमों का अप्रामाण्य होगा कि बुद्ध रागादि दोष से परिशून्य हैं अतः लाभ, पूजाख्याति के लिए वैदिकों के साथ

स्पर्धा के लिए वे आगम का निर्माण नहीं कर सकते। वे व्यापारशून्य हैं अतः वे अर्थप्रतिपादन के लिए शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते। बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यवेक्षण पर्याय विकल्प है ही नहीं। अतः 'यह इसका साधन है' जिसका इस शब्द से प्रतिपादन होगा, यह विकल्प जब तक नहीं होगा तब तक वाक्य का निर्माण ही सम्भव नहीं। यह विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सारे जगत् का अवलोकन करते हुए बुद्ध को है नहीं। इससे तो यही सिद्ध होगा कि अन्य किसी ने धर्मोपदेश का प्रणयन किया है। अतः सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत न होने से वह प्रमाण कथमपि नहीं हो सकता। अब यदि ऐसा कहें कि निर्व्यापार बुद्ध के सन्निधानमात्र से दिवालों से भी धर्मोपदेश झरने लगता है वैसे ही जैसे किसी मञ्च से वाजपेयीजी का भाषण। यह कथन किसी केवल श्रद्धा वाले पुरुष को ही सुशोभित करेगा हम जैसे युक्तिदृष्टि वाले पुरुषों को नहीं। हम तो प्रमाणप्रतिपन्न वस्तु पर ही विश्वास कर सकते हैं। मुसलमानों की तरह श्रद्धा में अन्धे होकर ईश्वर की बात मोहम्मद के माध्यम से कुरान के रूप में आयी है, ऐसा हम हरगिज स्वीकार नहीं कर सकते। परलोक की बात है। श्रद्धा की धारा में बहकर कब्र में अनन्तकाल तक पड़े रहना हमें वैसे ही इष्ट नहीं है जैसे धर्मनिरपेक्ष नेता को वैदिक संस्कृति। जिसको अपना जीवन बिगाड़ना है वह बिगाड़े इससे हमें क्या लेना है। दीवाल से निकला उपदेश बुद्ध के लोकोत्तर प्रभाव का अद्‌भुत परिणाम है, यह बात भी सिद्ध नहीं हो सकती। अन्यथा भी सम्भव हो सकता है। यह सन्देह तो किसी भी सचेता पुरुष को हो सकता है कि धर्मोपदेश बुद्ध ने ही किया है या जनता को ठगने के लिए दुरात्मा अदृष्ट पिशाचों ने किया है। इन बौद्धों के आगमों पर प्रामाण्य का निश्चय सम्भव नहीं। इस प्रकार बौद्धों के द्वारा स्वीकृत सर्वज्ञ छोटे पड़ाके की तरह दियासलाई की तीली मात्र से विखण्डित हुआ।

इस पर कोई यह परिकल्पना करे कि देह से आवृत पुरुष इन्द्रियों के द्वारा सीमित ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है, देहादि से विनिर्मुक्त पुरुष इन्द्रियों के बिना भी सभी कुछ जानता हुआ सर्वज्ञ हो सकता है। इसका निराकरण इस प्रकार होगा—मुक्त की सर्वज्ञता में उसके आगम के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण सम्भव नहीं। इस प्रकार उनके आगम के सर्वज्ञप्रणीत होने से प्रामाण्य की सिद्धि होगी तथा प्रामाण्य सिद्ध होने पर सर्वज्ञ की सिद्धि

होगी। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। दूसरी बात यह भी है कि अशरीर पुरुष के द्वारा आगम का प्रणयन शक्य नहीं। शरीर से युक्त पुरुष असर्वज्ञ होगा, अतः उसके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ का प्रामाण्य सम्भव नहीं। यदि आज भी कोई सर्वज्ञ दिखायी देता तब अर्हन् भी मुक्त सर्वज्ञ होते। दृष्टान्त के अभाव में यही सिद्ध होगा कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं। इसी तरह नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत ईश्वर का भी निराकरण समझ लेना चाहिये। इस प्रकार सर्वज्ञकल्पना निष्प्रमाणिका और प्रमाणविरुद्धा ही सिद्ध हुई। महर्षि जैमिनि के द्वारा कल्पित वेदों का अपौरुषेयत्व प्रामाणिक ही माना जायेगा। क्योंकि आज भी पुरुषों के द्वारा गुरुपरम्परा से वेदों का ज्ञान प्राप्त करते हुए ही देखा जा रहा है। अतः कालान्तर में भी ऐसा ही था, यह कल्पना न अदृष्ट है और न ही प्रमाणविरुद्ध। इस अर्थ की सिद्धि आगे विस्तार से की जायेगी। सर्वज्ञ-ईश्वर का निराकरण हो जाने से उनके दूतों का निराकरण स्वतः हो जाता है। अतः यह कहना कि ईसा-मूसा आदि का ग्रन्थ ईश्वरदूतप्रणीत होने से प्रामाणिक है तो इस श्रद्धाजाड्य का कोई उत्तर नहीं। किसी भी व्यक्ति की श्रद्धा का हनन करने में हम या कोई भी व्यक्ति कथमपि समर्थ नहीं हो सकता। श्रद्धा से आप अधर्म में धर्मबुद्धि और धर्म में अधर्मबुद्धि करते रहें। इसका कोई इलाज नहीं है। श्रद्धा एक लाइलाज बिमारी है जो असत् पदार्थों में भी हो जाती है। इस प्रकार यह अवधारणा सिद्ध हुई की चोदना ही धर्म में प्रमाण है, चोदना प्रमाण ही है।

'अर्थ' पद की सार्थकता

चोदना ही जिसमें प्रमाण हो, न प्रत्यक्षादि, उसे ही यदि धर्म कहेंगे तो सूत्रकार भगवान् जैमिनि ने अपने धर्मलक्षण-सूत्र में 'अर्थ' इस पद का ग्रहण क्यों किया, यह जिज्ञासा सर्वसाधारण को होनी ही चाहिये। किसके व्यावर्तन के लिए 'अर्थ' पद है? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि यदि 'अर्थ' पद नहीं रहेगा तो अधर्म में भी धर्म का लक्षण चला जायेगा। अधर्म सभी पुरुषों के लिए अनिष्ट नरक का साधन होने से अनर्थ रूप है, अतः धर्म के लक्षण में 'अर्थ' यह विशेषण होने से अनर्थरूप अधर्म की व्यावृत्ति हो जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि जो चोदनालक्षण अर्थ अर्थात् श्रेयः का साधन है, वही धर्म है। जो ऐसा नहीं होगा वह अधर्म होगा। इसी बात को मीमांसा के भाष्यकार श्रीशबरस्वामी कहते हैं—

उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्च। अनर्थ उक्तो धर्मो माऽभूत् इत्यर्थग्रहणम्। (शाबरभाष्य चो० सूत्र)

अर्थात् चोदना दो प्रकार की होती है। विधिचोदना, निषेधचोदना। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस विधिचोदना से लक्षित अर्थरूप अग्निहोत्रादिहोम जैसे धर्म है वैसे ही 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेध-चोदना से लक्षित कलञ्जभक्षणादि अधर्म होगा। सूत्र में 'चोदना' पद उदाहरणार्थ समझना चाहिये। यथा विधिचोदनया लक्षित: अर्थ: अग्निहोत्रादि: धर्मस्तथा निषेधचोदनया लक्षित: अनर्थ: कलञ्जभक्षणादि: अधर्म:। भाष्यकार भी इसी बात को कहते हैं—

य एव श्रेयस्कर: स एव धर्मशब्देनोच्यते।

अर्थात् जो श्रेयस्कर अभ्युदयकारी होगा,उसे ही धर्म कहेंगे। वार्तिककार भी कहते ही हैं—

श्रेयो हि पुरुषप्रीति: सा द्रव्यगुणकर्मभि:।
चोदनालक्षणै: साध्या तस्मात् तेष्वेव धर्मता॥
(श्लोकवार्तिक)

अर्थात् श्रेय का दूसरा पर्याय है पुरुषों की प्रीति। चोदना ही जिनमें प्रमाण है, ऐसे द्रव्य-गुण-कर्म से ही वह साध्य है। एवं प्रीति का जो द्रव्य-गुण-कर्मरूप साधन है उसी को धर्म कहा जायेगा। जैसे—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' यहाँ इन्द्रिय-पशुरूप-श्रेय:साधनतया विहित दधि-गोदोहन (दोहनी) रूप द्रव्यों को ही धर्म कहेंगे। 'यदि कामयेत वार्षुक: पर्जन्य: स्यात् स नीचै: सदो मिनुयात्' यहाँ, वर्षा वाले बादल का साधन स्तोत्रपाठ जहाँ होता है, ऐसे सदोमण्डप का नीचैस्त्व (नीचा) रूप गुण ही धर्म होगा। एवम् स्वर्गादि-साधन अग्निहोत्रादि कर्म को भी धर्म कहा जायेगा। इस पर यदि कोई आशङ्का करे कि जो यागादि का अनुष्ठाता है वह अपूर्व-अन्त:करणवृत्ति का भी अनुष्ठाता है। यथा 'यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकं समाचक्षते' इस भाष्य से यदि याग का अनुष्ठाता धार्मिक है तो याग के अपूर्व के अनुष्ठाता को भी धार्मिक कहेंगे। अत: अपूर्वरूप अन्त:करणवृत्ति ही धर्म है। अत: याग के योग से ही 'धार्मिक' शब्द का लोक में प्रयोग होता है, अपूर्व के योग से नहीं होता, ऐसा विवेक कैसे होगा? इसका उत्तर यही होगा कि—लौकिक पुरुषों को अपूर्वादि-स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तथापि वे 'धार्मिक' पद का

प्रयोग करते हैं। वे यागादि धर्मों को ही श्रेय का साधन मान कर उसके अनुष्ठाता के लिए धार्मिक शब्द का प्रयोग करते हैं। अतः यागादि ही धर्म है न कि तत्साध्य अपूर्व अन्तःकरणवृत्ति।

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" इस वेद से भी यही निश्चित होता है कि यागादि ही धर्म है। यहाँ पर 'यज्ञं धर्माणि' इस सामानाधिकरण्य से यज्ञ ही धर्म है, ऐसा निश्चित हुआ। धर्म के विषय में अन्य-अन्य दार्शनिकों का मतभेद है। जैसे—सांख्य लोग अन्तःकरण के वृत्तिविशेष को ही धर्म कहते हैं जिसका जन्म यागादि के अनुष्ठान से होता है। बौद्ध ज्ञान की वासना को ही धर्म कहते हैं जिसकी उत्पत्ति अन्य ज्ञान से होती है। जैनी शरीर के उत्पादक पुद्गल नामक परमाणुओं को धर्म कहते हैं। वैशेषिक आत्मा के विशेष गुण को ही धर्म मानते हैं। प्रभाकर अपूर्व को धर्म कहते हैं। ये सारे मत खण्डित हो जाते हैं क्योकि इन सारे अर्थों में लोक 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं करता। ये सारे अर्थ चोदना से ज्ञात नहीं हो सकते, अतः धर्म भी इनको नहीं कहा जायेगा। अपूर्व भी कोई अन्य वस्तु नहीं है। किन्तु फल में प्रवृत्त यागादि की शक्ति ही अपूर्व है। इसका उपपादन मीमांसा के द्वितीय अध्याय के अपूर्वाधिकरण में किया गया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि विधिचोदना से लक्षित अर्थ = श्रेयस्कर ज्योतिष्टोम-अग्निहोत्रादि धर्म है। अनर्थ को धर्म नहीं कहा जायेगा। यहाँ पर 'कोऽनर्थः ?' इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—यः प्रत्यवायाय (पाप) श्येनः, वज्रः इषुः इत्येवमादिः। अर्थात् जो पाप के लिए होगा वह अधर्म है। श्येन, वज्र, इषु ये तीनों हिंसा के लिए किये जाने वाले यागविशेषों की संज्ञायें हैं। यहाँ पर यह आक्षेप युक्तिसङ्गत ही है कि जो हिंसादि अनर्थ हैं उनका 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' अर्थात् संसार के किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये, ऐसा निषेध है। जिनका निषेध है उनका त्याग होता है, ऐसा करने पर ही भद्र है। जिनका निषेध नहीं होता, केवल विधि (प्रवर्तन) है वे कर्तव्य हैं। श्येनादि भी विधेय नहीं हो सकते। फिर भाष्यकार का श्येनादिविषयक अनर्थोदाहरण कैसे सङ्गत होगा? वार्तिककार ने भी यही आक्षेप प्रस्तुत कर ही दिया है—

चोदनालक्षणो यश्च श्येनादिरिह गम्यते।
निषेधाभावत स्तस्य कथं ब्रूयादनर्थताम्॥

(श्लोकवार्तिक)

इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं, 'हिंसा हि सा, सा च प्रतिषिद्धा।' इसका अभिप्राय यह है कि वह प्रसिद्ध हिंसा ही श्येनयाग है जो 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' से प्रतिषिद्ध है। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस वाक्य से अभिचाररूप फल को उद्देश करके श्येनयाग विहित है। शस्त्रघातादिरूप प्राण के अपहरण के अनुकूल जो व्यापार होता है, उसे ही अभिचार या हिंसा कहते हैं। प्राय: धर्मनिरपेक्ष नेता कहते ही हैं कि आर्य जनता (हिन्दू) आदि काल से ही सहिष्णु है। हिंसा में वह विश्वास ही नहीं करती। अत: उसे जो हिंसक बनाने का प्रयास करते हैं वे हिन्दुओं की आत्मा सहिष्णुता की ही हत्या कर देना चाहते हैं। ऐसे लोगों को 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' इस शास्त्र के वचन का मनन कर लेना चाहिये जिसका अभिप्राय यह है कि माँ-बहनों के साथ बलात्कार के लिए, परिवार की हत्या करने के लिए, धर्मभ्रष्ट करने को जो व्यक्ति आरूढ़ हो गया है वह आततायी है जिसका बिना कुछ विचार किए ही वध कर देना चाहिये। अन्यत्र भी यही बात कही गयी है—'आततायी वधार्हण:।' आततायी वध के योग्य है। ऋग्वेद तो उस व्यक्ति का भी वध करने को कहता है जो अपने धन का उपयोग धर्म या गरीबों को देने आदि में नहीं करता। इस प्रकार से धन का संग्रह जो घोटाला आदि से करते हैं तथा जो राजकोष का प्रभूत धन अपने व्यक्तिगत उपयोग में लाते हैं वे सभी वध के योग्य हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रसिद्ध ही है—

मोघमन्नं विन्दते ह्यप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्णाति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

इस प्रकार जो अहिंसक है, क्षुद्रजीव की हिंसा में भी जिसको भय है उसकी हिंसा में प्रवृत्ति जगाने के लिए श्येनयाग का विधान है। अर्थात् जो किसी के ऊपर लाठी-तलवार आदि नहीं चला सकता वह यदि श्येनयाग करेगा तो उसकी प्रवृत्ति तलवार चलाने में हो जायेगी। इस प्रकार हिंसा स्वयं श्येनयाग न होकर श्येन का फल है। भाष्यकार ने फल को ही तत्साधन 'श्येन' पद से कहा है। लोक में ऐसा प्रयोग अभेद की विवक्षा मानकर होता ही है। घृत आयु का साधन है तथापि उसे 'आयु' शब्द से व्यवहृत करते हैं। किसी को घृत मिल जाय तो प्रसन्नता में वह कह ही देता है कि मुझे आज आयु ही मिल गया। वैसे ही धर्म के प्रत्युदाहरण के

रूप में हिंसा को न कहकर हिंसा के साधन श्येन को कह दिया गया। वस्तुतः धर्म का प्रत्युदाहरण हिंसा ही है। वह निषिद्ध होने से अनर्थ अर्थात् नरक का साधन होने से अधर्म हुई। उसमें धर्म का लक्षण न जाय अतः अधर्म की व्यावृत्ति के लिए 'अर्थ' पद सार्थक हुआ। जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

श्येनादीनां विधेयत्वादिष्टस्यापि साधनात्।
उपचारादनर्थत्वं फलद्वारेण वर्ण्यते॥

(श्लोकवार्तिक)

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भाष्यकार ने श्येनफल हिंसा के अभिप्राय से श्येन को अनर्थ कहा है, न कि श्येनयाग के स्वरूप के अभिप्राय से। इसी अभिप्राय से ही श्रीभाष्यकार ने—'कथं पुनः अनर्थः कर्तव्यतया उपदिश्यते', ऐसा प्रश्न करके 'नैव श्येनादयः कर्तव्यतया विज्ञायन्ते' इस वचन से श्येनादि की अविधेयता का उपपादन करके 'यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः', ऐसा कहा है। यहाँ पर जिस श्येन को अविधेय कहा है उसे श्येनफल हिंसा समझना चाहिये तथा जहाँ पर हिंसा के उपाय के रूप में आदेश की बात कही है वह श्येनयाग के स्वरूप को लेकर ही।

इस प्रकार धर्म और अधर्म की परस्पर निरपेक्षता ही समझनी चाहिये। विधि से विधेय कर्तव्य अर्थ का निर्णय होता है तथा निषेध से निषिद्धों का अनर्थत्व रूप से निर्णय होता है। धर्म में विधिचोदना तथा अधर्म में निषेधचोदना ही प्रमाण हैं। दोनों प्रमाणों के भिन्न-भिन्न होने से धर्म और अधर्म की परस्पर सापेक्षता नहीं है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

एवं सति विधिभ्यः श्यात् विधेयार्थावधारणम्।
निषेधेभ्यो निषेध्यानामनर्थत्वेन निर्णयः॥

(श्लोकवार्तिक चो० सू०)

इस प्रकार हिंसादि अधर्म के व्यावर्तन के लिए 'अर्थ' पद के सार्थक होने से श्येनयाग भी हिंसारूप इष्ट का साधन है, अतः वह धर्म ही हुआ। श्येन का फल हिंसामात्र अधर्म है। इसी कारण ही—

'परस्योत्सादनार्थं यत् तत्तामसमुदाहृतम्' ऐसा श्रीकृष्ण का दूसरे के नाश के लिए किये गये कर्म को तामस धर्म कहना उपपन्न होता है। यदि

श्येनयाग धर्म ही नहीं होगा तो तामस धर्म कहाँ से होगा। तामस धर्म वह तभी कहा जा सकता है जब सामान्यरूप से धर्म होगा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि साधन-इतिकर्तव्यता के अंश में प्रसक्त हिंसा अधर्म नहीं है। विहित होने से। पुरुषार्थ हिंसा ही अधर्म कहीं जायेगी। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

तस्मात् फलांशे या हिंसा वैदिकी सा निषिध्यते।

(श्लोकवार्तिक)

आक्षेप

केवल व्याख्या के कौशल से विपरीत अर्थ की सिद्धि करना वैसे ही अनुचित है जैसे बिना काम किये पर्याप्त पारिश्रमिक लेकर अपने परिवार का पोषण। सारे लोक में जो निन्दा का विषय है उसे धर्म के रूप में मण्डित करना किसी भी बुद्धिजीवी शिष्ट व्यक्ति के लिए अनुचित ही है। यदि श्येन याग करने से हिंसा की भावना जागती है तो श्येनयाग को धर्म कहना सामाजिक समरसता मूल से ही समाप्त कर देना है। लगता है कि वैमनस्य का बीज आप पृथ्वी के हर कोने में बो देना चाहते हैं। हिंसा को बढ़ावा यदि वेद दे रहा है तो वेद को ही अस्वीकार करना उचित है। आप का कहना है कि धर्माधर्म के मूल में मात्र वेद है। यदि वेद न रहे तो धर्माधर्म का परिज्ञान ही नहीं हो सकता। इस पर मुझे यही कहना है कि धर्माधर्म का परिज्ञान वेद के बिना भी सम्भव है। किसी महापुरुष ने कहा ही है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

इसी बात को गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

परहितसरिस धर्म नहि भाई। परपीडासम न हि अघमाई॥

अपनी आत्मा को देह-पीडा से दुःख मिलता है और देहमन के अनुकूल कार्य से सुख मिलता है। अतः दूसरे को भी ऐसी ही अनुभूति होती होगी। इसीलिए—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् अपने को जो प्रतिकूल लगे वैसा आचरण दूसरे के साथ भी नहीं करना चाहिये। इसीलिए मित्रवर! अनुग्रह करने से धर्म और पीडा से

अधर्म होता है, ऐसा आप आँख मूँद कर स्वीकार करें। अनुग्रहपीडामूलक ही धर्माधर्म हैं न कि वेदमूलक, ऐसा स्वीकार कर लेने में क्या बाधा है?

समाधान

मैं मानता हूँ कि आप धर्मनिरपेक्ष ताकतों से जुड़े हुए हैं और वे ताकतें आप से जुड़ी हुई हैं। श्येनयाग की समीहितसाधनता यदि वेदमात्र से अवगत हो रही है तो उसे धर्म मानने में क्या बाधा है। जैमिनि के धर्मसूत्र का यह तात्पर्य ही है—

वेदबोधितेष्टसाधनताकत्वं धर्मत्वम्।
वेदबोधितानिष्टसाधनताकत्वमधर्मत्वम्।

अर्थात् वेद से ही, न कि प्रत्यक्षादि से भी, जिसकी इष्टसाधनता बोधित हो वह धर्म है तथा जिसकी अनिष्टसाधनता बोधित हो वह अधर्म है। राजा के लिए प्रजा का पालन करना ही सब कुछ है। उसी से ही उसका अभ्युदय जुड़ा हुआ है। आज की राजनीति के समान भारत का वैध राजा राजनीति केवल नहीं करता था कि विदेशियों के लिए भारतीय नागरिकता का चूरण के समान वितरण करता रहे जिससे आर्य जनता का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। भेद की राजनीति के मोहरे प्रजा नहीं बनायी जाती थी। प्रजा की सुरक्षा के लिए वैदेशिक विधर्मियों में ही भेद नीति का प्रयोग होता था। आज विपरीत स्थिति है। सिर्फ सत्ता की कुर्सी से चिपकने के लिए लिए जनता में भेद की राजनीति हो रही है। दलित, शोषित, पिछड़ा, आभिजात्य, शोषक आदि-आदि पारिभाषिक शब्द गढ़े जा रहे हैं। अपने ही लोगों को आपस में संघर्ष करा कर सत्ता प्राप्त करने की राजनीति की आग जलायी जा रही है जिसमें वैदेशिक विधर्मी हवा देने का कार्य कर रहे हैं। अधिक क्या कहा जाय, शासन से त्रस्त होकर जनता यदि आत्मदाह करने लगती है तो भी ये राजनीति के पुरोधा कुर्सी से उतरते नहीं। ऐसी अनैतिकता आज भारत में परिलक्षित हो रही है। धर्म से अपने को अभिन्न मानने वाले राजा के लिए प्रजा और राष्ट्र का हित सर्वोपरि होता था। खतरे की स्थिति आने पर श्येनयाग का उपयोग होता था। जब तक ऐसा था तब तक भारत अजेय था। इस प्रकार प्रजा-राष्ट्र के हित के लिए, वेद या धर्म की रक्षा के लिए हिंसा आवश्यक प्रतीत हुई तो उसके लिए श्येनयाग का अनुष्ठान धर्मातिरिक्त कुछ नहीं था। मान लीजिये कि अनर्थभूत हिंसा का

साधन होने से श्येनयाग अधर्म ही है, वैसे स्वतः अधर्म नहीं है। वह निषिद्ध न होकर विहित है, अतः उसका पाप फल है, यह कहना भी उचित नहीं। एवम् यही मानना उचित होगा कि श्येनयाग के द्वारा साध्य जो हिंसारूप क्रिया, उसी से नरकादिरूप अनर्थ है न कि श्येनस्वरूप से। अब कहिये कि वह यदि अधर्म नहीं हो सकता तो उसे धर्म होना चाहिये। इस पर वार्तिककार कहते हैं—

फलतोऽपि च यत् कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्मत्वेन हीष्यते॥

(श्लोकवार्तिक चो०सू०)

अर्थात् जिस कर्म का फल भी अनर्थ नरकादि का निमित्त नहीं होता, केवल सुख का हेतु होने से उसे ही धर्म के रूप में स्वीकार किया जायेगा। जैसे अग्निहोत्रहोम, ज्योतिष्टोमयाग, दान आदि-आदि। इनका फल स्वर्ग है, अतः अनर्थ का हेतु नहीं हैं। एवम् अनर्थाहेतुक स्वर्गरूप फल का साधन अग्निहोत्रादि के धर्मत्व में कोई बाधा ही नहीं है। यदि पुनः आप कहें कि इष्ट का साधन होने से श्येनयाग धर्म हुआ। समीहित शत्रुवध का साधन होने से श्येन धर्म होगा, इसे लोक प्रसिद्धि के अनुसार समझना चाहिये। यदि कार्य-अकार्य की अपेक्षा न करते हुए चोदनागम्य को धर्म मानेंगे तो श्येन में धर्मत्व ही होगा तथा जो साक्षात्-परम्परा दोनों प्रकार से असुख का हेतु होगा वह अधर्म ही होगा, ऐसा मानने पर श्येन को यदि अधर्म भी कहा जाय तो कोई बाधा नहीं।

यह जो आप अनुग्रहमूलक धर्म और पीडामूलक अधर्म है, ऐसा कह रहे हैं तो निश्चय ही साम्प्रतिक प्रजातन्त्र की तरह अनर्थपरम्परा को आमन्त्रित कर रहे हैं। कैसे? जप और सुरापान से न किसी का अनुग्रह होता है और न ही किसी को पीडा होती है, इस प्रकार जप और सुरापान धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं कहा जायेगा। आप के मत से गुरुपत्नीगमन भी धर्म ही कहा जायेगा। अधिक अनुग्रह करने से। यद्यपि गुरुपत्नीगामी अपना अपराध कबूलता हुआ अपना अपकार ही करता है तो भी यदि गुरुपत्नी का अधिक उपकार कर देता है तो उपकार के आधिक्य से धर्म ही अधिक किया, ऐसा मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार उपकार की भावना से जितने भी अनैतिक कार्य होंगे वे सब आप के मत में धर्म हो जायेंगे। बिना शास्त्र के ही आप यदि धर्म-अधर्म को साधने चलेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष की भी

प्रसक्ति होगी। पीडा से अधर्म और अधर्म से पीडा। यदि कहें कि अपने आप को भी यदि किसी कर्म से पीडा हो तो वह अधर्म होगा। इस प्रकार गुरुपत्नीगमन से अपने आप को भी पीडा होती है तो वह अधर्म क्यों कर नहीं होगा। इसका उत्तर वार्तिककार इस प्रकार देना ही उचित समझते हैं—

एवमादावशास्त्रज्ञो म्लेच्छो नोद्विजते क्वचित्।
तस्य नाधर्मयोगः स्यात् पूर्वोक्ता यदि कल्पना॥

(श्लोकवार्तिक)

अर्थात् यदि ऐसी कल्पना की जायेगी तो ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त आर्य जनता से बाहर वाले जितने भी म्लेच्छ हैं, उनमें अधर्म की प्रसक्ति नहीं होगी। क्यों? इसीलिए कि शास्त्र को न जानने वाले उन म्लेच्छों का चित्त इन सारे कुकर्मों से जरा भी उद्विग्न नहीं होता। इसीलिए महानुभाव! अनुग्रह-पीडा को किनारे करके धर्म-अधर्म की व्यवस्था के लिए विधि-प्रतिषेधरूप दोनों प्रकार की चोदना का अन्वेषण बहुत जरूरी है।

धर्म का प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यत्वाक्षेप

द्रव्य, गुण तथा याग, होमदानादि कर्मों को आप धर्म के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। यह भी अतीव प्रयास से सिद्ध कर रहे हैं कि चोदना के द्वारा ही गम्य अर्थात् ज्ञेय है। नेता के द्वारा वोटबैंक बनाने जैसा आप का यह प्रयास कथमपि सफल नहीं हो सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही धर्म-अधर्म का परिज्ञान सम्भव है। द्रव्य-गुण-कर्म के प्रत्यक्षत्व में क्या विवाद हो सकता है। मान लिया कि धर्माधर्म अलौकिक हैं, हम लोगों की पहुँच उसके बाहर है, तथापि योगियों और मुक्तात्माओं को तो प्रत्यक्ष हो ही सकता है। योगी का सामर्थ्य अद्भुत होता है। वह एक जगह बैठकर जैसे अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वैसे ही धर्माधर्म का ज्ञान भी उसको होगा ही, इसे आप को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रकार अनुमानादि प्रमाण भी धर्म-अधर्म के परिज्ञान में समर्थ ही हैं। प्रत्यक्षपूर्वक अनुमानादि प्रमाणों की गति सम्भव ही है। अपि च, प्रातिभाख्य प्रमाण से गम्य भी वह होगा। लोक में भी कहीं उसकी विद्यमानता माननी ही पड़ेगी। जैसे घर में बैठे कुछ पुरुष पहले ही बता देते हैं कि हमारा सम्बन्धी आज आयेगा, सम्बन्धी आता ही है। सम्बन्धी के आने का ज्ञान पुरुष की प्रतिभा से हुआ। इस तरह की प्रतिभा के धनी ऋषि

ही अधिक होते हैं। अतः आर्षप्रतिभामूलक धर्माधर्म को मानना अनुचित नहीं होगा। बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, दयानन्द आदि ऋषि की कोटि में ही आयेंगे। अतः तत्प्रतिभाप्रसूत भी धर्माधर्म हुए।

समाधान

प्रत्यक्ष धर्माधर्म का निमित्त नहीं हो सकता, इसका निरूपण भगवान् जैमिनि ने प्रत्यक्षसूत्र से कर ही दिया है। प्रत्यक्षसूत्र है—

"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्, अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।" (जैमिनिसूत्र १.१.४)

अर्थात् प्रत्यक्ष धर्म-अधर्म का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता। क्यों? विद्यमानोपलम्भनत्वात्। वर्तमान वस्तु का ही इन्द्रियों के द्वारा बोध होने से। विद्यमान का ही बोधक प्रत्यक्ष है, इसमें हेतु है—पुरुष की इन्द्रियों का विद्यमान अर्थ (वस्तु) के साथ सन्निकर्ष होने पर ही ज्ञानोत्पत्ति के प्रत्यक्ष होने से। सत्सम्प्रयोगज प्रत्यक्ष होता है, अतः वर्तमान का ही बोधक होगा। धर्म-अधर्म ज्ञानकाल में न होने से भावी हुए। एवम् वर्तमानता का अभाव होने से धर्म-अधर्म का निमित्त प्रत्यक्ष नहीं होगा, यह बात सिद्ध हुई। यदि कहें कि द्रव्यादि के ही धर्म के रूप में स्वीकृत होने से प्रत्यक्षगम्यता उसकी सिद्ध हो जायेगी, तो मैं कहूँगा, ऐसा कथमपि सम्भव नहीं होगा। यदि केवल द्रव्यादि को हम धर्म मानेंगे तो प्रत्यक्षता में कोई बाधा नहीं होगी। केवल द्रव्यादि को हम धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते। अपि तु स्वर्गादि श्रेय के साधन के रूप में हम द्रव्यादि के धर्मत्व को स्वीकार करते हैं।

'स्वर्गकामो यजेत' इस वेदवाक्य से स्वर्गसाधनत्व के रूप से याग का धर्मत्व बोधित हो रहा है। याग स्वर्ग का साधन है, यह बोध चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं हो सकता। अतः धर्म में प्रत्यक्ष निमित्त नहीं है, यह बात सिद्ध हुई। वार्तिककार भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥

(चो०सू० १३-१४)

अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं, अतः अनुमानादिगम्य भी धर्माधर्म नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तु के सन्निकर्ष से ही होता है, यह लोकसिद्ध नियम है। मनुष्य से लेकर गदहा, घोड़ा, खच्चर आदि पर्यन्त यही नियम लागू होता है, अतः योगियों का प्रत्यक्ष भी इस नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। उसका प्रत्यक्ष भी विद्यमान का ही प्रापक तथा सत्संप्रयोगज ही होगा जैसा हम लोगों का प्रत्यक्ष होता है। इससे योगी की भावना के बल से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह बात खण्डित हुई। भावना के बल से अनुभूत अर्थ की स्मृतिमात्र होती है। स्मृति तो प्रमाण की कोटि में ही नहीं आती, प्रत्यक्ष की कोटि में आना तो दूर की बात है। इसलिए धर्म यदि प्रमाणान्तर से अनुभूत है तो भावना (विषय का पुनः पुनः अनुसन्धान) की क्या आवश्यकता है। यदि वह अनुभूत नहीं है तो उसकी भावना भी नहीं हो सकती। मुक्तात्माओं को सर्वविषयक ज्ञान ही सम्भव नहीं। पहले ही यह बात कही जा चुकी है। प्रत्यक्ष विद्यमान-विषयक ही होता है, यह ऋषि जैमिनि ने सिद्ध कर दिया है। अतः अविद्यमानविषयक योगि का ज्ञान किसी प्रकार से प्रत्यक्षत्व की कोटि में नहीं आ पायेगा। प्रतिभा भी प्रमाण की कोटि में नहीं आती। हम लोगों की प्रतिभा लिङ्गाद्याभासजन्य ही है। यदि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्ररूप से धर्मनिरपेक्ष भारत में किसी पार्टी की तरह पनपती है तो अर्थ का निश्चय न करा पाने से प्रमाण नहीं होगी। प्रमाणों से तो घटादि अर्थ का निश्चय होता है। ऋषियों की प्रतिभा के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। किसी की प्रतिभा की उपज को ही हम धर्म-अधर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। मनु-याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, पराशर, व्यास, जैमिनिआदि जो ऋषि हैं, उनकी प्रवृत्ति मूलप्रमाण वेद की उपेक्षा करके नहीं देखी जाती। जहाँ भी वे धर्म-अधर्म की व्यवस्था करते हैं वहाँ मूल प्रमाण के रूप में वेद को ही उद्धृत करते हुए देखे जाते हैं। यदि धर्म-अधर्म उनकी प्रतिभा से ही गम्य होते तो मूलप्रमाण में उनकी दृष्टि ही नहीं होती। बुद्ध आदि तो ऋषि ही नहीं हैं। वे वेदविरोधी वार्ता करते ही देखे जाते हैं। अतः उनकी प्रतिभा से प्रसूत जो कुछ भी है वह धर्म-अधर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार हे महानुभाव! धर्म-अधर्म के मूल में चोदना ही है, ऐसा ही आप मानते हुए चलिये।

पुनः आक्षेप

यदि धर्म-अधर्म प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्य नहीं हैं तो उन्हें अभाव-गम्य मानिये। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण के अभाव होने से धर्म-अधर्म नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। केवल लोक की अन्धपरम्परा ही धर्म-अधर्म है। यदि लोक की प्रसिद्धि का अपलाप करना इष्ट नहीं है तो लोकप्रसिद्धि को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार कीजिये। लौकिक पुरुष जिसे धर्म कहें वह धर्म तथा जिसे अधर्म कहें वह अधर्म है। ब्राह्मणादि का जैसे विवेक लोकप्रसिद्धि के अनुसार होता है वैसे ही धर्म-अधर्म का भी विवेक सम्भव है। इस तथ्य को वेदव्यास भी इस प्रकार आविष्कृत करते हैं—

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥

अर्थात् यह जलाशयादि का निर्माण पुण्य है, यह गृहदहन आदि अपुण्य है, इस प्रकार उपकारापकारविषयक 'धर्माधर्म' पदद्वय में यावत्-चाण्डाल प्रसिद्धि होने से शास्त्र का प्रयोजन अत्यल्प ही है।

यदि आप चोदना के प्रामाण्य के व्यवस्थापन में आरूढ़ ही हो गये हैं तो मैं आप का क्या कर सकता हूँ। पुरुष के दोष के संसर्ग से वाक्य में दोष की प्रसक्ति होती है, ऐसा आप आँख मूँद कर स्वीकार करते हैं। चोदना शब्दरूप ही है। शब्द का अर्थ के साथ अनित्य सम्बन्ध है, अर्थात् अपने व्यवहार के लिए किन्हीं पुरुषों ने ही शब्दों की परिकल्पना करके तथा उनका अर्थों के साथ सम्बन्ध बना कर वेदों का निर्माण कर दिया है। चोदना में पुरुष का सम्बन्ध इस प्रकार से सिद्ध हो जाता है। एवम् धर्म-अधर्म में कथमपि चोदना का प्रामाण्य सिद्ध होता नहीं दिखायी देता। यदि प्रत्यक्षादि को प्रमाण मानेंगे तो कुछ गुञ्जाइश है। शब्द तो किसी प्रकार से भी प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। प्रत्यक्षादि से प्रमित वस्तु का ही व्यवहार के लिए शब्द के द्वारा प्रतिपादन होता है। शब्द यदि प्रत्यक्षादि के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करे तो उसका प्रामाण्य नेता के आश्वासन की तरह कैसे सम्भव होगा। अतः शब्द प्रमाण हो ही नहीं सकता। क्यों? प्राप्ति की योग्यता होने पर भी जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, वह वस्तु है ही नहीं। जैसे शश का शृङ्ग। यदि शश का शृङ्ग होता तो प्रत्यक्षसामग्री के रहने पर उसका प्रत्यक्ष भी होता। प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः वह है ही नहीं।

वेद 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य से कहता है कि चित्रानामक याग करने से पशु की प्राप्ति होती है। पशुरूप फल प्रत्यक्ष है, क्योंकि इन्द्रियाँ उनका बोध कराने में समर्थ हैं। चित्रायाग करने के बाद पशुओं की उपलब्धि नहीं होती। अतः यह कहना स्वाभाविक ही है कि चित्रायाग पशु का साधन नहीं है। कर्म के समय ही पशु की उपलब्धि होनी चाहिये। यदि आप कहें कि कालान्तर में फल होगा तो यह कल्पना लोक के विरुद्ध होगी। सुरतादि कर्मों का फल तत्काल देखने को मिलता है। जिस समय चित्रायाग हुआ उस समय फल नहीं, जिस समय फल मिला उस समय चित्रायाग नहीं। क्योंकि उसका ध्वंस हो गया है। अतः याग फल का साधन नहीं, यह बात सिद्ध हुई। अपि च, पश्वादि फल के कारण अन्य प्रतिग्रहादि भी प्रत्यक्षदृष्ट हैं। दृष्ट कारण का परित्याग करके कैसे अदृष्ट याग की कारणता स्वीकार की जाय। अतः दृष्टव्यभिचार वेद हुआ। एक जगह व्यभिचार के दृष्ट होने से स्वर्गादि अदृष्ट फल की सम्भावना भी दूरतः निरस्त प्रतीत हो रही है। इस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि सकल चोदना का अप्रामाण्य सिद्ध हुआ। अपि च, 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति', यह वेद प्रत्यक्ष ही मृत शरीर का व्यवहार कर रहा है। मृत शरीर स्वर्गलोक में नहीं जाता। लोग जलते हुए उसे प्रत्यक्ष देखते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरोध होने के कारण वेद और वैदिक चोदना का प्रामाण्य किसी भी प्रकार से सिद्ध होता हुआ नहीं दिखायी देता। एवम् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', यह कथमपि सिद्ध नहीं होगा।

समाधान

यह आप का कहना सर्वथा असङ्गत नहीं है कि धर्म-अधर्म प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाण-गम्य नहीं हो सकते क्योंकि धर्म-अधर्म को हम अलौकिक मानते हैं। उनमें यदि लौकिक प्रमाणों की गति न्यायप्रक्रिया में प्रजातन्त्र की तरह सम्भव नहीं तो यह भूषण है, दूषण नहीं। अलौकिकत्वसिद्धे भूषणमेतद् न दूषणम्। किन्तु शब्द के प्रमाणरूप से व्यवस्थित हो जाने पर अभावप्रमाणगम्यता अर्थात् धर्म-अधर्म के अस्तित्व को ही डकार जाना, मुट्ठीभर धर्मनिरपेक्ष ताकतों को ही शोभा देता है। ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त हमारी आर्य जनता के गले के नीचे हड्डी की तरह नहीं

उतरती। अभावगम्यता का निराकरण करने के लिए ही महर्षि जैमिनि ने औत्पत्तिक सूत्र को अवतारित किया है—

"औत्पत्तिकश्च शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्॥" (जैमिनिसूत्र, १.१.५)

आप का यह कहना कि धर्म-अधर्म लोकप्रसिद्धिगम्य हैं तो मैं इस पर अवश्य प्रश्न करूँगा कि पापपुण्यविषयक लोकप्रसिद्धि अर्थात् लोक का प्रकृष्ट ज्ञान निर्मूल न होने से किंमूल है? लोकप्रसिद्धि का मूल भ्रम है कि प्रत्यक्षादि हैं किं वा चोदना है? भ्रम और प्रत्यक्षादि प्रमाण मूल नहीं हो सकते, यह बात उक्तप्राय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-अर्थापत्ति के निराकृत हो जाने पर दो ही प्रमाण बचते हैं— अभाव और शब्द। अतः अभावप्रमाणगम्यत्व के निराकरण के लिए शब्दप्रमाण को उपस्थापित करना अनुचित नहीं होगा। प्रत्यक्षादि का यदि त्याग कर दिया जाय तो स्वयम् ही प्रसिद्धि का प्रामाण्य सम्भव नहीं होगा। ब्राह्मणादि- विवेक प्रत्यक्ष ही है, इसका उपपादन वर्णव्यवस्था-प्रकरण में ही विस्तार से कर दिया गया है। प्रसिद्धि को ही केवल स्वीकार कर लेने पर अव्यवस्था होगी अतः प्रसिद्धिमूलक धर्माधर्म नहीं हो सकते। किसी पीड़ित को यदि मुक्ति दिलानी हो तो उसके लिए हिंसा ही पुण्य होगा जिसे कुछ लोग नहीं मानते।

यदि शास्त्र को ही अलग कर दिया जाय तो आर्यों का म्लेच्छों से वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं होगा। म्लेच्छों का शास्त्र से सम्बन्ध नहीं है तथा आर्यों का है, अत एव म्लेच्छों से आर्य विशिष्ट माने जाते हैं। इसीलिए उनकी आचारपरम्परा स्वीकार की जाती है। यदि आर्यों का वेदशास्त्र से सम्बन्ध ही न रहे तो जैसे म्लेच्छ वैसे ही आर्य होंगे। अतः शास्त्र को किनारे कर देने पर प्रसिद्धि अव्यवस्था का रूप वैसे ही धारण कर लेगी जैसे आज का प्रजातन्त्र। एवम् लोकप्रसिद्धि का भी मूल चोदना ही है, यह बात सिद्ध हुई। सूत्रकार ने 'औत्पत्तिक' शब्द से शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध कहा है। तस्य ज्ञानमुपदेशः। उपदेश = विशिष्ट शब्द का उच्चारण अर्थात् साध्य-साधन-इतिकर्तव्यतासमेत लिङादिरूप विधिशब्द। तस्य = धर्म का और अधर्म का, ज्ञानसाधन ही उपदेश हुआ 'ज्ञायते येन तज्ज्ञानम्', इस व्युत्पत्ति से ज्ञान का अर्थ हुआ ज्ञान-साधन, तात्पर्य यही निकला कि

धर्माधर्म के ज्ञान के साधन चोदना को ही सूत्रकार ने उपदेश कहा है। यह चोदना धर्माधर्म में स्वतः प्रमाण है। क्योंकि धर्माधर्म प्रत्यक्षादि प्रमाण से अनुपलब्ध = अज्ञात, अव्यतिरिक्त = अबाधित, अनपेक्षित = अपेक्षाशून्य तथा शब्दार्थसम्बन्ध के नित्य होने से कारणगत दोष से रहित अर्थ हैं। इस प्रकार के अर्थ का ज्ञान प्रमाण ही होता है। अतः धर्माधर्मज्ञान की कारणभूता चोदना प्रमाण ही है। लौकिक वाक्यों में ये सारी विशेषतायें नहीं होतीं, अतः उनका प्रामाण्य भी सम्भव नहीं। महर्षि जैमिनि ने इस प्रकार से 'अनधिगताबाधितार्थज्ञानं प्रमाणम्' यह प्रमाण का लक्षण ही प्रस्तुत कर दिया है। षट् प्रमाणों में शब्द भी एक प्रमाण है। इसका लक्षण भाष्यकार ने इस प्रकार किया है—

शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्।

(शाबरभाष्यम्)

शब्द का ही अवान्तर भेद शास्त्र है। भाष्यकार ने स्वतन्त्ररूप से वेदवाक्यों की व्याख्या में ही प्रवृत्त होने के कारण शास्त्र का ही लक्षण किया है। उपयोगी न होने से शब्दमात्र का लक्षण नहीं किया है। यदि लौकिक वाक्य के दृष्टान्त से वेद के प्रामाण्य का समर्थन होता तो शब्दमात्र के लक्षण की आवश्यकता पड़ती। अर्थबोध में उपाय होने से प्रत्यक्ष का उपयोग है क्योंकि अक्षर-श्रवण के बिना अर्थबोध सम्भव नहीं। विश्वजिद्याग में स्वर्ग की कल्पना अनुमान के बिना सम्भव नहीं। अति-देश में उपमानप्रमाण अपेक्षित है। अपूर्वादिकल्पना में अर्थापत्ति तथा प्रकरण में उपदिष्ट अङ्गों से अतिरिक्त अङ्गों के अभाव में अनुपलब्धिप्रमाण की उपयोगिता है। शास्त्र का भी प्रामाण्य इन्द्रियादि का निराकरण करके सिद्ध किया गया है। प्रवर्तक वाक्य तथा निवर्तक वाक्य को शास्त्र कहते हैं, ऐसा शास्त्र का लक्षण हो जाने पर अर्थात् सिद्ध होगा 'अप्रवर्तकवाक्य' शब्द है। शास्त्र के लक्षण में 'शब्द और अर्थ' इन दोनों पदों से शब्दविशेष चोदना और धर्म-अधर्म ही परिलक्षित हैं। इस प्रकार चोदना के विज्ञान से असन्निकृष्ट धर्माधर्मविषयक ज्ञान (ज्ञानसाधन) ही शास्त्र है। शास्त्र, चोदना, उपदेश, ये सभी पर्याय शब्द हैं। शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है, यही स्वीकार करना उचित है। शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है, यह वचन व्याहत है। यदि शब्द-अर्थ का सर्वथा सम्बन्ध न होता तो सम्बन्धाभाववादी शब्द से ही सम्बन्ध के अभाव का

प्रतिपादन नहीं करता। इतना तो उसे मानना ही पड़ेगा कि शब्द में अर्थ के बोध कराने का सामर्थ्य है। वह क्या है? प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव अर्थात् वाच्यवाचकभाव ही दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। अपि च, वर्ण ही शब्द हैं और जाति ही अर्थ है। दोनों के नित्य होने से सम्बन्ध भी नित्य होगा। भगवान् जैमिनि ने—

'नित्यस्तु शब्दः दर्शनस्य परार्थत्वात्' इस वचन से शब्द की नित्यता की सिद्धि की है।

दर्शन का अर्थ है उच्चारण। शब्द का उच्चारण दूसरे को अर्थ-बोध कराने के लिए किया जाता है। ऐसे में यदि शब्द अनित्य होगा तो उसका किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं होगा। क्यों? इसीलिए कि जब वह नष्ट हो गया तो अर्थ के साथ कैसे सम्बद्ध रह सकता है। नित्य मानने पर एक ही शब्द के वायवीय संयोग-विभाग से अनेक बार उपलब्ध होने से सम्बन्ध सम्भव है। अनित्यत्वपक्ष में जब शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होगा तो फिर सम्बन्धबोध न होने से किसी को अर्थ का बोध भी नहीं होगा। तथा च, कोई फिर शब्द का उच्चारण क्यों करेगा? उच्चारण सारा लोक करता है, अतः शब्द नित्य हुआ। जाति ही पदार्थ है। उसके भी नित्य होने से सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध हो जाती है। शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध के अनादि होने से किसी पुरुष ने शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्धव्यवहार के लिए वेदों का निर्माण किया है, यह बात स्वतः खण्डित हो जाती है। यदि आदि में परमेश्वर जगत् की सृष्टि करके साधन के सहित धर्माधर्म के लिए शब्दार्थसम्बन्ध बना कर वेद का प्रवर्तन करता है मात्र जगत्कल्याण के लिए, ऐसा कहेंगे तो जैसे सर्वज्ञ का खण्डन हुआ वैसे ही ईश्वर भी खण्डनीय है। सृष्टि के पहले जब कुछ भी नहीं था तो संसार की अवस्था बुद्धि में कैसे आयेगी फलतः उसका निर्माण होगा। समस्त संसार का कर्ता ईश्वर कहाँ था? उसका उस समय कोई आधार सम्भव नहीं। क्यों? पृथ्वी आदि के न होने से। उसकी आकृति क्या थी, यह भी विचारणीय है। वह अशरीर नहीं हो सकता। अशरीर होने से प्रयत्न नहीं होगा। बिना प्रयत्न के सृष्टि कैसे सम्भव है। उसे शरीरी भी नहीं कह सकते क्योंकि शरीर का उपादान उस समय भूतादि का भी अभाव था। अशरीर की इच्छा न होने से इच्छामात्र से सृष्टि हो जाती है, यह कहना भी उचित नहीं। यदि उसका

शरीर मानेंगे तो उसकी उत्पत्ति भी उसी के द्वारा सम्भव नहीं। लोकविरुद्ध कल्पना उचित नहीं। अशरीर की शरीरोत्पादन में प्रीति भी सम्भव नहीं। यदि उसकी उत्पत्ति के लिए अन्य शरीर को स्वीकार करेंगे तो अनवस्था होगी। अतः अशरीर की इच्छा सम्भव नहीं। इच्छा के होने पर भी इच्छामात्र से कार्य का आरम्भ नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय अन्य सभी साधनों का अभाव था। यदि कहें कि जीवगत धर्माधर्म साधन हैं तो यह कहना ही पड़ेगा कि सृष्टि के पहले उनका भी अभाव था। दुःख की मात्रा ही जिसमें अधिक हो, ऐसी सृष्टि की इच्छा भी उचित नहीं। संसार में कोई भी कर्ता साधन के अभाव में घटादि का निर्माण नहीं कर सकता वैसे ही ईश्वर भी कैसे कर सकता है? यदि कहें कि उर्णनाभि (रेशम का कीड़ा) बिना साधन के ही कोश (रेशम) की सृष्टि करता है वैसे ही ईश्वर भी कर सकता है तो इसका उत्तर होगा—उर्णनाभि भी आधार के बिना सृष्टि नहीं कर सकता। वह प्राणियों का भक्षण करता है जिससे लार उत्पन्न होता है। अतः ऊर्णनाभि का दृष्टान्त भी विषय उपन्यास होगा। परमेश्वर कृपा करके सृष्टि करता है। कृपा दुःख को देखने से होती है। सष्टि के पहले सभी अशरीरी हैं। अतः शरीर के न होने से किसी को दुःख भी सम्भव नहीं। फिर अनुकम्पा (कृपा) का यहाँ कोई भी प्रसङ्ग नहीं। अनुकम्प्य के अभाव होने से। दुःख के न होने से सुख का भी अभाव होगा। अतः सुखहेतुक सृष्टि है, यह भी कहना उचित नहीं। प्रयोजन का अभाव होने से भी सृष्टि सम्भव नहीं। बिना प्रयोजन के सृष्टि करता है तो निश्चय ही वह बुद्धिमान् नहीं है। यदि क्रीडा के लिए सृष्टि मानेंगे तो वह कृतार्थ नहीं माना जायेगा। अर्थात् उसका कैसा ऐश्वर्य। अपि च, कीडा (खेल) छोटों को ही आह्लादित करती है। समस्त ग्रहनक्षत्रादिविषयक व्यापार क्लेशबहुल होने से क्रीडा के लिए हैं, यह कहना भी उचित नहीं। इस प्रकार सृष्टि के न होने से प्रलय भी सम्भव नहीं। तथा च उसका कर्ता ईश्वर भी कैसे सिद्ध होगा। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

तस्मादद्यवदेवात्र　　सर्गप्रलयकल्पना।
समस्तक्षयजन्मभ्यां　न　सिध्यत्यप्रमाणिका॥
सर्वज्ञवद् निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना॥

(श्लोकवार्तिक, संबन्धाक्षेपपरिहार)

सृष्टिप्रलयवाद का प्रयोजन

आत्मज्ञान मोक्ष के लिए है, इसका प्रतिपादक वचन जैसे ज्ञान की स्तुतिमात्र के लिए अर्थवाद के रूप में ही स्वीकार किया जाता है, वैसे ही समस्त संसार का आश्रय सृष्टिप्रलयप्रतिपादक वचन भी अर्थवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। सृष्टिप्रलयवाद केवल दैव के प्रभाव को कहने के लिए है। तात्पर्य यह है कि समस्त पौरुष न होते हुए भी सृष्टिकाल में दैवाधीन ही सारे कार्य होते हैं.तथा प्रलयकाल में पौरुष के होते हुए भी दैव के समाप्त होने से सभी कुछ समाप्त हो जाता है, अतः धर्मानुष्ठान में ही प्रयत्न करना चाहिये। यही सृष्टिप्रलयप्रतिपादक वचनों का प्रयोजन है।

अपि च, सृष्टि और प्रलय को यदि मान भी लिया जाय तो भी पदपदार्थसम्बन्ध और वेदों की कृत्रिमता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि किसी भी पुरुष में धर्मानुष्ठान से ही विशिष्टता आती है। अतः जगत् के निर्माता का स्वाभाविक अतिशय स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः धर्मनिमित्तक ही ईश्वर की श्रेष्ठता माननी पड़ेगी। धर्म यदि नहीं किया जायेगा तो वह कोई भी कार्य नहीं करेगा। बिना ज्ञान के धर्म का अनुष्ठान सम्भव नहीं। वेद के बिना धर्म का ज्ञान भी सम्भव नहीं। वेद भी पदपदार्थसम्बन्धों के बिना अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए यह मानना ही पड़ेगा कि सृष्टि के पहले से ही पद-पदार्थ और उसके सम्बन्ध थे। महाराज मनु ने कुछ ऐसा ही कहा है—

सर्वेषा ञ्च नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

इससे वेदव्यवहार की अनादिता सिद्ध होती है। पद, पदार्थ और उनके सम्बन्धों का कर्ता कोई नहीं। यदि होता तो पाणिनि आदि के समान प्रामाण्य के लिए उसका स्मरण भी होता। वृद्धव्यवहार से संसार को पदपदार्थसम्बन्ध का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्षादिविरोध का परिहार

यह जो आक्षेप किया गया कि चित्रायाग का फल पशु है, ऐसा विधि से बोध हुआ, पशुफल चित्रायाग के अनन्तर दृष्ट नहीं अतः सारे के सारे विधिवाक्य एक जगह व्यभिचार होने से अप्रमाण ही होंगे। इसका समाधान साधारण ही है। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वेदवाक्य से इतना ही

बोधित हो रहा है कि चित्रायाग के करने से पशु फल होता है। चित्रायाग किया, उसके बाद ही पशु मिल जायेंगे, इस अर्थ का बोधक उक्त विधि नहीं है। आनन्तर्य का वाचक कोई भी पद विधिवाक्य में नहीं है।

यह कोई जरूरी नहीं कि कर्म का फल तत्काल ही प्राप्त हो। विचित्रप्रकार के कर्म होते हैं। कुछ कर्म स्वभाव से ही विलम्ब से फल प्रदान करते हैं, कुछ देश और काल की अपेक्षा करके बिलम्ब करते हैं तो कुछ कर्म विरुद्ध फल वाले अर्धभुक्त अन्य कर्मों से प्रतिबन्धित होकर अपना फल न देते हुए ही केवल वेतनभोगी स्वकार्यशून्य अध्यापक की तरह पड़े रहते हैं। कृष्यादि कर्मों का फल तत्काल नहीं मिलता। वैसे ही यदि विधि से यह बोध हो रहा है कि चित्रायाग से पशु की प्राप्ति होगी तो होगी। चाहे इस जन्म में या अन्य किसी जन्म में। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस चित्रायागविधायक वाक्य से 'चित्रायागेन पशवो भवन्ति', अर्थात् चित्रायाग करने से पशु प्राप्त होते हैं, इतना ही बोध हो रहा है। चित्रायाग के पश्चात् ही पशु प्राप्त हों, ऐसा आनन्तर्य का वाचक कोई पद नहीं है। अतः चित्रायाग से पशु प्राप्त होते हैं, इस अर्थ में उक्त वेदवाक्य का प्रामाण्य अक्षुण्ण समझना चाहिये। बहुत ही दृढ़ता से इसी अर्थ का प्रतिपादन श्रीवार्तिककार करते हैं—

प्रत्यक्षादिविसंवादो न शब्दे दोषमासजेत्॥
आनन्तर्यविसंवादो नाविशेषप्रवर्तिनीम्।
चोदनां बाधितुं शक्तः स्फुटाद् विषयभेदतः॥

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण से चित्रायाग से पशुफल की यदि संवादहीनता आ रही है तो शब्द में किसी प्रकार के दोष की कोई सम्भावना नहीं। क्यों? प्रत्यक्षविसंवाद का विषय आनन्तर्य है क्योंकि याग के अनन्तर ही पशु की प्राप्ति नहीं होती। यह प्रत्यक्ष का विसंवाद (विरोध) सामान्यरूप से प्रवृत्त होने वाली चोदना को बाधने में समर्थ नहीं होगा। दोनों के विषय भिन्न होने के कारण। चोदनाप्रतिपाद्य अर्थ धर्म में प्रत्यक्षादिप्रमाण का कोई अधिकार नहीं है। यदि चित्रायाग के प्रत्यक्षफलत्व का ही प्रतिपादन होता तो प्रत्यक्ष से पशु की अनुलब्धि होने से चोदना बाधित होती। विषयभेद होने से चोदनाप्रामाण्य का बाध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। यदि वेद से चित्रायाग का पशुफलत्व बोधित हो रहा है तो

उसका बाध कथमपि सम्भव नहीं। लोक में भी किसी कर्मचारी को सेवा का फल प्रतिबन्धक के होने से विलम्ब से होता है। भारत के असफल प्रान्तों में प्रायः ऐसा देखने को मिलता है। कर्मचारियों का वेतन सालों रुका रहता है। नेता के सामने तो हर मास सावन ही रहता है। अतः कर्म की विचित्रता से ही फल के बिलम्ब को स्वीकार करना चाहिये। बो देने मात्र से अन्न पैदा नहीं होता। जैसे बीजादि के द्वारा अङ्कुरादिप्रणाली से कालान्तर में अन्न की प्राप्ति होती है वैसे ही धर्मानुष्ठान के द्वारा अपूर्वप्रणाली से फल की प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिये।

अन्य दृष्टविरोध का परिहार

आक्षेप का समाधान करना शास्त्रज्ञों का परम कर्तव्य है। ऐसा करने से ही पूरे भारत में आज भी वैदिक मर्यादा सुरक्षित है। मर्यादा के विखण्डन के लिए धर्मनिरपेक्षतावादियों ने क्या-क्या नहीं किया। अतः आप ने जो दृष्टविरुद्ध वचन का उपन्यास किया उसका भी समाधान कर देना आवश्यक है। आप का आक्षेपविषय 'एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति', यह वेदवाक्य है। यहाँ यह समझना कि यज्ञायुधी यजमान मर कर प्रत्यक्ष जल रहा है तो वेद के द्वारा शीघ्र स्वर्गगमन का प्रतिपादन हास्यास्पद है, सर्वथा अपनी मूर्खता को प्रकट करना है। आक्षेप के समाधान में श्रीमत्शबरस्वामी का यह वाक्य आकलनीय है—

शरीरसंबन्धात् यस्य तच्छरीरं सोऽपि तै र्यज्ञायुधै र्यज्ञायुधी।

(शाबरभाष्य)

अर्थात् शरीर के सम्बन्ध से शरीरी 'यज्ञायुधी' शब्द से निर्दिष्ट है। शरीरी आत्मा के स्वर्गगमन में किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं। यद्यपि यज्ञ के साधनों से आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है तथापि लक्षणावृत्ति से शरीरद्वारा आत्मा का सम्बन्ध होगा ही। वार्तिककार इसी बात को कहते हैं—

साक्षाद् यद्यपि सम्बन्धो नात्मनो यज्ञसाधनैः।
तथापि लक्षणावृत्त्या शरीरद्वारको भवेत्॥

(श्लोकवार्तिक)

देहज्ञानादि से आत्मा की अतिरिक्तता मीमांसा में प्रतिपादित है। तथा हि, 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वचनों से स्वर्गयाग का साध्यसाधनभाव

सम्बन्ध प्रतिपादित होता हैं। उक्त वाक्यों से स्वर्ग के आमुष्किक होने से किसी जन्म में फल का उपभोग बोधित होता है, वह भी कर्ता का ही, न कि अन्य का। यदि देह-विज्ञान मात्र को आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व संभव नहीं होगा। अतः वेद के प्रामाण्य के लिए ज्ञानादि से भिन्न आत्मा का प्रतिपादन होता है। एवम् शरीर-इन्द्रिय-ज्ञान से अतिरिक्त तथा नित्य आत्मा को स्वीकार किया जाता है। जानाति, स्मरति अर्थात् जानता है, स्मरण करता है, यह व्यवहार लौकिक पुरुषों का होता है। अतः जो जानता है, जो स्मरण करता है वह ज्ञानादि से अतिरिक्त आत्मा है, यह सिद्ध हुआ। यागादिविधियों से नित्यतया सिद्ध आत्मा का ही अनुवाद —

"अविनाशी वाऽयमरे आत्माऽनुच्छित्तिधर्मा" इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से होता है। इस वस्तु का प्रतिपादन विस्तार से दर्शनान्तरों में भी है। अतः ग्रन्थगौरवभय से यहाँ विराम ही उचित है।

वेदों की अपौरुषेयता

अब तक यही उपपादन हुआ कि पुरुष के सम्पर्क से शब्द में दोष आने से उसका अप्रामाण्य सिद्ध होता है। वेद से किसी प्रकार से स्वतन्त्र रूप से पुरुषसम्पर्क नहीं है। पुरुष का सम्पर्क शब्द के पुरुषरचित होने के कारण अनित्य होने से या पद और पदार्थ के सम्बन्ध की अनित्यता के कारण होता है। पद की पदार्थ की और दोनों के सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध हो जाने से पुरुषसम्पर्कशून्य होने से वेदों का, विशेषतः चोदना का प्रामाण्य व्यवस्थित हो जाता है। अतः चोदना अर्थात् पुरुष के प्रवत्ति और निवृत्ति के अनुकूल अर्थ के प्रतिपादक वेद का धर्म-अधर्म में प्रामाण्य है ही जिसका अपलाप करना अनुभवगोचर अपनी सत्ता के अपलाप के समान ही होगा। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वाक्यार्थरूप से व्यवस्थित धर्म-अधर्म वेद के द्वारा बोधित ही नहीं हो सकते। क्यों? इसीलिए कि पदों से अतिरिक्त 'वेद' नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं। पदों से तो केवल पदार्थ ही बोधित होगा। वाक्यार्थबोध फिर कैसे होगा? इसका उत्तर भगवान् जैमिनि ने इस प्रकार से दिया है—

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्।

अर्थात् पदार्थों में ही विद्यमान पदों का भावनारूपक्रियावाचक पद के साथ समुच्चारण है। इस प्रकार पदार्थों की अपेक्षा न करके पृथक् अर्थ के रूप में वाक्यार्थ सम्भव नहीं। क्यों? वाक्यार्थ में पदार्थ के निमित्त होने के कारण। अर्थात् पदार्थों से ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। यदि पदार्थों की उपस्थिति न हो तो वाक्यार्थ की प्रतीति भी सम्भव नहीं। 'अर्थस्य = वाक्यार्थस्य तन्निमित्तत्वात्' यह सङ्गति है। अथवा पदार्थ ही वाक्यार्थज्ञान का निमित्त है, ऐसी विवक्षा होने पर—अर्थस्य = पदार्थस्य तन्निमित्तत्वात् वाक्यार्थज्ञाननिमित्तत्वात्, यह सङ्गति होगी। अभिप्राय यह है कि—पद स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने अर्थों का प्रतिपादन करके निवृत्तव्यापार हो जाते हैं। पश्चात् वे ही अवगम्यगान (ज्ञात) पदार्थ आङ्काक्षादि के बल से वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। इस प्रकार से पदार्थों को द्वार बना कर पदों का ही वाक्यार्थ में तात्पर्य है, ऐसा निश्चित हुआ। कुछ, जैसे वैयाकरण, वाक्य को ही वाक्यार्थ का वाचक मानते हैं तथा कुछ, वाक्यार्थज्ञान को निर्मूल मानते हैं। दोनों का ही बड़े ही आसानी से निराकरण उक्त जैमिनीय सूत्र से हो जाता है। मतान्तरों का प्रतिपादन यहाँ अनुपयोगी होने से करना उचित नहीं।

अब पुनः वेदों की पौरुषेयता (पुरुष के द्वारा स्वतन्त्ररूप से रचितत्व) की आशङ्का इस प्रकार से करने वाले कर सकते हैं। उनको मुहतोड़ जवाब देने के लिए आशङ्का का अवतारण आवश्यक है।

आशङ्का

पदों के नित्य होने पर भी उनके समुदाय की नित्यता नहीं सिद्ध की जा सकती। लोके पद-समुदाय की संरचना पुरुषों के द्वारा देखी जाती है। इसीलिए तो कालिदासादि के द्वारा पदसमुदाय रचित होने के कारण मेघदूतादि उनकी ही रचना कही जाती है। वेद भी पदसमुदायरूप ही हैं। अतः उनका भी कोई रचयिता अवश्य होगा। इस प्रकार से यह अनुमान-प्रयोग निष्पन्न होगा—

वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यवत्।

समाधान

जहाँ कहीं भी पदसंघात का पौरुषेयत्व है वहाँ उसके कर्ता का अवश्य स्मरण होता है। जैसे मन्वादिस्मृति, महाभारत, रघुवंश आदि।

वेदों के अध्ययन का सम्प्रदायविच्छेद आज तक नहीं हुआ है तथापि उसके कर्ता का स्मरण किसी को नहीं होता। यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो उसका स्मरण भी होता। स्मरण नहीं होता, अतः वेदों का कोई कर्ता भी नहीं है। इस प्रकार वेदों का अपौरुषेयत्व ही सिद्ध होता है। अनुमानप्रयोग भी होगा—

"वेदः अपौरुषेयः सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाण-कर्तृकत्वात्।" प्रत्युत उक्त पौरुषेयत्वानुमान में जन्यमानान्तरमूलकत्व उपाधि होने से सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। अतः वह साध्य का साधक नहीं होगा। एवम् वाक्यत्वहेतु से कथमपि वेदों की पौरुषेयता की सिद्धि नहीं हो सकती। उपाधि साध्य के साक्षात् प्रयोजक धर्म को कहते हैं जो साध्य का व्यापक होता हुआ साधन का अव्यापक होता है। उक्त पौरुषेयत्वानुमान में जहाँ-जहाँ पौरुषेयत्व है वहाँ वहाँ जन्यमानान्तरमूलकत्व भी है। पुरुष के द्वारा कोई भी रचना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अर्थज्ञान के पश्चात् ही होती है। जहाँ-जहाँ वाक्यत्व है वहाँ-वहाँ जन्यमानान्तरमूलकत्व नहीं है क्योंकि वेदों में वाक्यत्व तो है लेकिन जन्यमानान्तरमूलकत्व नहीं है। यागादि धर्मों का स्वर्गादिसाधनत्व वैदिक चोदना के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। अतः धर्म को अलौकिक कहते हैं। वह पुरुष की बुद्धि से बहुत दूर है। अतः धर्म की प्रमाणभूता चोदना पौरुषेय नहीं हो सकती।

पुनः पौरुषेयत्वाशङ्का

वेदों के अपौरुषेयत्व के ऊपर पुनः आक्षेप किया जाता है वैसे ही जैसे मुट्ठीभर धर्मनिरपेक्ष ताकतों के द्वारा वैदिक धर्म पर आक्षेप किया जा रहा है। आक्षेप करने वाले कहते हैं कि वेदों का नाम किसी पुरुष को निमित्त मान कर उपलब्ध होता है। जैसे काठक, कालापक। काठक किसी वेद की शाखा का नाम है। कठ वैशम्पायन के शिष्य हैं। कठ के द्वारा रचित (कृत) वेद के अध्येता और ज्ञाता को भी कठ कहते हैं। कठों के आम्नाय (वेद) को काठक कहेंगे। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि 'काठक' समाख्या से वह वेद कठ के द्वारा बनाया गया है। इसी प्रकार कालापक आदि शाखा को भी समझना चाहिये। एवम् काठकादिसमाख्यान्यथानुपपत्ति ही वेदों के पौरुषेयत्व में प्रमाण हुई।

अपि च, स्वयं वेद भी 'अग्ने र्ऋग्वेदः, वायो र्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः' इन वाक्यों से अग्नि से ऋग्वेद की, वायु से यजुर्वेद की, आदित्य से सामवेद की उत्पत्ति को कहता हुआ सुस्पष्ट वेदों के पौरुषेयत्व को ध्वनित कर रहा है। इसीलिए भगवन्! यह मानकर चलिये कि वेद किसी-न-किसी पुरुष की ही रचना हैं। वेदों की कुछ रचनायें तो पागलों के वाक्यों के समान प्रतीत होती हैं। जैसे 'सर्पाः सत्रमासत' अर्थात् सर्पों ने सत्र (याग विशेष) का अनुष्ठान किया। अतः चोदना का धर्म में प्रमाण नहीं। एवम् अनित्य पुरुषों के संयोग से भी पौरुषेयता की सिद्ध हो जाती है। उत्पत्तिविनाशवान् पुरुष का यदि संयोग वेद में है तो सुव्यक्त हुआ कि वह उसके बाद ही अस्तित्व में आया। ऐसा होने से किसी-न-किसी पुरुष की वह रचना है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

समाधान

इस आक्षेप का समाधान भी आक्षेपपूर्वक कर दिया गया है। भगवान् जैमिनि सूत्र के माध्यम से भी इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं।

उक्त न्तु शब्दपूर्वत्वम् (मी०द० तर्कपाद)

यहाँ शब्द से शब्दजन्य अध्ययन लिया जाता है। अर्थात् गुर्वध्ययन-परम्परा से वेदों की प्राप्ति आज तक होती आयी है। परम्परा का कहीं भी यदि विच्छेद होता तो आज वेद ही नहीं होता और धर्मनिरपेक्षतावादी के लिए कोई कार्य भी। जैसा गुरु ने अध्ययन किया है वैसा ही शिष्य भी जानना चाहते हैं। वैसा यदि वे नही जानते तो गुरुमुख से श्रवण क्यों करते। इस प्रकार यह अनुमान निष्पन्न हुआ—

सर्वशाखीयवेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात् साम्प्रतिकाध्ययनवत्॥

जो यह काठकादि समाख्या का उपन्यास किया गया वह अनुपपन्न है। क्योंकि समाख्या प्रवचन को निमित्त मानकर भी उपपन्न हो जाती है। जैसा 'कठेन कृतम्' वैसा ही 'कठेन प्रोक्तम्' यह भी सम्भव है। उभयथा पाणिनीयानुशासन है। कठ ने प्रवचन किया है, अतः 'काठकम्' यह वेद की समाख्या उपपन्न हुई। यदि समाख्या किसी भी प्रकार से उपपन्न नहीं होती तो तदन्यथानुपपत्ति के बल से वेद का पौरुषेयत्व भी सिद्ध होता।

यदि यह कहें कि वेद के प्रवचनकर्ता अनेक हैं तो फिर कठ के नाम से ही समाख्या क्यों? अन्य के नाम से भी समाख्या होनी चाहिये। यह कहना उचित नहीं कि कर्तृत्व को निमित्त मानकर समाख्या की उपपत्ति की जाय। 'काठक' समाख्या के बल से प्रवचन का प्रकर्ष मान कर भी उपपत्ति की जा सकती है। कठ के प्रवचन में प्रकर्ष के होने से 'कठेनैव प्रोक्तम्' अर्थात् कठ ने ही प्रवचन किया है, ऐसी प्रवचननिमित्ता समाख्या हो सकती है। अपि च, डित्थ-डवित्थ दोनों की माता होने पर भी डित्थमाता जैसे कहते हैं वैसे ही अन्यों के प्रवाचक होने पर काठक की समाख्या हो सकती है। 'सति कार्ये निमित्तानुशरणम्' कार्य के होने पर निमित्त का अनुसरण किया जाता है न कि निमित्त के द्वारा कार्य की कल्पना। सामाख्या सामान्यतः प्राप्त होने पर विशेषनियम में उपयोगिनी होती है। जैसे परिक्रय द्वारा ऋत्विजों के यागादिकर्तृत्व की प्राप्ति हो जाने पर कौन ऋत्विक् किस कर्म को करेगा ऐसी विशेषापेक्षा होने पर आध्वर्यव, हौत्र, औद्गात्र आदि समाख्या से नियम होता है कि अध्वर्यु इस कर्म को करे, होता इस कर्म को, उद्गाता इस कर्म को। यहाँ पर सामान्यतः वेदों का कर्तृत्व ही प्राप्त नहीं होता है तो फिर काठकादिसमाख्या से कठादि कैसे नियम्य हो सकते हैं। वार्तिककार कहते हैं—

स्मृतिप्रयोजनाभावात् कर्तृमात्रेऽनपेक्षिते।
सामान्यसिद्ध्यपेक्षत्वान्न समाख्या नियामिका॥
अन्यथाऽप्युपपन्नत्वादियं प्रवचनादिना।
न शक्ता कर्तृमूलाय प्रोक्ते च स्मरणं स्थितम्॥

(श्लोकवार्तिक २७/४-५)

वेद के कर्ता का किसी को स्मरण नहीं, वेदरचना में कर्ता का कोई प्रयोजन भी नहीं, अतः सामान्यतः सिद्धि के अभाव में समाख्या नियामिका नहीं हो सकती। अन्यथा समाख्या की उपपत्ति हो सकती है, अतः वेद अपौरुषेय ही सिद्ध हुए।

अथवा 'काठकादि' शब्दों को तत्तत् शाखा का वाचक स्वीकार करने पर किसी प्रकार की समस्या नहीं रह जाती। अर्थात् 'काठकादि' शब्द तत्तत् शाखा में रूढ हैं। वार्तिककार का ही यह समाधान है—

कामं वा निर्निमित्तेयं शाखामेकां वदिष्यति।

अनित्यसयोग का परिहार नित्य अर्थ स्वीकार कर लेने पर हो जाता है। जैसे 'प्रावाहणिः' को प्रवहण का पुत्र मानेंगे तो अनित्यसयोग हुआ, अनित्य अर्थ के कारण। वही जब 'प्रावाहयति' इति 'प्रावाहणिः' मानेंगे तो 'वायु' अर्थ होने से अनित्यसंयोग नहीं हुआ।

इसी प्रकार वेदों को जो उन्मत्तवचन मानते हैं उनका भी मुहतोड़ उत्तर यही हैं कि अलग-अलग अर्थ करेंगे तो वैसा लगेगा किन्तु यदि पारस्परिक एकवाक्यता करेंगे तो प्रयोजनवान् अर्थ आयेगा ही। एवम् मूर्खता ही कारण हुई जिनको वेद अन्यथा लगते हैं। जिसकी सम्प्राप्ति नियमतः हो, अङ्गोपाङ्गशास्त्रों से जो नियन्त्रित हो, जिसके अर्थ का अनुष्ठान ऋषिगण भी करते आये हों और जो भारत का ही प्राण हो उसको अन्यथा समझना मूर्खता नहीं तो क्या है? 'संर्पाः सत्रमासत' इत्यादि वाक्य सत्र की स्तुति के लिए हैं। श्रीभाष्यकार कहते ही हैं—

"स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य। वनस्पतयो नामाचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः किं पुन र्विद्वासो ब्राह्मणाः। तद् यथा लोके सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति किं पुन र्विद्वांसो ब्राह्मणा इति।"

इस प्रकार से धर्माधर्म में चोदना (विधि) ही प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

अर्थवादादि अन्य वेदभागों का प्रामाण्य

विधि का धर्माधर्म में प्रामाण्य स्थापित होने से अर्थवाद-मन्त्रों का प्रामाण्य नहीं है, वे निरर्थक हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से नियमपूर्वक सकलवेद का अध्ययन विहित है। जैसा कि मनु ने कहा भी है—

तपोविशेषै र्विविधै र्व्रतैश्च श्रुतिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥

अर्थात् श्रुतिबोधित विशेष तप-व्रत द्वारा सम्पूर्ण वेद का अध्ययन त्रैवर्णिक को करना चाहिये। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि आज के शासकों द्वारा शूद्रों को भी वेद पढ़ाने का प्रयास तथा उन्हें तत्तद्पदों को आरक्षित करना वेद और तदुदित धर्म को नष्ट करने का ही उपक्रम है। राजाओं के प्रमाद से परतन्त्र राष्ट्र में अर्ध स्वाराज्य लाकर प्रजातन्त्रप्रणाली स्वीकार कर लेने का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि पुरातन

काल से सुस्थापित भारत की आत्मा को ही नष्ट कर दिया जाय। नीतिनिर्धारण के लिए यह आवश्यक नहीं कि किसी भी माध्यम से चुने गये सांसद जो चाहें वही करें। श्रोत्रिय विद्वानों से परामर्श लेना भी आवश्यक है। यद्यपि ऐसे विद्वान् विषयवितृष्ण होते हैं, वे आज की दृष्टि में सम्मानित पदों की आङ्काक्षा नहीं करते। जो आङ्काक्षा करते हुए राजनैतिकों के पिछलग्गू हैं वे विद्वान् नहीं हैं। दूसरी एक और बात ध्यातव्य है कि चुनाव में योग्यता, जो किसी भी सभ्य के लिए शास्त्रों में कही गयी है, अनिवार्य कर देनी चाहिये। विषयी-लोभी शासनतन्त्र का भार वहन करें, यह कहाँ का न्याय है? आज जो कुछ भी दृष्टिगत हो रहा है वह नहीं होना चाहिये। भेदनीति से प्रजा में घृणा पैदा करते हुए शासक भारत में शासन करें, इसी से राष्ट्र की अवनति का अनुमान कर लेना चाहिये। आगे इस विषय पर विशेष चर्चा होगी। नियमपूर्वक सकलवेद का अध्ययन विहित है, अतः कोई भी वेद-भाग निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। अतः अर्थवाद-मन्त्रों का प्रामाण्य भी धर्माधर्म में स्वीकार करना चाहिये। अर्थवादों का प्रमाण्य विधेय कर्म की स्तुति में स्वीकार किया जाता है। विधि के द्वारा भी पुरुष जब कर्म में प्रवृत्त नहीं होता तो अर्थवाद कर्म की गुणवत्ता का प्रतिपादन करते हुए रुचि को उत्पन्न करके विधि का ही कार्य करते हैं। निन्दार्थवाद कर्म में अरुचि उत्पन्न करा के उससे पुरुष को अलग करते हैं। तात्पर्य यही है कि अर्थवादों का स्वार्थ में जरा भी तात्पर्य नहीं है। इससे यह बात पूर्णरूप से परिपुष्ट हो जाती है कि जो लोग अर्थवादों के स्वार्थ को स्वीकार करके हमारी आलोचना करते करते नरक में जा रहे हैं वे महान् मूर्ख हैं। ऐसे मूर्खों की भारत में भी कमी नहीं है जो वैदेशिकों से समझौता करके भारतीय आत्मा (वेद) की निन्दा करते रहे हैं।

ऐसे ही मन्त्रों की भी प्रयोजनवत्ता समझनी चाहिये। मन्त्रों का उपयोग अनुष्ठानकाल में होता है। अनुष्ठान (प्रयोग) में जितने पदार्थ हैं उनका स्मरण मन्त्रों से ही होना चाहिये तभी कर्म का फल होगा, अन्यथा नहीं। विस्तार से मन्त्रप्रामाण्याधिकरण में इसका उपपादन किया गया है। नामधेयों का प्रामाण्य भी इसी तरह से सिद्ध होता है। यद्यपि विधि के अन्तर्गत होने से विधि के प्रामाण्य से नामधेयप्रमाण्य भी सुस्थापित है तथापि पद के आनर्थक्य की आशङ्का करके समाधान किया गया है। नामधेय विधेययागादि

के परिच्छेदक होते हैं। परिच्छिन्न यागादि का संकल्पादि में उपयोग होता है। द्वितीय पाद के आरम्भ में वार्तिककार इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं—

सिद्धप्रमाणभावस्य धर्मे वेदस्य सर्वशः।
विध्यर्थवादमन्त्राणामुपयोगोऽधुनोच्यते ॥

इस प्रकार सकल वेदों का तात्पर्य धर्माधर्म में है, यह बात सिद्ध हुई। अपौरुषय ग्रन्थ के प्रामाण्य के अनन्तर धर्माधर्म में पौरुषेय कुछ ग्रन्थों का भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। जैसे मन्वादिस्मृति।

आशङ्का

अत्यधिक प्रयास करके अपौरुषेय ग्रन्थ वेदों के धर्माधर्म में प्रामाण्य का व्यवस्थापन करके पुनः पौरुषेय ग्रन्थों के प्रामाण्य की बात आप यदि कर रहे हैं तो बुद्ध, ईसा, मोहम्मद आदि ने क्या अपराध किया है कि उनके उपदेशात्मक ग्रन्थों का धर्माधर्म में प्रामाण्य सम्भव नहीं होगा। भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ हैं जो धर्माधर्म का परिज्ञान रखते हैं। इसी तरह ईसा, मूसा को भी समझ सकते हैं। मोहम्मद भी ईश्वर के अन्तिम पैगम्बर हैं। उनका वचन तो साक्षात् ईश्वर का वचन है जिसका समादर करते हुए अपनी मौहम्मदी आचारपरम्परा से मुसलमान निःश्रेयस की प्राप्ति करते आ रहे हैं। आप का वैदिक मार्ग भी अस्तित्व में रहे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। फलतः सर्वधर्मसमभावरूप भारत के आदर्श सिद्धान्तों पर आप को चलना ही पड़ेगा। ऐसा करके ही धर्मनिरपेक्षता की नींव सुदृढ़ हो सकती है। अन्यथा नहीं।

समाधान

धर्माधर्म में प्रामाण्य की व्यवस्था युक्ति से ही हो जायेगी। मन्वादिस्मृतिग्रन्थों का धर्माधर्म में प्रामाण्य स्वीकार किया जायेगा। क्योंकि धर्माधर्मविषयक दृढ़स्मरण उनका विद्यमान है। बुद्धादि के सर्वज्ञत्व का निराकरण पहले ही कर चुके हैं। सर्वज्ञत्व के निराकरण से ही ईश्वरादि के अस्तित्व का भी निराकरण हो जाता है। जब ईश्वर ही अस्वीकृत हो गया तो उसका सन्देशवाहक (पैगम्बर) भी अस्वीकृत हुआ। जनता के श्रद्धाजाड्य का कोई समाधान नहीं। श्रद्धाधिक्य से कोई किसी भी क्रिया को धर्म मानकर उसका आचरण करे तो करे। कोई क्या कर सकता है। उससे निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, यह कहना सम्भव नहीं। क्योंकि इसका

प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है। मरने के बाद कौन कहाँ गया, इसको कौन जान सकता है। वेद पुरुषसम्पर्क से शून्य है अतः वह यदि स्वर्गादिरूप निःश्रेयस के मार्ग का उपदेश करता है तो तन्मार्गगामी स्वर्ग गया है, ऐसा हम वेद से ही जानते हैं। वेदातिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी यदि धर्म का ज्ञान होता है तो मोहम्मद ही क्यों, किसी का भी कपोलकल्पित ग्रन्थ धर्मग्रन्थ हो जायेगा। कोई भी ईश्वर का सन्देशवाहक बनकर एक धर्मवृक्ष खड़ा कर सकता है। फिर क्या, यह पूरी पृथ्वी सन्देशवाहकों से पट जायेगी।

दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिये कि धर्म का एकमात्र मूल वेद दो प्रकार के धर्मों का ज्ञापन करता है—सामान्यधर्म और विशेषधर्म। अधर्म के बारे में भी यही समझना चाहिये। कुछ अधर्म मानवमात्र के लिए आचर्यमाण अधर्म ही होता है जैसे असत्य, प्राणिहिंसा आदि। कुछ त्रैवर्णिक के लिए अधर्म होगा जैसे सुरापान-कलञ्जभक्षण आदि। शूद्र के सुरापान में दोष नहीं है, ऐसा स्मृतिग्रन्थों में उपपादन किया गया है। यदि शूद्र सुरापान नहीं करता है तो श्रेष्ठता की सूचि में आयेगा, यह कैमुतिकन्याय से सिद्ध हो जाता है। विशेषधर्म जिसके लिए विहित है उसी के लिए धर्म होगा अन्य के लिए अधर्म। जैसे वेदाध्ययन त्रैवर्णिक पुरुषों के लिए ही धर्म होगा अन्यों के लिए अधर्म। वस्तुतस्तु वेदाध्ययन अर्थज्ञानरूप दृष्ट प्रयोजन वाला है। अर्थज्ञान का उपयोग कर्मों में है जिन्हें त्रैवर्णिक ही कर सकते हैं। अन्य के लिए यदि कर्मों का आम्नान (उपदेश) वेद कर रहा है तो वह उन कर्मों के उपयोगी अर्थ का ज्ञान आचार्य से प्राप्त कर उनका अनुष्ठान कर सकता है। तात्पर्य यही है कि विशेषधर्म विशेष के लिए ही है तथा सामान्यधर्म मानवमात्र के लिए। सामान्य नित्य, पुरुषार्थ धर्मों का अतिक्रमण प्रत्यवाय अर्थात् अनर्थ का निमित्त होता है। इनसे अतिरिक्त धर्माधर्म नाम की कोई भी वस्तु किसी भी पुरुष के हृदयरूपी उर्वर खेत से उत्पन्न नहीं हो सकती। धर्माधर्म का मूल कोई भी पुरुष नहीं हो सकता अर्थात् पुरुष को केन्द्र बनाकर धर्माधर्म की व्यवस्था बनाना उसी प्रकार से असम्भव है जैसे साम्प्रतिक शासन के माध्यम से आदर्श समाज की संरचना। मन्त्रार्थवादस्मृत्यादि के प्रामाण्य की व्यवस्था से 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र से विरोध होगा क्योंकि यहाँ धर्म में वेद के एक भाग विधि (चोदना) को ही प्रमाण के रूप में व्यवस्थापित किया

गया है, यह आशङ्का भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि 'चोदनैव स्वातन्त्र्येण लक्षणम् = प्रमाणम्' यह अभिप्राय सूत्र का है। अर्थात् मुख्यतः अन्यों की अपेक्षा के बिना ही चोदना प्रमाण है। अर्थवादादि तो चोदना की अपेक्षा करके ही धर्म में प्रमाण होते हैं। इस प्रकार धर्मसूत्र से धर्म में चोदना का निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध हुआ तथा अन्यों का सापेक्ष।

स्मृतिप्रामाण्याक्षेप

कुछ अर्थों के अनुष्ठान के लिए वैदिकों का स्मरणमात्र उपलब्ध होता है। चोदना की तन्मूलत्वेन उपस्थिति नहीं है। जैसे—अष्टकाः कर्तव्याः (अष्टकाश्राद्ध करना चाहिये), गुरुरनुगन्तव्यः (गुरु का अनुगमन करना चाहिये)। एवम् तडागखनन, प्याऊ-प्रवर्तन, शिखाकर्मकरण आदि का उपदेश तडागं खनितव्यम्, प्रपा प्रवर्तयितव्या शिखाकर्म कर्तव्यम् इत्यादि शब्दों से है। धर्म के मूल में 'चोदना' शब्द ही है। अतः निर्मूल होने से इन सारी स्मृतियों का धर्माधर्म में प्रामाण्य नहीं मानना चाहिये। मन्वादि के भ्रम से ही इनका अस्तित्व मानना चाहिये। अतः सारी स्मृतियाँ भ्रान्तिमूलक होने से धर्म में प्रमाण नहीं हो सकतीं। भगवान् जैमिनि सूत्र से भी यही तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात् (मीमांसा १.३.१)

अशब्दम् = मूलभूतवैदिकशब्दरहितम्, अनपेक्षम् = अप्रमाणं स्यादित्यर्थः। तात्पर्य यह है कि संस्कार से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। अनुभव के बिना संस्कार सम्भव नहीं। मन्वादि का अष्टकाश्राद्धादि-विषयक स्मरण अलौकिक है। क्यों? स्वर्गसाधनविषयक स्मरण होने से। अष्टका स्वर्ग का साधन है, ऐसा उनका स्मरण है। ऐसे स्मरण का अनुभव लौकिक उपायों से सम्भव नहीं। वेद तो है ही नहीं जो अष्टकादि धर्म का बोध कराता हो। अतः अवैदिक और अलौकिक स्मरण ही सम्भव नहीं। फलतः मनु, वशिष्ठ, पराशर आदि की स्मृतियों की भ्रान्तिमूलकता ही सिद्ध हो रही है।

यदि आप कहें कि मनु आदि के स्मरण वेदमूलक ही हैं तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि तन्मूलभूत वेद हैं कहाँ? यदि वेद मूलभूत हैं तो उन्हीं वेदों से ही अष्टकादि का स्वाध्यायाध्ययनक्रम से बोध हो जायेगा। फिर उनकी स्मृतिरचना व्यर्थ हो जायेगी। यदि आप कहें कि

मन्वादिस्मृतियों का मूल वह वेद है जिसकी शाखा प्रलीन हो गयी है तो महान् अनर्थ की प्रसक्ति होगी। बुद्धादिस्मृतियों का भी प्रलीनशाखा-मूलकतया प्रामाण्य प्रसक्त हो जायेगा जो आप को इष्ट नहीं है। फिर तो जिसको जो आयेगा वह उसको प्रलीन शाखा के मस्तक रख कर प्रमाणित करने लगेगा तथा आज की तरह तत्तत्पुरुषों के प्रभेद से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार धर्म होने लगेगा। पुनः यदि आप कहें कि मन्वादि के वचनों से ही उनकी वेदमूलकता का निश्चय होगा अर्थात् मन्वादि का वचन है, वह निर्मूल नहीं हो सकता, अतः कोई न कोई वेद अवश्य उसका मूल होगा तो यह भी उचित नहीं। वे निर्मूल वस्तु भी लोक को ठगने के लिए कह सकते हैं, अतः उनके वचनों का आदर नहीं करना चाहिये।

समाधान

इन सारे आक्षेपों का समाधान भगवान् जैमिनि ने—

"अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्"

(मीमांसा १.३.२)

इस सूत्र से कर दिया है। मन्वादि की स्मृति के दृढ़ होने से कारण का अनुमान अवश्य होगा। अनुपपन्न होने से लौकिक अनुभव स्मृति का कारण नहीं हो सकता। इस जन्म में अलौकिकविषयकस्मरण पुरुषों को नहीं होता। अन्य जन्मों के अनुभूत पदार्थों का स्मरण तो होता ही नहीं क्योंकि मरण सारे संस्कारों का विच्छेदक होता है तथा संस्कारों के बिना स्मरण सम्भव नहीं। अतः वेदग्रन्थ का ही अनुमान होगा। मन्वादि त्रैवर्णिक हैं, अतः उनके वेदसंयोग में कोई अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती। सूत्र का भी यही अभिप्राय है। जो स्वाध्यायाध्ययन के कर्ता हैं वे ही वैदिक पदार्थों के अनुष्ठान के कर्ता हैं तथा जो स्मृति के कर्ता हैं वे ही स्मार्त पदार्थों के अनुष्ठान के कर्ता हैं। अतः कर्तृसामान्यात् = एककर्तृकत्वात् अनुमानम् = अनुमीयते यत् तदनुमानम् स्मृतिः प्रमाणं धर्माधर्मयोरिति। अर्थात् धर्माधर्म का बोध कराने वाली स्मृतियाँ प्रमाण हैं। उनके शिष्टत्रैवर्णिकप्रणीत होने से। 'शिष्ट' शब्द की व्याख्या में वार्तिककार का यही कहना है कि जो श्रौतस्मार्त कर्मों में लगे हुए हैं वे ही शिष्ट हैं। श्रौतस्मार्तकर्मस्वभियुक्ता इत्यर्थः। एवम् वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वे सति वेदोदितकर्मानुष्ठातृत्वम्, यह शिष्ट का लक्षण निष्पन्न हुआ।

इससे नैयायिकमत को खण्डित समझना चाहिये। उनके अनुसार 'इष्टसाधनतांशे भ्रान्तिराहित्यं शिष्टत्वम्' यह शिष्ट का लक्षण है। मीमांसकमत का यह एकभाग मात्र है। इष्टसाधनतांशे अर्थात् वेद के द्वारा धर्मावबोध में भ्रान्ति का अभाव। इतने मात्र से किसी को शिष्ट नहीं कहा जा सकता। बहुत से ऐसे महानुभाव हैं जो धर्मानुष्ठान नहीं करते और वेदों में समूची प्रामाण्यबुद्धि रखते हैं। आज-कल ज्योतिषशास्त्र की गरिमा आधुनिक विषयों के प्रोफेसरों के आधुनिकतम विचारों वाले मानस में अपनी जगह बनाने लगी है। कहाँ तक कहा जाय वे स्वयं को ज्योतिषी भी समझने लगे हैं। धर्म में उनकी आस्था नहीं है। पुत्र विदेश समुद्रपार गया है, यह उनके लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। माना कि वे रिटायर्ड हो गये हैं किन्तु उनकी विषयपिपासा कम नहीं हुई है। पुत्र के लिए कैसी वधू चाहिये, इसका पूरा ख्याल रखते हैं। एक्स्ट्रा ब्यूटी, एक्स्ट्रा इजूकेशन, एक्स्ट्रा हाइट वगैरह गुण कन्या में होने चाहिये ही, नहीं तो पुत्र के तैय्यार होने पर भी वे तैयार नहीं होंगे। कुण्डली अवश्य मिलनी चाहिये। नहीं तो विवाह कैसे हो सकता है। ज्योतिष वैज्ञानिक विद्या है। उसका पूरा का पूरा ध्यान रखना चाहिये। धर्मशास्त्र की क्या औकात है। उनसे कहिये कि आप का पुत्र विदेश गया है, अतः वह ज्ञातिबहिष्कृत होना चाहिये। वह ऐहलौकिक और पारलौकिक क्रिया से भी वञ्चित है। वह आप की भी क्रिया करने का अधिकारी नहीं है। इस पर वे तपाक से कहेंगे कि यह सब ढकोसला है। क्या इन्हें शिष्ट कहा जा सकता है? अतः मीमांसकसंमत लक्षण ही यथार्थ है। एवम् शिष्टत्रैवर्णिकप्रणीत होने से मन्वादिस्मृतियाँ धर्माधर्म के विषय में प्रमाण हैं।

तात्पर्य यह है कि सर्वथा मन्वादिप्रणीत स्मृतियाँ विद्यमानमूल हैं। निर्मूल मानना सम्भव नहीं है। स्मृति हो रही है तो कोई न कोई विज्ञान मूल में अवश्य है। उस विज्ञान के मूल की भी कल्पना अवश्य होनी चाहिये। यहाँ पर भ्रान्ति, अनुभव, पौरुषेयवाक्य, विप्रलम्भ (वञ्चना) के मूलत्व की कल्पना की अपेक्षा वेदकल्पना में लाघव है। जहाँ कहीं भी अदृष्टकल्पना की आवश्यकता पड़ती है वहाँ वैसी ही कल्पना होनी चाहिये जिससे दृष्ट के साथ विरोध न हो और न ही अन्य अदृष्ट की प्रसक्ति हो। यदि मन्वादिस्मृतियों के मूल में भ्रान्ति की कल्पना करते हैं तो सर्वप्रथम

सम्यक्प्रकार से उपनिबद्ध शास्त्रदर्शन का विरोध होगा, ततः सर्वलोक के द्वारा स्वीकृत दृढ़तर प्रामाण्य का बाध होगा। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मन्वादि की भ्रान्तियों का अनुवर्तन इस समय तक के पुरुषों के द्वारा किया जा रहा है। मन्वादि की भ्रान्तियों को दूर करने का उपन्यास करना, यह अलग अदृष्ट की परिकल्पना होगी। उनकी स्मृतियों का मूल अनुभव मानने पर वैसे अनुभव की कल्पना होगी तथा पुरुषजाति के विपरीत उनके सामर्थ्य की कल्पना करनी ही होगी जिसका निराकरण सर्वज्ञत्वनिराकरण-प्रसङ्ग में कर दिया गया है। पुरुषवाक्यपरम्परा में भी अन्धपरम्परा की प्रसक्ति होगी। विप्रलम्भ (वञ्चन) में भी यही कल्पना करनी पड़ेगी। प्रयोजन के रूप में विप्रलिप्सा (ठगी) की कल्पना। लोक की भ्रान्तिकल्पना और अब तक उसका अनुवर्तन। उत्पन्न दृढ़ज्ञान के प्रामाण्यनिराकरण से दृष्टविरोध ऊपर से आ जायेगा। इन सारी कल्पनाओं की अपेक्षा चोदना-कल्पना ही लघुभूत है। मन्वादि के पूर्वविज्ञान के कारण के रूप में चोदना (विधि) सम्भव भी है। जिनका वेद से संयोग किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं, ऐसे म्लेच्छादिकों के अतीन्द्रियस्मरण में मूल-कल्पनाकाल में ही चोदना (वैदिक विधि) सम्भव नहीं। अतः उनका स्मरण प्रमाण नहीं हो सकता। वार्तिककार ने इन्हीं सारी बातों का संकलन एक श्लोक से कर दिया है—

भ्रान्तेरनुभवाद् वाऽपि पुंवाक्याद् विप्रलम्भनात्।
दृष्टानुगुण्यसाध्यत्वाच्चोदनैव लघीयसी॥

(तन्त्रवार्तिक)

शिष्टों की आज तक निर्दुष्ट परम्परा से ज्योतिष्टोमादि में धर्मरूप से तथा कलञ्जभक्षणादि में अधर्मरूप से स्वीकृति होने से, मन्वादि स्मृतिकारों में वेदज्ञान के सम्भव होने से वेदमूलकत्व ही स्वीकार किया जाना चाहिये। उनकी स्मृतियों का कौन वेद मूल है, इसके उत्तर में प्रत्यक्ष वेद ही आयेगा। इस पर स्मृतिरचना के वैयर्थ्य की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अविधिरूप अर्थवाद-मन्त्रों को त्याग कर विधिमात्र का उपसंहार आज के पुरुष नहीं कर सकते, अतः उनके परिज्ञान के लिए स्मृतिरचना का सार्थक्य सिद्ध हो जाता है। अब यह आशङ्का पुनः होती है कि स्मृति और आचार जब श्रुति के अनुमान में क्षीण हो जा रहे हैं तो उनका प्रामाण्य कैसे सम्भव होगा? इसके उत्तर में आचार्य खण्डदेव कहते हैं—

अतो मूलश्रुत्युपस्थापकतयैव धर्माधर्मप्रमाप्रयोजकत्वं स्मृतीनाम्।

(भाट्टदीपिका)

अर्थात् स्मृतियों का प्रामाण्य मूलभूत वेदों के अनुमापन में ही है। इस प्रकार स्मृतिप्रामाण्यव्यवहार लिङ्गादि के समान गौण है। सर्वथा चोदना का ही धर्माधर्म में प्रामाण्य है। भाष्य में धर्माधर्मप्रामाण्य की प्रतिज्ञा भी गौण-मुख्यसाधारणतया की गयी है। पूर्वोदाहृत अष्टकादिविषयक स्मृतियों का मूल भाष्य में प्रदर्शित किया गया है। तथा हि—

अष्टकालिङ्गकाश्च मन्त्रा वेदे दृश्यन्ते यां जनाः प्रतिनन्दन्तीत्येवमादयः। तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यम्। गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यति ग्रन्थग्रन्थिभेदिनश्च न्यायात् परितुष्टो वक्ष्यतीति। तथा च दर्शयति, तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेतीति। प्रपा स्तडागानि च परोपकाराय न धर्मायेत्येवावगम्यते। तथा च दर्शनं धन्वन्निव प्रपा असीति। तथा स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति इति। गोत्रचिह्नं शिखाकर्म, दर्शनञ्च 'यत्र बाणाःसम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। तेन ये दृष्टार्थास्ते तत एव प्रमाणम्। येत्वदृष्टार्थाः सिद्धान्तास्तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति॥ (शाबरभाष्य, १.३.२)

अभिप्राय यह है कि अर्थवाद और मन्त्रों में तत्तत्स्मृतियों के लिङ्ग विद्यमान हैं जिन्हें स्मृतिकारों ने विधि का रूप दे दिया है। अष्टकाश्राद्ध का लिङ्ग है—

यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥

अष्टकायै सुराधसे स्वाहा। यह मन्त्र अष्टका की देवता रात्रि का प्रकाशक है। एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदष्टका। यहाँ अष्टकालिङ्गत्व स्पष्ट है। गुर्वनुगमन का लिङ्ग है—

तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति। याग में किसी कार्यविशेष के अवसर पर घोड़े के आगे और गधे के पीछे चलने पर यह हेतु उपन्यस्त है। इससे यह पता चलता है कि श्रेष्ठ को आगे-आगे चलना चाहिये। प्रपा का लिङ्ग है—

धन्वन्निव प्रपा असि।

देवतास्तुति में यह मन्त्र आया है जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे

मरुस्थल में प्रपा (प्याऊ) तृप्तिकर होता है वैसे ही हे देव! आप भी हैं। यहाँ अनायास ही यह बोधित हो जाता है कि प्रपा का निर्माण परोपकारार्थ करना चाहिये। तालाबखनन का भी लिङ्ग—**'स्थलया उदकं परिगृह्णन्ति'** इस वैदिकवचन से उपलब्ध होता है। क्योंकि 'जानपदकुण्डगोणस्थल भाजनागकालनीलकुशकामुककबराद्वृत्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्य- वर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु (अष्टाध्यायी ४/१/४२) इस पाणिनीय सूत्र से अकृत्रिम अर्थ में 'ङीष्' स्त्रीप्रत्यय का विधान होने से अकृत्रिम (प्राकृतिक) को स्थली कहा जायेगा। एवम् अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि कृत्रिम (बनायी गयी) स्थला ही 'टाप्' प्रत्यय से निष्पन्न होकर व्यवहृत होगी। इस प्रकार सरोवरनिर्माण भी परोपकारार्थ होना चाहिये, यह सिद्ध हुआ। शिखाकर्म गोत्रप्रवर के परिज्ञान के लिए है। इसका भी लिङ्ग—

'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशाखा इव', इस मन्त्र में विद्यमान है।

रुद्र के बाण जहाँ गिरते हैं वैसे ही जैसे नानाप्रकार के शिखावाले कुमार। यहाँ उपमान के रूप में शिखाधारी कुमारों का वर्णन है। बिना शिखाकर्म के कुमारों का वैसा होना सम्भव नहीं। क्योंकि जन्मजात कोई शिखा वाला नहीं हो जाता। यहाँ पर अष्टकाकर्म को अदृष्टार्थ धर्म स्वीकार करते हुए भी भाष्यकार ने गुर्वनुगमन आदि पूर्वोक्तों का दृष्टार्थत्व स्वीकार किया है। जो अदृष्टार्थ है उसका प्रामाण्य वेदमूलकत्वेन स्वीकार किया है, जैसे अष्टकाश्राद्ध तथा जो दृष्टार्थ हैं उनका दृष्टार्थत्वरूप से स्वतःप्रामाण्य स्वीकार किया है। यहाँ पर मीमांसा को आस्तिकपथगामिनी बनाने वाले महामनीषी वार्तिककार श्रीमत्कुमारिलभट्टपाद एकमत नहीं हैं। उनकी भिन्न दृष्टि है। तथा हि—'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से मीमांसा में धर्मजिज्ञासा ही अधिकृत है। अत एव जो कुछ भी आचरण लोक में विद्यमान हैं उन सभी के मूलों को प्रमाण के रूप में उपस्थापित नहीं किया जा सकता। यदि गुर्वनुगमन आदि केवल दृष्टार्थ ही हैं तो धर्म के प्रति कृषि आदि की तरह किसी भी तरह से प्रमाण नहीं हो सकते। फिर उनका यहाँ उपन्यास (उपस्थापित) करना अनुचित ही होगा। फिर तत्तद् लिङ्गदर्शन भी व्यर्थ ही होगा। सामदान-आदि विधाओं से भी गुरु से अध्यापन कराया जा सकता है। उसके लिए अनुगमन करने की जरूरत

नहीं। अपि च—जिसने विद्या प्राप्त कर ली है उनके द्वारा अनुष्ठीयमान गुर्वनुगमन कथमपि दृष्टप्रयोजन नहीं हो सकता। तथा च, उनके द्वारा भी अवश्य क्रियमाण गुर्वनुगमन नियमादृष्ट के बिना अनुपपन्न ही होगा। तेन च, अकरणनिमित्तक पापपरिहार ही उसका प्रयोजन होगा। उसमें वेदातिरिक्त कोई भी प्रमाण सम्भव नहीं। इस प्रकार उनका भी वेदमूलकत्वेन ही प्रामाण्य सिद्ध हुआ। अवघात-वृष्टिकामयाग भी दृष्टार्थ हैं तो क्या उनका अवैदिकत्व स्वीकार किया जा सकता है। अत एव गुर्वनुगमननादि के दृष्टार्थ होने पर भी उनका वेदमूलकत्व सम्भव है। नियमादृष्ट वेदातिरिक्त प्रमाण से सम्भव नहीं हो सकता। अतः गुर्वनुगमनादि के नैमित्तिक कर्म हो जाने से न करने पर पाप होगा और करने पर नहीं। दृष्टार्थत्व भी उपपन्न होगा 'गुरु प्रसन्न होकर पढ़ायेगा', इस रूप से। इस प्रकार स्मृतियों से बोधित सारे धर्मों का वेदमूलकतया ही प्रामाण्य सिद्ध होगा। ऐसी परिस्थिति में भाष्य का समन्वय इस प्रकार होगा—यहाँ पर वार्तिकमत को पूर्वपक्ष के अतिशय के लिए भाष्य की संगति लगानी पड़ेगी। तथा हि—

जो अदृष्टार्थ स्मृतियाँ हैं, उन्हें आप किसी तरह से अप्रमाण कह सकते हैं, लेकिन जो दृष्टार्थ हैं वे अप्रमाण कैसे हो सकती हैं? सभा-प्रपा आदि के लिए विशेष श्रुति के न होने पर भी परोपकारविषयक सामान्य श्रुति से ही सभी का ग्रहण होने से प्रामाण्य की उपपत्ति हो जायेगी। अत एव तत्तत्स्मृतियों के विषय में पूर्वोक्त लिङ्गदर्शन भी उपपन्न हो जायेगा।

यहाँ पर धर्म और मोक्ष सम्बन्धी जितनी स्मृतियाँ हैं वहाँ वेदमूलकत्व का, अर्थसुखविषयक स्मृतियों का तत्तल्लोकव्यवहारमूलकत्व का विवेचन कर लेना चाहिये। इस प्रकार चतुर्दश विद्याओं में जो शिक्षादि अङ्गविद्यायें हैं और न्याय-मीमांसा-पुराणादि का भी यथायोग्य लोकवेद-मूलकत्व लेकर ही चलना चाहिये।

विरोधाधिकरण

इसके आगे उन स्मृतियों का भी विचार किया जायेगा जिनका प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध है। क्या श्रुतिविरुद्ध स्मृतियाँ धर्म में प्रमाण हैं, कि नहीं? जैसे सोमयाग में सदोमण्डप में सामगान करने वालों के लिए औदुम्बरी

(गूलर की शाखा) को बीच में गाड़ते हैं। यहाँ पर स्मृति मिलती है कि— 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टितव्या'। अर्थात् पूरी औदुम्बरी को वस्त्र से लपेटना चाहिये। यह स्मृति 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' अर्थात् औदुम्बरी का स्पर्श करके सामगान करना चाहिये, इस श्रुति से विरुद्ध है क्योंकि स्पर्श और सर्ववेष्टन, इन दोनों पदार्थों में किसी एक का ही अनुष्ठान हो सकता है। इसी तरह अन्य स्मृतियों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनका प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध है। एवं श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहेगा कि श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों का भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। क्यों? उत्तर होगा 'कर्तृसामान्यात्'। अर्थात् जैसे वेद के अध्ययनकर्ता और वैदिक पदार्थों के अनुष्ठानकर्ता तथा स्मृतिकर्ता और स्मार्तप्रयोगों के अनुष्ठान के कर्ता एक हैं, अत: अविरुद्ध स्मृतियों की तरह ही श्रुतिविरुद्ध स्मृतियों का भी प्रामाण्य मानना चाहिये। यदि आप कहेंगे कि स्मृति के विरुद्ध श्रुति होने से प्रामाण्य सम्भव नहीं तो इस पर यह कहा जा सकता है कि जैसे अतिरात्रनामक सोमयाग में षोडशि के ग्रहण और उसके अग्रहण को बोधित करने वाली दोनों श्रुतियों के विरोध होने पर भी विकल्प स्वीकार करके पाक्षिक अनुष्ठान करते हैं वैसे ही यहाँ भी विकल्प स्वीकार कर पाक्षिक अनुष्ठान से दोनों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय। विरुद्ध श्रुतियाँ हैं—अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति। ऐसा पूर्व पक्ष होने पर यह सिद्धान्त होगा—प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध होने से स्मृति का प्रामाण्य सम्भव नहीं। क्यों? वेद का अनुमान सम्भव न होने से। सर्वत्र स्मृतियों का प्रामाण्य वेदानुमानपूर्वक ही स्वीकार किया गया है। यदि प्रत्यक्ष वेद से विरोध नहीं है तो स्मृतिलिङ्ग से वेदानुमान वैसे ही हो जायेगा जैसे धूमलिङ्ग से अग्नि का अनुमान होता है। यदि कोई वेदविरुद्ध स्मृति दिखायी देती है तो वह स्मृति भ्रान्तिमूला ही हो सकती है। वह स्पष्ट श्रुतिमूला नहीं हो सकती। क्योंकि स्वतन्त्रतया स्मृति का प्रामाण्य इष्ट नहीं है। मूलभूत वेद का अनुमान भी प्रत्यक्ष वेद से विरोध होने के कारण सम्भव नहीं होगा। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

वेदवाक्यानुमानं हि तावदेव प्रवर्तते।
तदर्थविषये यावत् प्रत्यक्षं नोपलभ्यते॥
प्रत्यक्षे श्रूयमाणे तु न विद्येतानुमानिकम्।
न हि हस्तिनि दृष्टेऽपि तत्पदेनानुमेष्यते॥

स्मृतीनां श्रुतिलिङ्गत्वमस्ति हस्तिपदादिवत्।
तत्प्रत्यक्षविरुद्धत्वे तद्वदेव निवार्यते॥
तावदेव स्फुरन्त्यर्थाः पुरस्तादानुमानिकाः।
यावत् प्रत्यक्षशास्त्रेण मूलमेषां न कृत्यते॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् स्मृति के द्वारा वेदवाक्य का अनुमान तभी होगा जब स्मृत्यर्थ-विषयक प्रत्यक्ष वेद उपलब्ध नहीं होगा। प्रत्यक्ष वेद यदि श्रवणगोचर है तो फिर अनुमानगम्य वेद के लिए कोई अवकाश नहीं रहेगा। यदि हाथी प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है तो उसके पैर से उसका अनुमान नहीं ही किया जायेगा। स्मृतियों का श्रुतिलिङ्गत्व हाथी के पैर जैसा ही है। जैसे प्रत्यक्ष हाथी के दर्शन होने से उसके पैर से हाथी का अनुमान नहीं होगा वैसे ही प्रत्यक्ष वेद के दर्शन से उसका स्मृति से अनुमान नहीं होगा। आनुमानिक पदार्थों का बोध तभी तक सम्भव है जब तक प्रत्यक्ष शास्त्र से उसके मूल का छेदन नहीं होता। इसका तात्पर्य इस प्रकार से समझना चाहिये कि जहाँ-जहाँ अनुमान होता है वहाँ-वहाँ अनुमेय की जिज्ञासा ही कारण है। जैसे पर्वत पर धूम से अग्नि का अनुमान तभी होगा जब अग्नि को जानने की इच्छा होगी। यदि अग्नि को जानने की इच्छा ही नहीं तो धूम के दर्शन के बाद भी अग्नि का अनुमान नहीं होगा। प्रकृत उदाहरण में भी प्रत्यक्ष श्रुति से स्पर्श का विधान होने के कारण अनावेष्टितत्वरूप से औदुम्बरी के परिच्छिन्न होने से जिज्ञासा का अभाव होगा, अतः उक्त स्मृति से औदुम्बरीवेष्टनविषयक श्रुति का अनुमान कथमपि सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुतिविरुद्ध स्मृति धर्माधर्म में प्रमाण नहीं है।

अब विकल्प स्वीकार करके प्रत्यक्ष श्रुति और आनुमानिक श्रुति, दोनों का पाक्षिक प्रामाण्य षोडिशग्रहण और तदग्रहण की तरह उपपन्न हो जायेगा, यह जो पूर्व पक्ष में समाधान प्रस्तुत किया गया था उसका उत्तर भी सुस्पष्ट है। कैसे? तुल्यबल वालों का ही विकल्प होता है। अतुल्यबल का स्वप्न में भी विकल्प नहीं होता। षोडशिग्रहणाग्रहण की प्रतिपादिका दोनों श्रुतियाँ ही हैं, अतः तुल्यबलतया वहाँ विकल्प होगा ही। यहाँ पर सम्भव नहीं। क्यों? इसीलिए कि एक प्रत्यक्ष श्रुति है और दूसरी स्मृति से अनुमीयमान आनुमानिक। प्रत्यक्ष और आनुमानिक में तुल्यबलत्व न होने

के कारण विकल्प नहीं होगा। यह भाष्यकार श्रीशबरस्वामी का मत है। इस पर आस्तिकता के साक्षात् अवतार श्रीवार्तिककार ने अपनी अलग दृष्टि प्रस्तुत की है। तथा हि—

जिज्ञासा अनुमिति का अङ्ग नहीं है। क्यों? अग्न्यादि की जिज्ञासा न होने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति देखी जाती है, अत एव साध्य की जिज्ञासा अनुमिति का अङ्ग नहीं है। यदि जिज्ञासा को अनुमिति का कारण मान लें तो फिर स्मृति के विरुद्ध श्रुति के होने से विरुद्धस्मृति के मूलभूत वेद (श्रुति) की जिज्ञासा नहीं होनी चाहिये, किन्तु जिज्ञासा होती है। अतः यह कहना कि विरुद्ध स्मृति से मूलभूत श्रुति की कल्पना नहीं होगी, अनुचित है। कल्पना नहीं होती यदि परस्परविरुद्ध श्रुति का दर्शन नहीं होता। परस्पर विरुद्ध श्रुतियाँ सहस्रशः विद्यमान हैं। जैसे—अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति। अतः श्रुतिविरुद्ध स्मृति की मूलभूता कोई अन्य श्रुति हो सकती है भले ही वह श्रुति हमें प्रत्यक्ष न हो। क्योंकि अनन्त वेदों की शाखायें हैं और उनके अध्येता भी अनन्त हैं। यह आवश्यक नहीं कि सारी श्रुतियाँ हमें प्रत्यक्ष ही हों। यहाँ यह समझना चाहिये कि स्वप्रत्यक्ष का आदर ज्यादा होता है, अतः अनुष्ठान-विषयता उन्हीं पदार्थों की होगी जिनका प्रमाणभूत वेद स्वप्रत्यक्ष है। वार्तिककार के द्वारा भाष्यमत दूषित करने का यह अभिप्राय है—

प्रत्यक्षश्रुति से विरोध होने पर स्मृति के मूलभूत श्रुति के अभाव का प्रतिपादन क्या साधक प्रमाण के अभाव के कारण है या बाधक के विद्यमान होने से है? आदि वाला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जो महर्षि के द्वारा रचित है उसके शिष्ट त्रैवर्णिक के द्वारा परिगृहीत होने से अन्य अविरुद्ध स्मृति के समान ही यहाँ पर भी मूलभूत श्रुति का अनुमान होगा। यहाँ पर शिष्टत्रैवर्णिकपरिग्रह ही साधक प्रमाण है। जैसे—**श्रुतिविरुद्धापि स्मृतिः मूलभूतश्रुतिमती शिष्टत्रैवर्णिकपरिग्रहात्**। अन्तिम पक्ष भी उचित नहीं क्योंकि विरुद्धश्रुतिदर्शनरूप बाधक व्रीहियवादिविषयक बहुत श्रुतियों में भी है, अतः व्यभिचार हुआ। तथा च, इधर-उधर फैली हुई अन्य शाखीय श्रुतियों के हम लोगों को प्राप्त न होने पर भी मन्वादि महानुभावों के महत्तर होने पर उन्हें अप्राप्तिरूप बाधक का अभाव है। अतः यह कहना कि विरुद्ध स्मृति के द्वारा श्रुति का अनुमान नहीं होगा, अनुचित है।

एतद्विषयक अधिकरणान्तर

यहाँ भाष्यकार ने पूर्वप्रतिपादित अर्थापत्ति या अनुमानप्रमाण की उत्पत्ति में स्मृति के मूल में अन्य हेतु दिखाकर व्यभिचार दिखाया है। जैमिनि के 'हेतुदर्शनात्' इस सूत्र की योजना विरोधाधिकरण से की है। तथा हि—

लोभाद् वास आदित्समाना औडुम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः केचित्। तत् स्मृते बींजम्। बुभुक्षमाणाः केचित् क्रीतराजकस्य भोजनमाचरितवन्तः। अपुस्त्वं प्रच्छादयन्त श्चाष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः। तत एषा स्मृतिरित्यवगम्यते।(शाबरभाष्य १.३.४)

अर्थात् किसी ऋत्विक् की लोभ के कारण वस्त्र की इच्छा हुई। यजमान से भिक्षा में वस्त्र लेने में तौहीन महसूस हुई, अतः उससे कहा कि दस मीटर रेशमी कपड़ा भी यज्ञ में अपेक्षित है। उससे औदुम्बरी को ढकना है। यजमान दे दिया। बाद में औदुम्बरी ढकने की परम्परा चल पड़ी। आज भी बहुत से वैदिक हैं जो स्व-अपेक्षित वस्तुओं की लिस्ट यजमान को सौंप देते हैं। यजमान विधान से पूजा होगी, ऐसा समझ कर सारी वस्तुयें दे देता है। ऐसे में एवम्प्रकारक स्मृतियों का हेतु लोभ ही होगा। मूलभूत वेद की कल्पना नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार 'क्रीतराजको भोज्यान्नः', 'अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यम्', इन दोनों स्मृतियों का क्रम से 'तस्मादग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यम्, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इन दोनों श्रुतियों से विरोध होने पर बुभुक्षा और नपुंसकत्वछादन हेतु हैं, अतः मूलभूत वेद की कल्पना का अवकाश नहीं। तात्पर्य यह है कि सोमयाग में जब यजमान की दीक्षा होती है तब यह निषेध अन्य के लिए है—'दीक्षितस्य अन्नं नाश्नीयात्' अर्थात् दीक्षित का अन्न नहीं खाना चाहिये। पुनः प्रतिप्रसव विधि है जो ऊपर निर्दिष्ट है। उस विधि का अर्थ है कि अग्नीषोमीय याग, जो सोमयाग का अङ्ग है तथा जिसका अनुष्ठान चौथे दिन होता है, जब सम्पन्न हो जाय तब दीक्षित का अन्न खाना चाहिये। स्मृति जो उक्त श्रुति से विरुद्ध है, उसका अर्थ है कि जब राजा सोम का क्रयण हो जाय तब दीक्षित का अन्न खाना चाहिये। सोम का क्रयण दूसरे दिन होता है तथा सोमयाग पाँचवें दिन समाप्त होता है। यहाँ पर उक्त स्मृति का मूल वेद नहीं होगा। क्योंकि भूख लगने पर कोई सोमक्रयण के बाद ही दीक्षित के यहाँ भोजन कर लिया। अतः बुभुक्षा ही 'क्रीतराजको भोज्यान्नः' इस स्मृति का मूल है न कि वेद। एवं श्रुति से अग्न्याधान विहित है जिसकी

विधि ऊपर उक्त है। उसका अभिप्राय है कि पुत्र हो जाय और केश काले रहें, अर्थात् पचीस-तीस वर्ष के भीतर ही अग्न्याधानसंस्कार होना चाहिये। स्मृति में अड़तालिस वर्ष तक वेद प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य कहा गया है। अतः श्रुति से विरोध हुआ। फलतः स्मृति का मूलभूत हेतु नपुंसकत्वछादन होगा, अतः वेद का अनुमान सम्भव नहीं। ऐसी स्मृतियाँ, जहाँ वेद का अनुमान सम्भव नहीं, वे प्रमाण नहीं हो सकतीं।

यहाँ पर स्पष्ट लोभादिमूल के दृष्ट न होने पर भाष्यकार ने अलग विचार के लिए अधिकरण की संरचना की है। उदाहरण के रूप में ये स्मृतिवाक्य उद्धृत हैं—

वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्यु र्गृह्णाति, यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति।

अर्थात् अग्नीषोम के प्रणयन के लिए विसर्जनहोमसम्बन्धि वस्त्र को अध्वर्यु (यजुर्वेद का ऋत्विक्) ले, यूप को आच्छादित करने के वस्त्र को अध्वर्यु को देना चाहिये। यद्यपि यहाँ किसी श्रुति का विरोध नहीं है तथापि प्रत्यक्षरूपेण उक्त स्मृतियों के मूल का दर्शन नहीं होता। यहाँ पर यह सन्देह होगा कि उक्त स्मृतियों का मूलभूत वेद के अनुमान के द्वारा प्रामाण्य माना जाय कि नहीं? ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहेगा इन दोनों स्मृतियों का प्रामाण्य मानना चाहिये। क्यों? कर्तृसामान्यात् अन्यस्मृतिवत्। सिद्धान्त इस पर यह होगा—पूर्वोक्त दोनों स्मृतियों का प्रामाण्य सम्भव नहीं। क्यों? अन्य लोभादिरूप मूल के जागरूक होने पर श्रुति की कल्पना का अभाव होने से। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—

अत्रान्यन्मूलम्। लोभादाचरितवन्तः केचित्, तत एषा स्मृतिः। उपपन्नतरं चैतत् वैदिकवचनकल्पनात्। (शाबरभाष्य, १.३.४)

अर्थात् किसी ने लोभवश ऐसा आचरण कर दिया। वहीं से यह स्मृति प्रस्तुत हो गयी। उचित ही यही है। वैदिकवचनकल्पना की अपेक्षा यहाँ दृष्ट लोभादि की ही मूल के रूप में कल्पना उचित है।

वार्तिकमत

वार्तिककार ने यहाँ पर भी अपनी अरुचि प्रकट करके अन्यथा विचार प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि पुरुषों के द्वारा जैसा वेद प्रकाशित होता है वह वैसा ही पढ़ने वाले के द्वारा प्रकाशित हो या स्मरण करने वाले के द्वारा। सर्वथा वह वेद एक समान ही होगा। क्योंकि वेद

अध्ययन करने वालों में दो प्रकार से ही रहता है तब जब उसका उच्चारण न हो। प्रथम वह केवल संस्कार के रूप में रहेगा अथवा दूसरे प्रकार से तत्संस्कारजन्य स्मरणों के रूप में रहेगा। अत एव वेदार्थों का कथन करने वालों के द्वारा स्मृत अर्थों वाली श्रुति कही जाय तो वह पठित श्रुति के समान ही होगी। उसका बाध किस न्याय से सम्भव है। अर्थात् कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकार हेतुदर्शन ही यदि करना है तो सारी प्रामाणिक स्मृतियों में भी कुछ-न-कुछ दृष्ट हेतु सम्भव हैं। फिर सारी स्मृतियाँ अप्रामाणिक होने लगेंगी। इस पर वार्तिककार का स्पष्ट उद्घोष है—

बाधिता च स्मृति र्भूत्वा काचित् न्यायविदा यदा।
श्रूयते नचिदादेव शाखान्तरगता श्रुतिः॥
तदा का ते मुखच्छाया स्यान्नैयायिकमानिनः।
बाधाबाधानवस्थानं ध्रुवमेव प्रसज्यते॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् स्मृति होकर भी न्यायों के जानकार आप के द्वारा यदि बाधित हो जा रही है, वही यदि शीघ्र ही अन्यशाखा में श्रुति के रूप में उपस्थित हो जाय तो आप की मुखकान्ति कैसी होगी? इस प्रकार बाध और अबाध की अनवस्था ही प्रसक्त हो जायेगी। अत एव शिष्टत्रैवर्णिक के द्वारा यदि परिगृहीत है, अर्थात् नित्यवेदाध्ययन और वैदिक कर्मों के अनुष्ठानों में संलग्न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों की स्मृति है, चाहे वह कोई हो, उसका आत्यन्तिक बाध कथमपि नहीं होना चाहिये। उनका जब तक मूलभूत वेद दृष्ट न हो तब तक अनुष्ठानाभाव रूप अप्रामाण्य मानना ही उचित है। श्रुति के दर्शन होने पर अनुष्ठान भी होना चाहिये।

तथा हि जैमिनि के मत को प्रस्तुत करते हुए सुस्पष्ट कहा है—

यावदेकं श्रुतौ कर्म स्मृतौ वाऽन्यत् प्रतीयते।
तावत्तयो र्विरुद्धत्वे श्रौतानुष्ठानमिष्यते॥

यदि श्रुति और स्मृति में एक ही कर्म अन्य-अन्य प्रतीत हो रहा हो तो दोनों के विरोध होने पर श्रौतानुष्ठान ही इष्ट है। दृष्टान्त के रूप में व्रीहिभि र्यजेत, यवै र्यजेत इन दोनों श्रुतियों के होने पर भी कोई जीवन-पर्यन्त एक पक्ष को ही लेकर चले तो वह कभी भी उपालम्भ का पात्र नहीं होता। इसी प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि समानबला स्मृतियों के

होने पर भी प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा बोधित पदार्थ के अनुष्ठान में किसी भी प्रकार का दोषगन्ध नहीं है।

एवम् 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इस जैमिनि सूत्र की व्याख्या भी दोनों आचार्यों के मतों में भिन्न-भिन्न होगी। भाष्यकार के मत में—स्मृति का श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष अर्थात् अप्रमाण होगी, क्योंकि जहाँ विरोध नहीं हैं वहीं मूलवेदानुमान सम्भव है, यह व्याख्या होगी।

पुनः वार्तिककार के मत में यहाँ पर पूर्व सूत्र से 'प्रमाणम्' का अनुवर्तन करके अर्थ किया जायेगा। तथाहि—श्रौतस्मार्तविज्ञानविरोध होने पर यदनपेक्षम् = अपेक्षा से वर्जित है, 'यदनपेक्ष्यम्' यह पाठ होने पर, जिसके लिए अपेक्षणीय अन्य नहीं है, वह प्रमाण होगा, ऐसी व्याख्या तात्कालिक व्यवहारमात्र के ज्ञान के लिए होगी। इसका अभिप्राय पूर्व ही व्यक्त कर दिया गया है।

निष्कर्ष यही निकला कि अन्यशाखा में विद्यमान श्रुति की जब मूल के रूप में आशङ्का होगी तब अत्यन्तनिराकरण वाला पक्ष स्वीकार नहीं किया जायेगा। इस प्रकार प्रत्यक्षश्रुति के अनुष्ठान की हानि भी नहीं होगी। जब कहीं भी किसी भी शाखा में स्मृति का मूल वेद प्रत्यक्ष हो जायेगा तब तुल्यबलत्वेन विकल्प स्वीकार करके पाक्षिकानुष्ठान सिद्ध होगा वैसे ही जैसे व्रीहि और यव का होता है। ये सारी बातें उन स्मृतियों के विषय में हैं जो वैदिक शिष्ट त्रैवर्णिकों के द्वारा परिगृहीत हैं। इतना निरूपण करने के पश्चात् वार्तिककार ने वर्णकान्तर प्रस्तुत करके अलग विचार किया है। तथा हि—

सूत्रकार जैमिनि ने श्रुति से विरोध होने पर या लोभादि हेतु के दर्शन होने पर उन्हीं स्मृतियों की अनपेक्ष्यता (अनुपयोगिता) का प्रतिपादन किया है जो वैदिकों को स्वीकृत नहीं हैं। वे शाक्य (बुद्ध) और तत्समान महावीर, ईसा, मोहम्मद आदि की परम्परा में आती हैं। वे क्या हैं? कहते हैं—

त्रयी के जानकार शिष्टों के द्वारा स्वीकृत न होने पर भी किञ्चित् श्रुति से मिश्रित धर्मकञ्चुक से ढकी हुई हैं। अर्थात् जैसे नर्तकी अपने विकारों को कञ्चुक (वस्त्रविशेष) से ढकती है वैसे ही कुछ बौद्धादि के

द्वारा स्वीकृत चैत्यवन्दन-नमाज आदि कुपदार्थश्रेणी कुछ वैदिक धर्मकञ्चुक (अहिंसादि) से ढकी हुई है। इन सभी का प्रयोजन निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं है, अपितु लोकसंग्रह, धनादिलाभ, आत्मपूजा, आत्मख्याति आदि स्वार्थप्रायोजित प्रयोजन हैं। ये सारे अवैदिक ग्रन्थ त्रयी (वेद) से विरुद्ध हैं और असंबद्ध तथा दृष्ट शोभा, प्रत्यक्षादिलौकिक प्रमाणमूलक हैं। विषचिकित्सा, वशीकरण, उच्चाटन, उन्मादन आदि के समर्थक कतिपय मन्त्र-औषधि के दृष्टान्तों से प्रतिपादित हैं। कहीं-कहीं उनमें वेदबोधित अहिंसा-सत्य-दम-दान-दया आदि की भी झलक मिलती है, मात्र जनता को विश्वास में लेने के लिए। जीविका ही जिनमें प्रमुख है, ऐसे अन्य वेदविरुद्ध पदार्थों के उपदेश भरे पड़े हैं। और भी म्लेच्छाचारमूलक कुछ स्मृतियाँ हैं जिनके धर्माधर्म में अप्रामाण्य का प्रतिपादन भगवान् जैमिनि ने किया है। इस बात का निरूपण मीमांसा के किसी भी अधिकरण में नहीं हुआ है। प्रथमपाद में सर्वज्ञ का खण्डन करके उनके या तत्समान जैन, ईसा, मोहम्मद आदि के उपदेश का प्रामाण्य खण्डित किया है। यहाँ पर मन्वादिस्मृतियों की तरह ही मूलभूत वेद के अनुमान के द्वारा भी प्रामाण्य सम्भव नहीं, यह कहना अतीव आवश्यक है। पूरे अनादर के साथ वेदविरोधियों का खण्डन होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होगा तो हमारी सनातन जनता धर्मनिरपेक्ष होकर वेदविरोध में स्वर मिला सकती है। जैसा कि आज नेता विरोधियों के उपदेश में अपना पूर्ण आदर व्यक्त करते हुए वेदविरोध में ही मुखर हैं। हमारे आचार्यों ने भारत को शाश्वतिक एकरूपता और अखण्डता प्रदान करने का प्रयास किया है। वह प्रयास आज भी होना चाहिये।

आज बहुत से आचार्यपीठ दृष्टिगोचर हो रहे हैं जिनमें आचार्य बनकर बहुत से भद्र पुरुष आरुढ़ है। अपार सम्पत्ति हासिल करके वे आज मात्र उसका लेखाजोखा कर रहे हैं। भारत की क्या दुर्दशा हो रही है, इस पर किसी का ध्यान ही नहीं जा रहा है। ध्यान दिलाने पर वे युगधर्म की लम्बी वार्ता शुरू कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उनका वैभवसागर में आकण्ठ डूबना भी युगधर्म है तो आज वेदविरोधियों के ग्रन्थों का निराकरण करना राष्ट्र के हित में पहले जैसा ही प्रासङ्गिक है। वार्तिककार का भी यही कहना है—

यदि ह्यनादरेणैषां न कल्प्येताप्रमाणता।
अशक्यैवेति मत्वाऽन्ये भवेयुः समदृष्टयः॥
शोभासौकर्यहेतूक्तिकलिकालवशेन वा।
यज्ञोक्तपशुहिंसादित्यागभ्रान्तिमवाप्नुयुः॥

यदि अनादरपूर्वक बुद्धादि के ग्रन्थों के प्रामाण्य का विखण्डन नहीं होगा तो अशक्य मानकर लोग समदृष्टि हो जायेंगे। फिर 'धर्मान्तरण' शब्द का अस्तित्व भी लोक में रहेगा। खण्डन हो जाने पर वैदिकमार्गपरित्यक्ता को धर्मभ्रष्ट कहा जायेगा और आने वालों में धर्मस्वीकृति का ही व्यवहार होगा। ब्राह्मण-क्षत्रियों के द्वारा रचित जैसी वैदिक स्मृतियाँ हैं वैसे ही श्रुतिमूलत्वरूप हेतु को लेकर सचेता लोग भी श्रुतिविहित के साथ विकल्प मानने लगेंगे। ऐसा होना नहीं चाहिये। क्योंकि—

त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य ये ह्यत्यन्तविरोधिनः।
अनिराकृत्य तान् सर्वान् धर्मशुद्धि र्न लभ्यते॥
महाजनगृहीतत्वं पित्राद्यनुगमादि च।
तेऽपि द्वीपान्तरापेक्षं वदन्त्येव स्वदर्शने॥

अर्थात् वेदत्रयी से सिद्ध मार्ग के जो अत्यन्त विरोधी हैं उनका पूर्ण रूप से विखण्डन जब तक नहीं हो जाता तब तक धर्म की शुद्धि नहीं हो सकती। वे वेदविरोधी कुमार्ग के व्यवस्थापक बुद्धादि अपने दर्शन के विषय में यह कहते ही हैं कि यह अपना दर्शन महापुरुषों के द्वारा आचरित है तथा पितृपितामह-आदि के द्वारा अनुमोदित भी। ऐसे में सरल जनता को भ्रान्ति होनी स्वाभाविक है। जैसे कुछ मन्वादिस्मृतियों को उत्सन्न-(लुप्त) शाखामूलक कहते हैं वैसे ही उन्हें कहने में क्या हिचक हो सकती है। इस प्रकार का कार्य कोई भी करने में समर्थ है। बुद्धादि अपने उपदेशों में अधिकांश श्रुतिस्मृतिविरुद्ध पदार्थों को बोलते हैं। यहाँ तक कि उनको अपने ग्रन्थों को श्रुतिमूलक कहने में लज्जा आती है क्योंकि उनके ग्रन्थ स्मृतियों की तुलना में आ जायेंगे। ऐसा वे हरग़िज स्वीकार नहीं करेंगे जैसे माता-पिता को द्वेषी दुष्ट पुत्र स्वीकार नहीं किया जाता।

शिष्टों की कोई एक-दो स्मृति ही किसी एक श्रुति से विरुद्ध होती है। शाक्यादि के वचन तो कुछ सत्य, अहिंसा, दम, दान आदि को छोड़कर सारे के सारे समस्त चतुर्दश विद्यास्थानों के विरुद्ध हैं जिनको त्रयीमार्ग के

विरुद्ध आचरण करने वाले बुद्ध, ईसा, मोहम्मद आदि ने बनाया है। उन सारे वचनों को इन लोगों ने उनको ही समर्पित किया है जो त्रयीमार्ग से बाहर हो गये हैं और व्यामोहग्रस्त हैं। ऐसे बुद्धादि के कलुषित वचनों को किसी भी प्रकार से वेदमूलक नहीं माना जा सकता। कहा भी है वार्तिककार ने—

स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यंतीति कः समाश्वासः?

अर्थात् क्षत्रिय होकर भी जिस बुद्ध ने अपने प्रजापालनरूप धर्म का परित्याग कर दिया और चोंगा बदल कर ब्राह्मण के 'प्रवचन और प्रतिग्रह' इन दोनों धर्मों को स्वीकार क़र लिया वह जनता को वास्तविक अखण्डित धर्म का उपदेश करेगा, इसमें किसको विश्वास होगा। अन्यत्र भी यह बात प्रसिद्ध है—

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्।
आत्मानं योऽतिसंधत्ते सोऽन्यस्मै स्यात् कथं हितः॥

अर्थात् परलोक के विरुद्ध जो लोग आचरण करें उनको दूर से ही त्याग देना चाहिये। अपनी आत्मा को ही जो ठग रहा है वह अन्य के लिए हितकर कैसे हो सकता है। बुद्धादिकों का यही व्यतिक्रम है कि वे अलङ्कारबुद्धि में स्थित हैं—

कलिकलुषकृतानि यानि लोके।
मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोकः॥

क्या आदर्श झाड़ा है बुद्ध ने। वे कहते हैं कि लोक में मनुष्यों के कलिदोषों से उत्पन्न होने वाले जितने भी पाप हैं, वे सारे के सारे उनमें आ जाँय और यह सारा लोक ही मुक्त हो जाय। निश्चय ही बुद्ध लोकहित के लिए क्षत्रियधर्म का अतिक्रमण करके ब्राह्मण का धर्म 'प्रवचन' ग्रहण किये हैं और प्रतिषेध के अतिक्रमण में असमर्थ ब्राह्मणों के द्वारा अनुपदिष्ट धर्म का उपदेश लोकहित के लिए किये हैं और स्वयं लोगों की पीडा लेकर दूसरों पर अनुग्रह किये हैं, इस प्रकार के गुणों के द्वारा अपनी स्तुति करा रहे हैं। इस प्रकार उनके उपदेशों को ग्रहण करने वाले भी श्रुति-स्मृतिविहित धर्म का अतिक्रमण करके विरुद्ध आचरण कर रहे हैं, ऐसा निश्चित होता है। अत एव—

तेन प्रत्यक्षया श्रुत्या विरोधे ग्रन्थकारिणाम्।
गर्हिताचरितॄणाञ्च ग्रन्थप्रामाण्यबाधनम्॥
(तन्त्रवार्तिक)

प्रत्यक्षश्रुति के विरोध में ग्रन्थ बनाने वाले तथा निन्दित आचरण करने वाले पाखण्डियों के ग्रन्थ के प्रामाण्य का खण्डन करना आवश्यक हो जाता है। इनके ग्रन्थों का पूर्वोक्तन्याय से मूल श्रुति के अनुमान का सामर्थ्य नहीं। जैसे उपनयनादिविषयक स्मृतियों का अन्य शाखाओं में दृष्ट श्रुतियों से मेल है वैसे बुद्धादिकों के मार्ग में चैत्यवन्दन, नमाजपाठ, शूद्र के लिए दान आदि का नहीं है। वेदातिरिक्त और कोई मूल सम्भव नहीं अतः वेदविरोध में खड़े सारे मार्गों का अप्रामाण्य ही जैमिनि को इष्ट है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्'।

हेतुदर्शन के द्वारा भी महर्षि ने पाखण्डियों के ग्रन्थों का अप्रामाण्य माना है। यहाँ पर सुगमता और जनता की आखें खोलने के लिए वार्तिक ग्रन्थ ही प्रस्तुत कर देना अनुचित नहीं होगा—

लोभादिकारणं चात्र बह्वेवान्यत् प्रतीयते।
यस्मिन् संनिहिते दृष्टे नास्ति मूलान्तरानुमा॥
शाक्यादयश्च सर्वत्र कुर्वाणा धर्मदेशनाम्।
हेतुजालविनिर्मुक्तां न कदाचन कुर्वते॥
न च तै र्वेदमूलत्वमुच्यते गौतमादिवत्।
हेतवश्चाभिधीयन्ते यै र्धर्मा दूरतः स्थिताः॥
एत एव च ते येषां वाङ्मात्रेणापि नार्चनम्।
पाखण्डिनो विकर्मस्था हैतुकाश्चैत एव हि॥
(तन्त्रवार्तिक १.३., सू० ४)

अर्थात् बौद्धादिकों के ग्रन्थों में लोभादि कारणों का बाहुल्य और आधिक्येन श्रुतिस्मृतिशिष्टाचार से भिन्नत्व दिखायी देता है। ये शाक्यादि जहाँ कहीं भी धर्मोपदेश करते हैं वहाँ हेतुओं का अम्बार लगा देते हैं। हमारे गौतमादि स्मृतिकार जैसे अपनी-अपनी स्मृतियों की वेदमूलकता स्वीकार करते हैं वैसे ये नहीं करते। मनु ने—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

जिन पाखण्डी, विकर्मस्थ, बैडालव्रती, धूर्त, हैतुक, बगलाभक्तों का वाणीमात्र से भी सम्मान न करने को कहा है वे ये ही वेदविरोधी बुद्ध-ईसा-मुसा आदि हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि त्रयी से बाह्य वस्तुओं की ही प्रामाण्य से अनपेक्षणीयता है। आज भी जहाँ भी बौद्ध भिक्खुओं या अन्य वेदविरोधियों की जमात है वहाँ उनके आचारों और विचारों को देखने से ही यह मालूम हो जायेगा कि ये पाखण्डी हैं। इनके भोजन में पवित्रता नहीं है। जैसा भी अमेध्य भोजन हो, ये कर लेते हैं। भोजन के पहले जो भी श्रुतिस्मृतिविहित शौच (पवित्रता) अपेक्षित है उसका निर्वाह करना उनके लिए आवश्यक नहीं है। मुसलमानों में भी रोजा को देख लीजिये। उपव्यूष (सूर्योदय) के पूर्व भोजन और सायंकाल में दन्तधावन तथा भोजन। जैनी तो दन्तधावन इसलिए नहीं करते कि दातों में पड़े कीड़ों की हिंसा होगी। सूर्यास्त के पूर्व या सूर्यास्त में ही इनका भोजन होता है। इन सभी के आचरणों से श्रुतिस्मृतिविरोध सुस्पष्ट हो जाता है। श्रीऋषभदेवजी गार्हस्थ्यजीवन में श्रुतिविहित धर्म का ही आचरण करते रहे। पश्चात् अवधूतलीला उनकी तब लोचनगोचर हुई जब वे देहाद्यध्यास से विनिर्मुक्त हुए। जैनियों ने देह ही में आत्मा को स्वीकार कर आडम्बरग्रस्त होकर उनकी अवधूतता को ग्रहण कर लिया। भागवत में इसका स्पष्ट निर्देश है कि बाद में कुछ पाखण्डी उनके पाश्चात्यमार्ग का अनुसरण करके पाखण्ड का भूलोक में विस्तार करेंगे। आज जैनी वही सब काम कर रहे हैं। इन सारे पाखण्डियों का निराकरण करके शुद्ध वास्तविक धर्म को जनता के सामने लाने का प्रयास हमारे आचार्यों ने किया है। आज भी वास्तविक धर्म का विमर्श होना चाहिये ताकि जनता को वास्तविकता का पता चले और उन्हें कोई धर्मभ्रष्ट करने का दुःसाहस न करे।

त्रिसूत्रीव्याख्या

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्॥ (जैमिनि सूत्र १.३.५)

न शास्त्रपरिमाणत्वात्॥ (जै०सू० १.३.६)

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् (जै०सू० १.३.७)

इन सूत्रों की व्याख्या से धर्म का रहस्य और खुलकर सामने आयेगा। यहाँ पर भाष्यकार ने प्रथम सूत्र से श्रुतिविरुद्ध कुछ स्मार्त पदार्थों का प्रामाण्य स्वीकार करके द्वितीय सूत्र से पुनः आक्षेप किया है तथा तृतीय सूत्र

से सर्वतोभावेन सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया है। इस प्रकार भाष्यकार ने त्रिसूत्री से एक अधिकरण को ही स्वीकार किया है। तथा हि—

इसके पूर्व पुरुषार्थ स्मृतियों का श्रुति से अविरोध होने पर प्रामाण्य और विरोध होने पर अप्रामाण्य का उपपादन किया गया। अतः परम् क्रत्वर्थ (यागार्थ) स्मृतियों का, जो श्रुत्यर्थ के मध्य में आयी हैं, विरोध और अविरोध का विचार किया जायेगा। विरोधाविरोध के उपपादन के बाद पूर्व न्याय से स्वतः प्रामाण्य या अप्रामाण्य का उपपादन हो जायेगा। ये स्मृतियाँ हैं—क्षुत आचामेत्, यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्, दक्षिणाचारेण कर्तव्यम्। छींक आने पर आचमन करना चाहिये, यज्ञोपवीती होकर कर्म करना चाहिये। दक्षिण कर से ही कर्म करना चाहिये। यहाँ यह सन्देह होगा कि इन श्रुतिविरुद्ध कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये कि नहीं। कैसे इनका श्रुति से विरोध होगा? ऐसी आशङ्का होने पर यह कहा जायेगा—यदि इनकी यागप्रयोगविधि से स्वीकृति नहीं है तो अधिक होने से विरोध होगा अन्यथा नहीं। प्रमेयसिद्धि के प्रमाण के अधीन होने से भी यदि प्रमाण के बलाबल की बलवत्ता मानेंगे तो विरोध होगा अन्यथा नहीं। ऐसा सन्देह होने पर यह सिद्धान्त होना ही चाहिये कि इनके अनुष्ठान से वैदिक पदार्थों का विरोध (कोप) नहीं है, अतः अविरुद्ध हैं। शिष्टै र्वेदोपदिष्टैः कोपे अबाधेऽविरुद्धमेवञ्जातीयमिति सूत्रयोजना। पुनः 'न शास्त्रपरिमाणत्वात्' से आक्षेप होगा। यही कि यागों के मध्य में इन स्मार्त पदार्थों के अनुष्ठान होने से शास्त्र अर्थात् प्रयोगविधि से परिच्छिन्न क्रम, काल, परिमाण का बाध होगा ही। कैसे? 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस विधि से वेदनिर्माण और वेदिनिर्माण का क्रम बोधित होता है। बैठे हुए बछड़े के जानु (घुटना) के टेढ़े आकार वाले कुशमुष्टि को वेद कहते हैं। संस्कृता भूमि ही वेदि है। वेद से यज्ञपात्रों का समार्जन होता है और वेदि पर पात्रों का आसादन। वेद और वेदि के निर्माण के बीच यदि छींक आने पर आचमन किया जायेगा तो प्रयोग का काल-क्रम और परिमाण बाधित होगा। आचमन न करने से जितना काल लगेगा, आचमन करने के बाद स्पष्ट है कि काल बढ़ जायेगा। यदि केवल दाहिने हाथ से करेंगे तो दोनों हाथों से करने की अपेक्षा काल बढ़ेगा ही। इस प्रकार शास्त्र के द्वारा बोधित क्रम-काल-परिमाणों से विरोध होने से आचमनादिविषयक स्मृतियों का अप्रामाण्य ही मानना चाहिये। अपि च, श्रुति के द्वारा क्रमकालपरिमाण का बोध और

स्मृति से आचमनादि का बोध होता है। श्रुति स्मृति से प्रबल प्रमाण है। अतः विरोध होने से स्मृति का ही बाध होना चाहिये। ऐसी आशङ्का द्वितीय सूत्र से उठाकर तृतीय सूत्र से समाधान किया जाता है।

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्।

यहाँ 'अपि वा' से पूर्वषक्ष की व्यावृत्ति कही गयी है। अर्थात् जिन आचमनादिविषयक स्मृतियों का लोभादिकारण ढूढ़ने पर भी न मिले तो शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त उन्हें प्रमाणतया ही स्वीकार करना चाहिये। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—

अगृह्यमाणकारणा एवञ्जातीयकाः प्रमाणम्।

(शाबरभाष्य)

अर्थात् जैसे औदुम्बरीवेष्टन आदि में लोभादि कारण सम्भव हैं वैसे आचमन आदि में नहीं। आचमन के प्रतिपादन में किसी का क्या लोभ हो सकता है? अतः जिन स्मृतियों में कारण का ग्रहण नहीं उन्हें प्रमाणतया प्रयुक्त समझना चाहिये। यदि कहें कि श्रुतिरूप प्रबल प्रमाण से विरोध है तो अवश्य कहा जायेगा कि होता रहे विरोध। कोई दोष नहीं। स्मृति दुर्बल होती हुई भी प्रबल आचमनादि पदार्थों के आश्रय के कारण दुर्बल पदार्थ के धर्म क्रमकालपरिमाण के आश्रित प्रबल श्रुति की अपेक्षा प्रबल ही मानी जायेगी। तात्पर्य यह है कि प्रमाणबलाबल की अपेक्षा प्रमेयबलाबल की श्रेष्ठता होती है। तथा हि—

प्रमाणों का स्वाभाविक कोई विरोध नहीं होता। प्रमेयों के विरोध होने से प्रमाणों का विरोध होता है। प्रमेयों के विरोध के अधीन प्रमाणों का विरोध होने से प्रमेय बलाबल की श्रेष्ठता कही गयी है। दूसरी युक्ति यह भी है कि प्रयोग विधि के अन्तर्गत आचमनादि के भी आने से आचमानादि पदार्थों का क्रमादि से विरोध नहीं होगा। फलतः आचमनादिविषयक स्मृतियों के प्रमाण्य में कोई बाधा नहीं है।

वार्तिककारमत

'शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्' इस सूत्र में 'विरुद्धम्' का छेद करके पूर्वोक्त पूर्वपक्ष स्थापित हो जायेगा। अभिप्राय यह है कि आचमनादि पदार्थों का श्रुति से उपदिष्ट क्रमादि से आकोप = बाध होने के कारण आचमनादि को विरुद्ध मानना चाहिये। फलतः तद्विषयक स्मृतियों का प्रामाण्य नहीं।

सिद्धान्त भी पूर्वोक्त प्रकार से ही, शिष्ट = श्रुति से उपदिष्ट क्रमादि का यदि अकोपे = बाध न होने पर अविरुद्धम् = विरुद्ध आचमनादि नहीं माने जायेंगे, अतः तद्विषयक स्मृतियों का प्रामाण्य अक्षुण्ण ही माना जायेगा। इस प्रकार एक ही सूत्र से पूर्वोक्त अधिकरण की संरचना हो जाने से वार्तिककार वर्णकान्तर भी प्रस्तुत कर देते हैं। सबसे पहले भाष्य में उदाहृत स्मृतियों पर वार्तिककार का आक्षेप है। तथा हि—

यहाँ पर उन्हीं स्मृतियों का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये जिनका मूलभूत वेद प्रत्यक्ष न हो। यहाँ आचमनादि के विधायक प्रत्यक्ष श्रौतवचन हैं। 'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' इस श्रुति से यज्ञोपवीत का दर्शपूर्णमासयाग के अङ्गरूप से प्रत्यक्ष विधान है। काठकशाखा में यज्ञोपवीत-विषयक सामान्य विधि होने के कारण सारे यागों से सम्बन्ध हो जायेगा। अध्ययनाध्यापनसम्बन्ध भी वहीं श्रुत है। यह काठकश्रुति प्रत्यक्ष है—

प्रसृतेन वै यज्ञेन देवाः स्वर्गं लोकमायन्नप्रसृतेनासुरान् पराभावयन्। प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽप्रसृतोऽनुपवीतिनो यद् वै किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजेत एव तत्तस्माद् यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद् वा यज्ञस्य प्रसृत्या इति।

इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञोपवीती होकर ही अध्ययनादि कर्म करने से पूर्णता होती है। इसी प्रकार आचमन की भी प्रत्यक्ष विधि है—

दक्षिणत उपवीयोपविश्य हस्तावनिज्य त्रिराचम्य द्विःपरिमृज्य दर्भाणां महदुपस्तीर्योपस्थं कृत्वा प्राङ्मुख उपविश्य स्वाध्यायमधीयीत इति।

सुस्पष्टतया यहाँ अध्ययन के लिए कुछ आचार बतलाये गये हैं जिनमें आचमन भी है। यद्यपि यह विधि जपयज्ञ के प्रकरण में है तथापि वेदोच्चारण का सम्बन्ध यज्ञ से होता है अतः यज्ञ के अङ्ग भी पदार्थ होंगे। लिङ्ग से भी यह निश्चित हो जाता है। तथा च, 'न सोमेनोच्छिष्टा भवन्ति' इससे सोमयाग में सोमपान के अनन्तर आचमन का निषेध है। प्रतिषेध वहीं स्वीकार किया जाता है जहाँ प्राप्ति होती है। उक्त आचमन की विधि यज्ञ में भी प्राप्त है अतः सोमयाग में आचमन का निषेध उपपन्न होगा, अन्यथा नहीं। जैसे प्याज आदि का भक्षण यदि राग से प्राप्त होगा तभी 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेध की उपपत्ति होती है। एवम् दक्षिणाचार की भी श्रुति उपलब्ध है—

यथा वै दक्षिणः पाणिरेवं देवयजनम्।

यहाँ पर इस उदक्प्रवणविधितात्पर्यक वाक्य में जैसा दक्षिण हाथ है वैसे ही यज्ञ के सारे पात्र हैं। अर्थात् यज्ञीय पात्र जैसे याग के अङ्ग हैं वैसा ही दाहिना हाथ। दाहिने हाथ का यज्ञपात्रों के उपमान के रूप में निरूपण है। इससे यही सिद्ध होता है कि दक्षिणाचार भी यज्ञ का अङ्ग है। इस प्रकार यहाँ विरोध और बाध की आशङ्का के योग्य एक भी वाक्य नहीं हैं। अतः इनको उदाहरण के रूप में रखकर अधिकरण की संरचना नहीं हो सकती।

वार्तिककारीय वर्णकान्तर

इस प्रकार आक्षेप प्रस्तुत करके आदितः दो सूत्रों की सहायता से वार्तिककार ने भिन्नतया अधिकरण की संरचना की है। यहाँ पर बुद्ध-महावीर-ईसा-मूसा आदि कुमार्गव्यवस्थापकों के वे वचन उदाहरण होंगे जिनका प्रत्यक्ष श्रुति से कोई विरोध नहीं है। पूर्वाधिकरण में उदाहरण के रूप में वे वचन थे जिनका प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध है। अतः यह भिन्न अधिकरण ही माना जायेगा।

धर्मनिरपेक्षतावादी का आक्षेप

इस देश पर आक्रमण होता आया है। हूणों से लेकर मुसलमानों और अंग्रेजों का आक्रमण झेल चुका है हमारा यह भारतराष्ट्र। इस राष्ट्र की सबसे बड़ी यही खासियत रही है कि यह आने वाले सभी को आत्मसात् कर लिया है। आने के पहले कोई जैसा रहा हो, आने के बाद तो यही का हो गया। आप देखते नहीं क्या? सबसे पहले यहाँ आर्यों का आगमन हुआ और भारत में वैदिक संस्कृति विकसित हुई। जैसे वैदिक संस्कृति विकसित हुई वैसे ही बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, ईसाई संस्कृति, मौहम्मदी संस्कृति, एवम् अन्य संस्कृतियाँ भी यहाँ विकसित हुईं। इस प्रकार यह भारत देश कई संस्कृतियों का संगम हुआ। इन सभी संस्कृतियों को सुदृढ़ रखने के लिए मेरुदण्ड के रूप में विराजमान है धर्मनिरपेक्षता। आप अपने व्याख्यानों से इस धर्मनिरपेक्षता को समाप्त करने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। आप का यही मन्तव्य है कि वेदैकसमधिगम्य मार्ग ही धर्म है। धर्म के मूल में पुरुष नहीं हो सकता। मान लिया कि आप की बातों में दम है। लेकिन महानुभाव! बुद्धादि के जो उपदेश वेद के विरुद्ध नहीं हैं, उनका तो प्रामाण्य आप स्वीकार करें। वेद से अविरुद्ध उन महापुरुषों के उपदेशों का

अप्रामाण्य सिद्ध करने पर तुले हुए हैं। आखिर आप करना क्या चाहते हैं ? विभाजन का दंश एक बार यह देश झेल चुका है। इसको पुनः विभाजित करने का उपक्रम न करिये !

धर्मनिरपेक्षतावादी के आक्षेप का समाधान

आप जैसे खञ्जड़ विचारधारा वाले इस भूमण्डल में कलङ्कभूत हैं। आर्षविचारधारा के माध्यम से मैं पूरी समुद्ररशना पृथ्वी को एक करना चाहता हूँ और आप विभाजन की बात कर रहे हैं। विभाजन तो आप जैसे विचारधारा वालों की देन है। आर्य भारत में बाहर से आये हैं और वैदिक संस्कृति बाहर से आयी है, यह कहते हुए आप की जिह्वा कटकर गिर क्यों नहीं जाती। हमारे इतिहास में आये हुए मान्धाता आदि सार्वभौम (पूरी पृथ्वी के ईश्वर) राजाओं का आप को बोध नहीं। जब यह सिद्ध कर दिया गया कि धर्माधर्म के अवबोध में पुरुष का स्वातन्त्र्य नहीं। वेदों से ही धर्माधर्म का परिज्ञान सम्भव है, अन्यथा नहीं, तो भी आप गिरिगिट की तरह रङ्ग बदलने से चूकते नहीं। आज भी वेदैकसमधिगम्य कन्या को अन्य के लिए समर्पणरूप धर्म पूरी पृथ्वी पर विद्यमान है। कालक्रम से अन्यत्र वेदविरोधी मार्ग फैल गया किन्तु भारत में मनीषियों की कृपा से बचा रहा। यहाँ धर्माधर्म के वास्तविक स्वरूप को लाने का प्रयास किया जा रहा है ताकि धर्मभ्रष्ट भी वास्तविकता को समझें। किसी भी पुरुष का, किस मार्ग के आलम्बन से कल्याण होगा, यह जानने का अधिकार है। आज धर्माधर्म के विषय में अन्धश्रद्धाजाड्य ही पर्याप्त नहीं। तर्क से अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। मनु ने भी कहा है कि श्रद्धाजाड्य का अनुगमन मत करो! युक्तिपूर्वक विचार करो!

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

तर्क भी वेदशास्त्रविरोधी नहीं होना चाहिये। यहाँ 'वेदशास्त्राविरोधिना तर्केण' से मीमांसा का निर्देश है। तात्पर्य यही है कि जैमिनीयशास्त्र का परिशीलन करने वाला ही धर्माधर्म का ज्ञानी हो सकता है। वैसे कुछ सामान्य गमनागमनविषयक धर्म सर्वलोक के आचार में परिव्याप्त है तथापि उसके अनुशीलन की आवश्यकता है ही। आर्य बाहर से आये हैं, ऐसा कुप्रचार भारत को विखण्डित करने का षड्यन्त्र है।

आक्रामकों ने सनातन व्यवस्था को नष्ट करने का पूरा प्रयास किया है, यह किसी को अविदित नहीं है। आप जैसे धर्मनिरपेक्ष विचार वाले यदि हमारे मनीषी आचार्य भी होते तो आज कुमार्ग ही यहाँ दृष्टगत होता। आचार्यों की साधना का ही प्रभाव है कि भारत में वैदिक मार्ग है।

आज आवश्यकता है कि अन्यत्र भी धर्म के रहस्य को समझा जाय ताकि धर्मभ्रष्ट बौद्धादि के मार्गानुयायियों की आँखें खुलें और वे भी कल्याण की ओर अग्रेसर हों। हम किसी के साथ जोर जबरदस्ती तो नहीं कर रहे हैं। धर्म के मर्म का उद्घाटन इसीलिए कर रहे हैं कि हमारी वैदिकमार्गानुयायी जनता वेदविरोधियों के झाँसे में आकर धर्मभ्रष्ट न हो। इतने प्रयास से यदि धर्मभ्रष्ट बौद्धादि धर्ममार्ग में उन्मुख हों तो कोई आपत्ति नहीं। कभी भी कोई भी किसी के कल्याण में बाधक न हो, यह भी वैदिक धर्म है। इसीलिए तो हमारे ऋषिगण और उनके विचारों को आत्मसात् करने वाली मनीषिगणपरम्परा यदि ब्राह्मणादि के कल्याणमार्ग का मीमांसा से विविक्त रूप प्रस्तुत करके व्यवस्थापन करती है तो चाण्डाल के भी कर्तव्याकर्तव्य का विवेक करती है। चाण्डाल भी वैदिकमतानुगामी है, अतः आचार्यों ने उसका भी ध्यान रखा है। महानुभाव! आप सड़े हुए कोहड़े के समान इस प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पर तो दृष्टिपात अवश्य करें। सत्ता को प्राप्त करने के लिए बहुसंख्यकसमुदाय ही कृपा का पात्र हो रहा है। जिसके वोट से लाभ की सम्भावना नहीं वह उपेक्षित है। आज भी कई जातियाँ यायावर का ही जीवन जी रही हैं और आप लोग पद-प्रतिष्ठा के लिए अपनी आत्मा को भी बेच दे रहे हैं। आज आप लोग स्वार्थ के लिए वोटनीति का विकास कर रहे हैं। तात्पर्य यही है कि वोट की अधिक संख्या का प्रतिनिधित्व करने वाले आज चानी काट रहे हैं, जैसे आप। कोई भी शासनतन्त्र प्रजापालन और राष्ट्र की रक्षा के लिए होता है। आज के प्रजातान्त्रिक शासनतन्त्र में इन दोनों का अत्यन्त अभाव है। यह शासनतन्त्र आज किसी भी तुच्छहृदय धन-पद-प्रतिष्ठा के लोभी पुरुष के लिए स्वार्थसिद्धि का साधन बन गया है। मैं साक्षात् देख रहा हूँ कि कोई भी विधायक या सांसद पद प्राप्त करके आज हर्षोल्लासमहासागर के तरङ्गपुञ्ज में केलि कर रहा है। व्यक्त है, किसी के कल्याण की बात कोई नहीं सोचता। आप को इन सारी अधर्मनीतियों से देश को कोई ख़तरा

दिखायी नहीं दे रहा है। जीवनपर्यन्त भोगविलासों से नितान्त दूर अल्प-संसाधन मात्र से अपनी सारी जिन्दगी बिता देने वाले, अपौरुषेय अनादिगुरुपरम्परा से आज तक चले आ रहे वेदों के वास्तविक तात्पर्य को सारे मनुष्यों के कल्याण के लिए प्रकाशित करने वाले, महामनीषियों के न्याय- सङ्गत विचारों से आप को राष्ट्र खतरे में पड़ा दिखायी दे रहा है।

सत्ता-सुरा के आस्वाद के लिए वैदिकमार्गावलम्बी सनातनी जनता के हृदय में भेदनीति का संचार करके अभेद्य पारस्परिक विद्वेष बढ़ाकर वेद-विरोधियों के कुचक्रमय खेतों में उदीयमान विषलताओं को अपनी कुत्सित विचारधारा की खाद आप लोग डाल रहे हैं। क्या यह देश को विखण्डित करने का प्रयास नहीं है? आप भली भाँति यह जान लें कि न्यायपद्धति से युक्तायुक्त का विचार करके मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए यहाँ वास्तविक अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग को प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे भारत राष्ट्र की अखण्डता-एकता भी दृढ़ रहेगी। यह विचार मेरा न होकर आचार्यों का है जिनके हृदय में सांसारिक लिप्सा का लेश भी नहीं है। पदे-पदे जो लोग धनप्रतिष्ठा आदि के लिए अपने तथाकथित सिद्धान्तों से समझौता करके अनीतिकल्लोलिनी में अवगाहन कर रहे हैं उनकी औकात ही क्या है कि वे सनातनपद्धति की आलोचना करें। बस वे विभेदनीति का जहर अपनों में ही फैलाकर वेदमार्गविरोधियों की इष्टसिद्धि करें। इससे ज्यादा और क्या कर सकते हैं। मैं अपना कार्य कर रहा हूँ। मुझे करने दें!

बुद्धादि के वेदाविरोधी उपदेशों के अप्रामाण्य की स्थापना

पूर्वोक्त भाष्यमत से सन्तोष न पाकर वार्तिककार प्रथम सूत्र से पूर्व पक्ष उपस्थापित करते हैं कि जो बुद्ध, जिन, ईसा-मोहम्मदादि के उपदेश वेदविहित धर्म को बाधित नहीं करते अथवा जिनके जिन उपदेशों से शिष्टों को कोप नहीं होता, जैसे विहार-आराम-मण्डल-मस्जिद आदि का निर्माण, वैराग्य-ध्यानाभ्यास-अहिंसा-सत्यवचन-दम-दान-दया आदि, उनका प्रमाण से कोई विरोध नहीं। अतः बुद्धादि के द्वारा भाषित उन सभी का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्त होगा—

न। शास्त्रपरिमाणत्वात्।

अर्थात् वेदाविरुद्ध भी बुद्धादिकों के वचन धर्म में प्रमाण नहीं होंगे। क्यों?

शास्त्रपरिमाणत्वात् = परिमितशास्त्रैरेव धर्माधर्मयोरवगम्यमानत्वात्।

अर्थात् वे शास्त्र परिमित (सीमित) ही हैं जिनसे धर्माधर्म का बोध होता है। वे शास्त्र हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति आ० ३)

इस स्मृति के द्वारा चतुर्दश विद्यास्थानों का ही स्मृत्यधिकरण में प्रामाण्य उपपादित है। इनके अन्तर्गत बुद्धादिभाषित त्रिपिटक, बाइबिल-कुरान-हदीस आदि नहीं आते। अतः ये सब धर्माधर्म में प्रमाण कैसे हो सकते हैं? अपि च—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव तु॥

इस स्मृति से पूर्व के साथ गणना करने पर अठारह विद्यायें ही धर्माधर्मज्ञानोपयोगिनी सिद्ध होती हैं। 'अष्टादशैव तु' यहाँ पर 'एव तु' इन दो शब्दों के द्वारा अठारह संख्या से अतिरिक्त संख्या का निराकरण किया गया है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र, इन चारों का भी धर्म में उपयोग है। याग के लिए आज्यावेक्षण आदि की सिद्धि नेत्रादि अङ्गों की निर्मलता से ही सम्भव है। अङ्गनैर्मल्य में चिकित्सा के द्वारा आयुर्वेद उपयोगी है। राजसूय, अश्वमेघ आदि यागों में दिग्विजय की विधि है जो धनुर्वेद से ही सम्भव है। महाव्रत आदि यागों में नृत्यगानादि का विधान है जिनका सम्पादन गान्धर्वविद्या से ही सम्भव है। धन के बिना धर्मानुष्ठान सम्भव नहीं, अतः धनार्जनहेतु अर्थशास्त्र भी धर्मोपयोगी है। ऋषिप्रणीत इन शास्त्रों के द्वारा ही स्वास्थ्यादि की प्राप्ति होने से किया गया धर्म फलदायक होगा, अन्यथा नहीं। न्याय से उपार्जित धन होना चाहिये तभी उसके द्वारा किया गया धर्म अभ्युदय-निःश्रेयस का हेतु होगा। ऋषिप्रणीत वेदानुमोदित अर्थशास्त्र ही तथाविध धनार्जन में सहायक है। अतः आधुनिकों के द्वारा सुस्थापित न्यायविरुद्ध सारी व्यवस्थाओं का तिरस्कार करना चाहिये, यह बात वेदशास्त्रों से ही सिद्ध होती है। आज जिस तरह से नेता-अधिकारी आदि धन कमा रहे हैं उससे पापार्जन ही सम्भव है, पुण्यार्जन नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परिगणित शास्त्रों से ही धर्माधर्म का बोध सम्भव है। परिगणितों से बाह्य ग्रन्थ सर्वथा धर्माधर्म में प्रमाण नहीं। कहते ही हैं वार्तिककार—

परिमितान्येव हि चतुर्दश अष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्मप्रमाणत्वेन शिष्टैः परिगृहीतानि वेदोपवेदाङ्गोपाङ्गाष्टादशधर्मसंहितापुराणशास्त्रशिक्षादण्डनीतिसंज्ञकानि। न च तेषां मध्ये बौद्धार्हतादिग्रन्थाः स्मृताः गृहीता वा। (तन्त्रवार्तिक)

तात्पर्य यही है कि बौद्धों के जैनियों के तथा तत्पृष्ठपाती अन्य वेदविरोधियों के ग्रन्थ पूर्वोक्त परिगणित शास्त्रों के मध्य में नहीं आते और न ही शिष्टों के द्वारा परिगृहीत हैं। किसी भी पौरुषेय रचना को तभी प्रमाणरूप में स्वीकार किया जाता है जब उसे शिष्ट ग्रहण करें। जिसे शिष्ट ग्रहण नहीं करते वह निन्दनीय है, त्याज्य है। उपसंहार में वार्तिककार ने अत्यन्त सुस्पष्ट कर दिया है—

तस्माद् यान्येव शास्त्राणि वेदमूलानतिक्रमात्।
अवस्थितानि तैरेव ज्ञातो धर्मः फलप्रदः॥
यथैवान्यायविज्ञाताद् वेदाल्लेख्यादिपूर्वकात्।
शूद्रेणाधिगताद् वापि धर्मज्ञानं न संमतम्॥
तथातिक्रान्तवेदोक्तमर्यादाव्यवहारिणाम्।
संवादिष्वपि वाक्येषु नेष्यते धर्महेतुता॥
स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः।
कलौ शाक्यादय स्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् मूलभूत वेदों का अतिक्रमण न करते हुए जो शास्त्र अवस्थित हैं उनके द्वारा ही ज्ञात धर्म फलप्रद होता है। तात्पर्य यह है कि जो फल का साधन है वही धर्म है। मूलभूत वेदों का अतिक्रमण करके पाखण्डियों के द्वारा कपोलकल्पित ग्रन्थों से ज्ञात पदार्थ धर्म ही नहीं है। उसे धर्माभास ही कहेंगे। सर्वथा विपरीत, बुद्धादिप्रदर्शित, मार्गों से पदे पदे अनिष्ट ही होगा। जिस तरह न्यायभिन्न पद्धति से ज्ञात वेद के द्वारा, लेखादि माध्यम से ज्ञात, तथा शूद्र के द्वारा ज्ञात वेद से भी धर्म का ज्ञान इष्ट नहीं वैसे ही जिन्होंने वेदोक्त मर्यादा का अक्रिमण किया है ऐसे बुद्ध-महावीर, ईसा, मोहम्मद आदि के वाक्यों में कहीं पर यदि वेद का सादृश्य भी परिलक्षित हो तो भी

उन्हें धर्म का कारण नहीं माना जायेगा। पुराणों में ये सभी कलियुग में धर्म के नाश के हेतु कहे गये हैं, अतः इन पाखण्डियों के वाक्यों को सुनने में कौन शिष्ट व्यवस्थित होगा?

इसीलिए वेदविहित कर्मों के अनुरूप होते हुए भी दृष्टार्थापत्ति के बल से कल्पित धर्माभास के मध्य में आये, सन्मूलक होकर भी इनके अहिंसादि आचार कुत्ते के चमड़े में रखे दूध की तरह अनुपयोगी और अविश्वसनीय ही हैं। इनका आचार जब तक परिगणित अठारह विद्याओं से उपलब्ध नहीं होता तब तक वह ग्राह्य नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि जब वेदादिशास्त्रों से ही सुस्पष्टरूप से अहिंसादि का ज्ञान हो जा रहा हो तो अन्य बुद्धादि का वचन उस अर्थ में निरर्थक ही होगा। अत एव परिगणित वेदादिशास्त्रों से अतिरिक्त मूल वाला बुद्ध-आर्हतादि-मार्ग धर्मप्रमाण के रूप में अनपेक्षित ही रहेगा।

कुप्रचार का विखण्डन

स्वतन्त्रता के पूर्वकाल से ही ईसाईसमुदाय और तदनुगामी धर्मनिरपक्षता के पुजारियों के द्वारा जनता के बीच में मिथ्या प्रचार किया जा रहा है कि आर्य बाहर से भारत में आये और वैदिक मार्ग विकसित किये। यहीं की मिट्टी से पैदा हुए बुद्ध और जैनियों के तथाकथित तीर्थङ्करों ने वैदिक धर्म में परिव्याप्त मिथ्या कुरीतियों का विरोध करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित किया। उनके द्वारा परमधर्मत्वेन अहिंसा-सत्य-अस्तेय-अपरिग्रह आदि को व्यवस्थित किया गया और पशुहिंसा आदि का खुला विरोध किया गया। इन्हीं महापुरुषों द्वारा प्रदर्शित धर्म का प्रभाव ईसा-मोहम्मद के ऊपर भी पड़ा और कालान्तर में वैदिक धर्म भी उनसे प्रभावित हुआ, फलतः अहिंसानुगामी भक्तिप्रवण वैष्णवधर्म का उदय हुआ। इस प्रकार बुद्ध के प्रभाव से वैदिक धर्म की कुरीतियाँ दूर हुईं और ब्राह्मणों का धर्म पर एकाधिकार ध्वस्त हुआ। बुद्ध और जैनधर्म के तीर्थङ्करों ने ब्राह्मणों के एकाधिकार को कड़ी चुनौती दी और वास्तविक सत्य-अहिंसादि धर्मों का प्रचार किया। बौद्ध-जैन धर्म के अनुयायी राजा भी होने लगे। इस प्रकार विशेषतः बौद्ध धर्म वैदिक धर्म की रूढ़िगत मान्यताओं पर कुठाराघात करके भारत में ही नहीं पूरे एशिया महाद्वीप तक फैला। सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों को ऊर्जा भी मिली।

भारत को विखण्डित करने वालों का यह अज्ञानप्रयुक्त कुत्सित प्रयासमात्र है। पूर्वोक्त न्यायों से ही ये सारी बातें उसी तरह ध्वस्त हो जाती हैं जैसे आज की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था से भारतीयता ध्वस्त की जा रही है। आधुनिक भारत के जन्मदाता पं० जवाहरलाल की भी यही वकवादिता है। उनके समाधिस्थल पर लिखा है कि मेरी अस्थिसन्ततियों को किं वा जलने से बचे हुए अवशेषों को प्रयाग में त्रिवेणी के प्रवाह में विसर्जित कर दिया जाय। इसलिए नहीं कि पवित्र तीर्थ वह है या गङ्गा से संस्पृष्ट होने से मैं तर जाऊँगा। इसलिए कि गङ्गा के माध्यम से मेरा अवशेष सागर में पहुँच जायेगा। वैदिक धर्म पर मेरा कोई विश्वास नहीं है। कोई धर्मनाम की यहाँ चीज नहीं। यह सभी कुरीतियाँ हैं जो समाज में फैल गयी हैं। ऐसा ही अभिप्रायविशेष उनके समाधि पर प्रस्तर खण्ड में उट्टङ्कित है। इस भारतवर्ष का दौर्भाग्य ही कहा जायेगा कि ऐसे प्रचण्ड नास्तिक के हाथ में भारत की सत्ता आयी जिसके फलस्वरूप भारतीय धर्म किं वा मनुष्यधर्म को तिरस्कृत करने की एक परम्परा सी च पड़ी। आज किसी भी धर्मनिरपेक्ष नेता की राजनीति वेदशास्त्रादि और वैदिक धर्म के विरोध पर ही चल रही है। कोई भी राजनेता बुद्धादि पाखण्डियों के कपोलकल्पित ग्रन्थों के विरोध में खड़ा नहीं हो रहा है। उन्हें तो सबसे सरल वेदादि शास्त्र ही दिखायी दे रहा है जिसे वे जला देने की बात सरेआम कर रहे हैं। जनता भी उनके षड्यन्त्र पर ध्यान न देकर उन्हें परिपुष्ट करने में ही तुली हुई है और आपस में द्वेष करने लगी है। इसका पूरा लाभ चालाक नेता ले रहा है। इन मूर्खों को इतना नहीं मालूम कि वेदों से क्या बचा है जिसे बुद्धादि व्यवस्थित करेंगे। वेदों का उपबृंहण ही महाभारतादि स्मृति-पुराण हैं। महाभारत में कहा गया है—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥" जो यहाँ है वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं वह कहीं नहीं। जनता को विश्वास में लेने के लिए ही कुछ वेदोक्त धर्मकञ्चुक का सहारा उन लोगों ने लिया है। वेदस्मृतिपुराणों में अहिंसादि सकल धर्मों का असकृत् प्रतिपादन है। वेदमूलक स्मृतिग्रन्थों में अलग प्रायश्चिताध्याय ही है जिसमें हिंसा-असत्यभाषण-चोरी-व्यभिचार-सुरापान आदि अधर्मों के अनुष्ठानजन्य दुरित के शमन के लिए प्रायश्चितों का विधान है। यह प्रायश्चित विधान ही अहिंसादि धर्म को सुव्यवस्थित कर रहा है। मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि,

सत्यमेव वदेत्, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, मलवद्वाससा न संवदेत्, न सुरां पिबेत् इत्यादि साधारणधर्ममूलक अनेक वैदिक वचन प्रत्यक्ष उपलब्ध हैं। इन सारे धर्मों को चुनौती देने की औकात किसी में भी नहीं है। कुछ वर्णाश्रमधर्म, जो विशेष हैं उन्हीं की आलोचना करके वर्णाश्रम को आक्षिप्त करते हुए वेद को ही आक्षिप्त करने का प्रयास बुद्धादि कुमार्गियों ने किया है। जिनके यहाँ धर्म की परिभाषा ही नहीं है उनकी धर्माधर्म के विषय में औकात ही क्या है कि वे अलग से धर्माधर्म की व्यवस्था करेंगे। वेदमार्ग के अनुगामी हमारे ऋषियों ने धर्माधर्म की परिभाषा प्रस्तुत की है जिसका विस्तृत विवेचन पहले ही कर दिया गया है। अतः यह कहना कि आर्य बाहर से आकर यहाँ वेद लिखे और वैदिक धर्म विकसित हुआ, यह अपार मूर्खता का ही द्योतक है। जब विस्तार से आक्षेपों का समाधान करके वेदों के प्रामाण्य को व्यवस्थित कर दिया गया तब इस प्रकार की बातें स्वयम् ही ध्वस्त हो जाती हैं। वैदिक मार्ग पुरुष की बुद्धि की उपज हो ही नहीं सकते। धर्म में त्रयी विद्या की अन्तरङ्गता है। शान्ति-पौष्टिक आदि कर्मों में अथर्ववेद भी अपेक्षित है। वेदों की अनेक शाखायें आज भी गुरुपरम्परा से संरक्षित चली आ रही हैं। उनकी सुरक्षा और अर्थों की सुव्यवस्था के लिए षडङ्ग और प्रातिशाख्य तथा षड् दर्शन सन्नद्ध हैं। ज्योतिष्टोमादि विशेषधर्मों में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद नितान्त अपेक्षित हैं। धर्मों के साङ्ग विधान में ब्राह्मणभाग जैसे तत्पर हैं वैसे ही पदार्थस्मरण में संहिता भाग में आये ऋक्, यजुः और साम के प्रकारों से उपलक्षित मन्त्र भी यथाम्नान व्यवस्थित हैं। अनादिकाल से उनकी परम्परा कहीं भी परिवर्तित न होती हुई अच्छिन्न ही है। इन सारे प्रकारों से सुसज्जित दर्शपूर्णमास से लेकर अहीन-सत्र-यागों-पर्यन्त जो वेदमात्रसमधिगम्य धर्म स्थाणु की तरह फलसिद्धि में अचल है उसे देवता भी विकम्पित करने में असमर्थ हैं। बुद्धादि धर्मद्रोहियों की औकात ही कितनी है। इन धर्मों के अनुष्ठान की योग्यता के सम्पादन में ही जन्म से पहले ही लगना पड़ता है। गर्भाधानादिसंस्कारपूर्वक व्रतधारण के साथ विधिवद् वेदमीमांसादि सकल शास्त्रों की गुरुमुख से प्राप्ति आवश्यक है। ततः अग्न्याधान संस्कार, फिर दीक्षाक्रम। एवमेव अन्यान्य नियमों का अनुष्ठान भी अपेक्षित है।

न्यायपूर्वक अर्जित धन हो तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों की अनुष्ठान-व्यग्रता और निषिद्ध कर्मों का हृदय से परित्याग। हमारे अधिकारी विद्वान्, विश्वजिदादि यागों के माध्यम से सर्वस्व दक्षिणा देते आये हैं। नित्य निष्कपट विधिपूर्वक दान की धारा तो चलती रहती है। किं बहुना, अदृष्ट-विशेष से प्राप्त धन को ये सत्पात्रों में वितरण के योग्य ही समझते हैं। ज्योतिष्टोम, अहीन, सत्रादि में दीक्षत महापुरुषों का जीवन कल्पनातीत ही दृष्टिगत रहा है। वास्तविक तपस्या यही है जिसमें प्रदर्शन का लेश भी नहीं। धन्य है आज यह भारतवर्ष जहाँ ऐसे मनीषियों के द्वारा संरक्षित वेदादिशास्त्र और तद्बोधित त्रिकालाबाध्य धर्म की परम्परा चली आ रही है। सीमित संसाधनों द्वारा त्यागपूर्वक जीवन-यापन करते हुए अरण्यवासी मुनि जनों से न्यायों के माध्यम से व्याख्यात सनातन धर्म कुरीति है, ऐसा कहने वाले यशप्रतिष्ठा-धनादि के लोभियों की जिह्वा कट क्यों नहीं जाती। 'मनुवाद' की आलोचना करते हुए ये नरपिशाच आज वैदिक धर्मावलम्बिनी ब्राह्मणादि चाण्डालान्त जनता को गुमराह करके क्या कर रहे हैं, यह किसी के लिए अविदित नहीं है। राष्ट्रकल्याण के नाम पर अर्जित जनता की सम्पत्ति का खुलेआम दुरुपयोग कर रहे हैं। भारत के प्रत्येक नगरों में उनकी अचल संपत्ति व्यवस्थित हो जा रही है। उनके दूर तक के दरिद्र रिस्तेदार देखते-देखते करोड़पति हो जा रहे हैं। उनकी द्रव्यराशि अरबों की संख्या में किसी वैदेशिक कोषालयों में जमा हो जा रही है। ये हरामखोर अनुवाद के नाम से पूर्वोक्त धर्मों की आलोचना कर रहे हैं और जनता सोई हुई है। जनता की आँखों में काली पट्टी लगी हुई है। राजसम्पत्ति गुरुपत्नी के समान होती है जिसका उपयोग जनता के हित में ही होना चाहिये। उसका गमन करने वाला मन्त्री गुरुपत्नीगामी जैसा ही महापातकी है। किसी कवि ने कहा ही है—

गुरुजाया जैसी नृपसम्पद् उसका जो मन्त्री करे गमन।
उस गुरुतल्पग का निश्चय ही राजा दुजिह्वत् करे दमन॥

इन सारी बातों से यही सिद्ध होता है कि वास्तविकता से आँखें मूँद कर पूर्वोक्त प्रकारों से धर्मनिरपेक्षतावादी का कुप्रचार स्वार्थसिद्धि का साधनमात्र है। अवश्य ये षड्यन्त्र करके इस राष्ट्र के अस्तित्व को समाप्त कर देना चाहते हैं। जनता को इनके कुप्रचार के भ्रम में नहीं आना चाहिये

और अपनी एकता कायम रखनी चाहिये। वेदादिशास्त्रों के आलोचकों के मुख पर जूता मारने के लिए ब्राह्मणादि चाण्डालान्त सकल सनातन जनता को एक हो जाना चाहिये। यह भी सनातन धर्म ही है।

तृतीय सूत्र से वार्तिककारीय आचारप्रामाण्यव्यवस्थापन

दो सूत्रों से वेदबाह्य ग्रन्थों के अप्रामाण्य का प्रतिपादन करके वार्तिककार—

'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्' इस तृतीय सूत्र से शिष्टाचारों के प्रामाण्य की व्यवस्था की है। कैसे सन्देह हुआ? शिष्ट कहीं वेदमार्गविरोधी संकीर्ण-व्यवहार भी करते हैं। इस प्रकार उनके आचारों में अविश्वास और वेदमूलकता की भी सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार आचारविषयक धर्म में संशय खड़ा हो जाने पर स्मृत्यधिकरण के—'धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्' इस पूर्वपक्षीय सूत्र से और विरोधाधिकरण के-'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' इस सिद्धान्त सूत्र से पूर्वपक्ष अर्थात् आक्षेप प्रस्तुत होगा। तात्पर्य यह है कि धर्म वेदमूलक ही होता है अतः जिन आचारों के मूल में वेद नहीं उनका अप्रामाण्य ही होना चाहिये। अपि च, प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध होने पर भी अप्रामाण्य दृढ़ ही रहेगा।

आचारों के प्रामाण्य का आक्षेप

सदाचारों के विषय में धर्म का व्यतिक्रम देखा गया है। प्रजापति, इन्द्र, वशिष्ठ, विश्वामित्र, युधिष्ठिर, कृष्णद्वैपायन, भीष्म, धृतराष्ट्र, वासुदेव, अर्जुन आदि गणमान्य शिष्ट महापुरुषों में और आज के कई लोगों में धर्मव्यतिक्रम किसी के लिए अविदित नहीं है। इनका साहस लोकविश्रुत है। तथा हि—

'प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरम्' इस वचन से प्रजापति का स्वकन्यागमनरूप धर्मव्यतिक्रम है। इन्द्र और इन्द्रपद पर आसीन नहुष के परिस्त्रीसन्नियोग से धर्मव्यतिक्रम सुना ही जाता है। वशिष्ठ का शोक से आतुर होकर आत्महत्यारूप धर्मव्यतिक्रम और पुरुरवा का उर्वशी के शोक में कातर होकर वैसा ही धर्मव्यतिक्रम हुआ। इसी प्रकार क्षत्रिय होने से आर्त्विज्य में अनधिकारी विश्वामित्र का अनधिकारी चाण्डाल का यज्ञ

कराना भी धर्मव्यतिक्रम है। जिसने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया है, उनका अपने व्रत से च्युत होना अर्थात् स्त्रीसम्पर्क करना महापातकों में परिगणित है। कृष्णद्वैपायन नैष्ठिक व्रत वाले थे तथापि वे अपने अनुज विचत्रवीर्य की पत्नियों में पुत्रोत्पादन किये, यह उनका महान् धर्मव्यतिक्रम हुआ। भीष्म का सर्वाश्रमधर्म से भिन्नतया रहना और एकाकी यागादि धर्मों का अनुष्ठान करना भी धर्मव्यतिक्रम ही होगा। इसी प्रकार अन्धे धृतराष्ट्र का यज्ञ करना और पाण्डु के द्वारा अर्जित धन से धर्म करना भी धर्मव्यतिक्रम है। युधिष्ठिर का कनिष्ठ भ्राता से अर्जित द्रोपदी के साथ विवाह करना तथा आचार्य ब्राह्मण के वध के लिए झूठ बोलना भी धर्मव्यतिक्रम ही है। वासुदेव कृष्ण और अर्जुन, इन दोनों का अपनी मामा की कन्या रुक्मिणी और सुभद्रा से विवाह करना धर्मव्यतिक्रम ही है क्योंकि मामा की कन्या से विवाह करना स्वभगिनी के साथ विवाह की तरह ही गर्हित है। जैसा कि कहा गया है—

मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रान्तथैव च।
समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

अर्थात् मामा की कन्या तथा मातृगोत्र की कन्या एवम् समानप्रवरीय कन्या से यदि भूलवश विवाह हो भी जाय तो उसे त्यागकर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। कहीं पर तो मातृवत् पालन के लिए भी निर्देश है—

भोगतस्तां परित्यज्य पालयेज् जननीमिव॥

एवमेव कृष्ण, बलराम और अर्जुन का सुरापानात्मक अधर्माचरण भी धर्मव्यतिक्रम है। आज के लोगों में भी अधिकायत धर्मव्यतिक्रम देखा जा रहा है। तथा हि—अहिच्छत्र-मथुरानिवासी ब्राह्मणी का सुरापान। उदीच्य लोगों में घोड़े, खच्चर, गदहे और दोनों ओर दाँतवाले पशुओं का दान, प्रतिग्रह, क्रय-विक्रयव्यवहार और पत्नी-पुत्र-मित्रों के साथ भोजन करना आदि आचार हैं जो अधर्म की कोटि में ही आयेंगे। एवमेव दाक्षिणात्यों में मामा की कन्या के साथ विवाह और मचिया (कुर्सी) पर बैठकर भोजन आदि धर्मव्यतिक्रम देखा जा रहा है। उदीच्य और दाक्षिणात्य दोनों में मित्रस्वजनों से उच्छिष्ट एवम् संस्पृष्ट भोजन, सारे वर्णों से परस्परस्पृष्ट ताम्बूलचर्वण, ताम्बूलचर्वण के अन्त में आचमन का अभाव, धोबी से धुलकर गदहे पर लादे हुए वस्त्रों का परिधान आदि आचार धर्मव्यतिक्रम में

ही आयेगा। अतिस्थूल प्रत्येक पुरुषों की जातियों में अवस्थित सूक्ष्म स्वधर्म का अतिक्रमणरूप धर्मव्यतिक्रम तो अनन्त हैं। इन सारे आचारों में धर्म का निश्चय होना कथमपि शक्य नहीं। अपि च—

गुर्जर में ब्राह्मणों के द्वारा लशुनभक्षण, सन्यासियों में गाजररस का पान, यतिवृन्दों का भोगवैभवसञ्चय और हर जाति से, महिलाओं से प्रभूत धन का परिग्रह, सर्वाधुनिकसुविधासामग्री से परिपूर्ण एयरकण्डीशन व्यवस्था से सम्पन्न भवनों में निवास, नूतनविलासविलसित अङ्गनाओं के द्वारा आश्रमों की सेवाव्यवस्था, पदे-पदे यानों का परिवर्तन, ब्राह्मणातिरिक्त वर्ग का साधुदीक्षाग्रहण तथा सर्वजनसमुदाय से स्वीयपादवन्दन, गुर्जर में विशेषतः ब्राह्मणातिरिक्त शूद्रादिकों का आचार्यपीठग्रहण तथा स्वीय भक्तजनों में श्राद्धादि वैदिक कृत्यों का कुरीति के रूप में व्यवस्थापन, मृतकनिमित्तक धन का स्वामिनारायणमन्दिर में परिग्रह, ब्राह्मणातिरिक्त जनों का साधुवेश में धर्मोपदेश तथा धर्मप्रचारार्थ विदेशगमन और वहाँ से प्रभूत भोगसामग्री का आनयन, कुछ वर्गविशेष के साधु अड़गड़ानन्दादिकों के द्वारा धर्मग्रन्थों का शास्त्रविरुद्ध परम्पराविरुद्ध छिछला व्याख्यान, भारतीय मर्यादाओं का हनन, विद्यानिवासादि जैसे पङ्क्तिपावनों का विशेषप्रयोजन-निमित्तक म्लेच्छदेशगमन, वहाँ से लौटकर प्रायश्चित्तादि का अभाव तथा तदनुयायिज्ञाति के द्वारा समाजबहिष्कृत न होना और उनके द्वारा किया जाने वाला पादप्रक्षालनपूर्वक पादवन्दन एवम् तदीयमहत्त्वख्यापन, अपि च, शास्त्रीय गोष्ठी में भी उनका शास्त्रविरुद्ध कपोलकल्पित व्याख्यान आदि, विशिष्टपदासीनों द्वारा स्वकीयपद का दुरपयोग तथा अयोग्यों का विशिष्ट पदों पर स्थापन, रिटायर्ड ब्राह्मण बन्धुओं द्वारा आधुनिकस्वीयपुत्रनिमित्तक एडवांस कन्याओं का नखशिखपर्यन्त सकौतुक निरीक्षण, महिलाओं का वैतनिक पदों पर नियोजन, शास्त्रीयविषयाध्यापनहेतु आधुनिक महिलाओं की नियुक्ति, महिलार्जित धन का पुरुषकर्तृक उपयोग, वामाचार का विस्तार, शास्त्राचार का तिरस्कार, प्रतिष्ठित पीठों पर आचार्यों का पारस्परिक कलह, द्रव्यार्जनहेतु नूतनपीठनिर्माण और उस पर अयोग्यों का अभिषेक, पीठाचार्यों की बद्धमुष्टिता एवम् दानादि धर्मों से उनकी विरति, शास्त्रीय परम्परा का दण्डियों में ह्रास और वहाँ प्रपञ्च का आकाशवत् विस्तार, शिष्टजनों का तिरस्कार और वेदप्रदूषण, वैदिक बनकर

आर्यसमाजियों का अधर्मविषयक अकाण्डताण्डव, स्त्रीकर्तृकगायत्रीजप शूद्रकर्तृकहवनादिव्यवहार, पारस्परिकव्यभिचार आदि धर्मव्यतिक्रम भारत में ही सर्वत्र दिखायी दे रहा है। ऐसी अवस्था में आचार का धर्म में प्रामाण्य कैसे सम्भव है? अपि च, अन्योन्याश्रय दोष होने पर भी शिष्टाचारप्रामाण्य का निर्णय सम्भव नहीं। कौन शिष्ट हैं? उत्तर में होगा जो सदाचार सम्पन्न हैं। सदाचार क्या है? उत्तर में होगा जो शिष्टों का आचार है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयता की प्रसक्ति होगी ही।

सदाचार के प्रामाण्य को मन्वादि ने भी कहा है। कहा भी है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

आचार के अतिरिक्त आत्मतुष्टि को भी धर्म में प्रमाण स्मृतियों में कहा गया है। यह उचित नहीं, क्योंकि आत्मतुष्टि भी अनवस्थित है। आशय की विचित्रता से यथाभ्यास शुभाशुभहीन क्रिया के अनुष्ठान करने वाले लोगों की आत्मतुष्टि भी विचित्र ही होती है। वार्तिककार ने इसका सुस्पष्ट निरूपण किया है—

कस्यचिज् जायते तुष्टिरशुभेऽपीह कर्मणि।
शाक्यस्येव कुहेतूक्तिवेदब्राह्मणदूषणे॥
पशुहिंसादिसम्बन्धे यज्ञे तुष्यन्ति हि द्विजाः।
तेभ्य एव हि यज्ञेभ्यः शाक्याः कुप्यन्ति पीडिताः॥
शूद्रान्नभोजनेनापि तुष्यन्त्यन्ये द्विजातयः॥
स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति।
अन्ये सव्यलीकेन मनसा तन्न कुर्वते॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् किसी की तुष्टि अशुभकर्म में ही होती है जैसे बौद्धों की तुष्टि कुत्सित हेतुओं के द्वारा वेद और ब्राह्मणों की निन्दा में होती है। पशुहिंसा से युक्त यागों में द्विज सन्तुष्ट होते हैं तथा उन्हीं यागों से पीडित बौद्ध कुपित होते हैं। कुछ द्विज शूद्रान्न भोजन से भी सन्तुष्ट होते हैं। दाक्षिणात्य अपने मामा की कन्या से विवाह करके परम तृप्त होते हैं वही अन्य उत्तर के लोग वैसी बात मन में भी लाना पाप समझते हैं। इस प्रकार व्यवस्था न होने से 'आत्मन स्तुष्टिरेव च' इस मनुवचन का अन्यथा अर्थ करना चाहिये। आचार के विषय में भी वही नीति अपनानी चाहिये।

स्मृतिकारों को जब स्वयम् ही मूल का पता नहीं तो शिष्टाचारों का प्रामाण्य कहते हुए वे सुशोभित नहीं होते।

पूर्वोक्त आचारों का मूल कथमपि श्रुति नहीं हो सकती। यदि अप्रत्यक्ष श्रुति मूल है, यह कहोगे, तो भी उसका स्मरण होना चाहिये। इस प्रकार यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि निर्मूलतया शिष्टाचार अनपेक्षणीय अर्थात् अप्रमाण हैं।

सिद्धान्त

एवम् आक्षेप होने पर भगवान् जैमिनि यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्।

इसकी व्याख्या वार्तिककार एक श्लोक से करते हैं—

दृष्टकारणहीनानि यानि कर्माणि साधुभिः।
प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् धर्मत्वेनेह तान्यपि॥

क्या सुन्दर प्राञ्जल व्याख्यान है। साधुओं के द्वारा लोभादिदृष्ट कारणों से रहित, धर्मबुद्धि से जो भी कर्म प्रयुक्त हैं वे धर्म ही मानें जायेंगे। तात्पर्य यह है कि शिष्टों के सारे आचार धर्म नहीं हैं। किन्तर्हि? धर्मबुद्धि से आचर्यमाण आचार ही धर्म हैं। शिष्ट यदि धर्मबुद्धि से कोई काम करें तो वह धर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकता। यदि वे लोभादिहेतु से कोई काम करते हैं तो उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। शिष्टों की भी उसमें धर्मत्वेन मान्यता नहीं है। वार्तिककार स्पष्टीकरण में ऐसा कहते ही हैं—

शरीरस्थितये यानि सुखार्थं वा प्रयुञ्जते।
अर्थार्थं वा न तेष्वस्ति शिष्टानामेव धर्मधीः॥
धर्मत्वेन प्रपन्नानि शिष्टै र्यानि तु कानिचित्।
वैदिकैः कर्तृसामान्यात्तेषां धर्मत्वमिष्यते॥

शरीरपोषणहेतु, सुख के लिए आहोस्वित् धन के लिए जो कोई भी आचार प्रयुक्त होता है उसमें शिष्टों की ही धर्मत्वबुद्धि नहीं है, अर्थात् शिष्ट भी उसे धर्म के रूप में नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार विश्वामित्र का चाण्डालयाजन भी शिष्टविगर्हित होने से धर्म नहीं कहा जायेगा। स्पष्टरूप से इस विषय में वाल्मीकि ने ही विरोध का ध्वज बुलन्द किया है—

क्षत्रियो याजको यस्य चाण्डालस्य विशषतः।
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः॥

अर्थात् क्षत्रिय विश्वामित्र विशेषतः चाण्डाल के जिस यज्ञ में याजक हों वहाँ देवता और ऋत्विक् ऋषिगण हवि का भक्षण कैसे कर सकते हैं। अर्थात् वह यज्ञ किसी काल में भी पूर्ण नहीं हो सकता। एवम् आधुनिकों का जो भी शास्त्रविरुद्ध आचार पूर्व प्रदर्शित किया गया है, मातुलकन्या-सम्बन्धी विवाह आदि, वह कथमपि धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता। क्यों? क्योंकि उन आचारों के मूल में शरीर का पोषण, सुखलाभ और धनलाभ आदि का लोभ ही है। गुजरात के ब्राह्मणों द्वारा लशुनभक्षण, माथुर ब्राह्मणी द्वारा सुरापान शरीरपोषण के लिए ही होगा, धमार्थ नहीं। इसी तरह अड़गड़ानन्दादि का शास्त्रविरुद्ध आचरण और न्यायविरुद्ध शास्त्रविरुद्ध प्रवचन भी धनादिलोभ के कारण ही है तो वह कथमपि धर्म नहीं कहा जायेगा। स्वामिनारायणसम्प्रदाय में मृतकनिमित्तक माहापात्रीय धन का अपहरण, भागवतादि का संकल्पपूर्वक-वाचन-प्रवचन, दक्षिणा-ग्रहण, विदेशगमन, राजस भोज़न, स्वकल्पित् आचार्यपीठ और उस पर पटेल साधु का आचार्यरूप से अध्याक्रमण, निजजनों का श्राद्धादि कृत्यों से च्युतीकरण, पाखण्ड का विस्तार, विदेशगमनादि भी धनप्रतिष्ठालोभ के ही कारण हैं तो वे धर्म क्यों कहे जायेंगे। एवम् अन्यत्र भी शूद्रों का आचार्य बनना धर्म नहीं होगा। पं० विद्यानिवासमिश्रजी का भी विदेशगमन धनादिलोभ के कारण ही समझना चाहिये। उनके ज्ञातियों और अनुयायियों द्वारा उनका समाज से बहिष्कार का न करना भी भाविलोभ के कारण ही है। एवम् अन्य भी आधुनिकों का आचार किसी न किसी लोभ के कारण ही है अतः वह धर्म में प्रमाण नहीं होगा। उन्हें दुराचार की ही संज्ञा प्राप्त होगी। अर्थात् सभी शास्त्रविरुद्ध आचरण वाले दुराचारी हैं। ऐसा शास्त्रदीपिका में भी स्पष्ट निर्देश है। मातुलकन्याप्रणयन भी दुराचार ही होगा, ऐसा वार्तिककार स्पष्ट कहते हैं। क्यों? लोभमूलक होने से। किसी के मातुल की कन्या अत्यन्त रूपवती रही होगी और उसके मामा के पास पर्याप्त धन भी रहा होगा। अतः किसी ने रूपवती कन्या और धन के लोभ में विवाह कर लिया तथा बाद में वही परम्परा चल पड़ी।

फिर कौन आचार ग्राह्य है? आह—शिष्टों के द्वारा जो कुछ भी धर्मबुद्धि से स्वीकार किया जाता है, उसे ही कर्तृसामान्यहेतु से धर्म कहते हैं। जैसे प्रदान, जप, होम, मातृयज्ञ, शुक्रध्वजमहायात्रा, देवतायतन-

महायात्रा, चारों वर्णों की कन्याओं द्वारा चतुर्थीदिन का उपवास, कार्तिक-शुक्लप्रतिपद् में प्रदीपदान कन्याओं द्वारा ही, मोदक-पूआ-पायस का दान, माघसप्तमी और पौर्णमासी में अनुष्ठेय कर्म, फाल्गुनी प्रतिपद् में वसन्त-हेतुक उत्सव, तुलसी, पीपल आदि स्थावर देवता का पूजन, गोग्रास, अन्यान्य पर्वों पर व्रत, तीर्थयात्रा, तीर्थस्नान आदि शास्त्र के बिना सम्भव नहीं, अतः ये आचार श्रुतिस्मृतिमूलक होने से धर्म हैं। जो लोग श्रुतिविहित कर्मों का नित्य अनुष्ठान करते हैं वे शिष्ट हैं। उनके द्वारा परम्परा- प्राप्त अन्य भी धर्मबुद्धि से क्रियमाण होते हुए धर्म में प्रमाण माने ही जायेंगे यदि वहाँ लोभादि हेतु का दर्शन नहीं है। अनादिता के कारण यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति नहीं होगी। स्मृतियों की भी प्रवृत्ति वेदमूल और आचारों के दर्शन से ही होती है।

यदि कोई न कोई हेतु दिखलाकर मूल वेद का निवारण करना कोई चाहे तो नहीं कर सकता क्यों कि वैसा हेतु प्रत्यक्षमूल वेद में भी सम्भव है। अतः यश-धन-लोभरूप ही हेतु ग्राह्य होना चाहिये। म्लेच्छों के आचार में शिष्ट त्रैवर्णिकों का कोप होने से वे आचार धर्म नहीं हो सकते। उपसंहार में वार्तिककार इस विषय का भी निर्देश कर देते हैं—

देवब्राह्मणपूजादि यत्तेषामपि किञ्चन।
तत्रेष्टमेव धर्मत्वं शिष्टाचारमतं हि तत्॥
लोके हि कश्चिदाचारः शिष्टत्वेन विशिष्यते।
कश्चित्तु प्राणिसामान्यप्राप्त स्तैरपि संगतः॥
तत्र यः कार्यरूपेण शिष्टानेवानुवर्तते।
स एव केवलो धर्मो नेतरः प्राणिमात्रगः॥

(तन्त्रवार्तिक)

म्लेच्छों की परम्परा में भी यदि देवपूजन, ब्राह्मणपूजन आदि आचार हैं तो उनका धर्मत्व अभीष्ट ही है क्योंकि वे शिष्टाचार के मत में ही आयेंगे। लोक में कोई आचार शिष्टत्व विशिष्ट होता है, अर्थात् कहीं-न-कहीं श्रुति-स्मृतिपरम्परा में वह उपदिष्ट ही रहता है। इन आचारों के प्रामाण्य में किसी प्रकार का विवाद रह ही नहीं जाता। कोई आचार प्राणिमात्र में ही दृष्टिगत होता है। उनमें जो आचार कार्यरूप से वेदोपदिष्ट का अनुसरण करता है वही धर्म माना जायेगा। प्राणिमात्र में दृष्टिगत आचार धर्म नहीं माना जायेगा। इस आचारप्रामाण्य के व्यवस्थापन से ही अनन्तधर्मविषयक ज्ञान से संस्कृत है

मन जिनका, ऐसे शिष्टों की मनस्तुष्टि भी प्रमाण मानी जायेगी। महाकवि कालिदास भी इसी तथ्य को आविष्कृत करते हैं—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

(अभिज्ञान शा०)

अर्थात् संदिग्ध वस्तु में सत्पुरुषों की अन्तःकरणप्रवृत्ति ही प्रमाण है।

ऐसा शिष्टों के प्रति क्यों पक्षपात स्वीकार किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना पर्याप्त है कि बाल्यकाल से ही वेद और तदर्थ के ज्ञान से संस्कृतमन वालों की बुद्धि बुद्धादिकों की तरह कुमार्ग में नहीं जा सकती। इन्हीं सारी बातों को लेकर ही कहा गया है—

यदेव किञ्चनानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति।

अर्थात् श्रोत्रिय वेदाध्यापक जो कुछ भी वितर्कणा करता है वह आर्ष (वैदिक) ही माना जायेगा। तात्पर्य यही है कि वैदिक वासना से उत्पन्न होने से वह वेद ही है। वार्तिककार सुष्पष्ट ही कर देते हैं—

यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वोज्ज्वलरुक्मभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत् स्यात् तथा भवेद् वेदविदात्मतुष्टिः॥

अर्थात् समुद्र के काष्ठ में या उज्ज्वल स्वर्णभूमि वाले सुमेरु में जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह तद्रूप ही होता है, वैसे ही वेदज्ञ की आत्मतुष्टि भी वेदमय ही होगी। अत एव धर्ममय चित्त वाले शिष्टों की धर्म से अच्युत जो कुछ भी आचार और आत्मतुष्टि है उसे वेदोक्त मानकर धर्मज्ञान के इच्छुकों को ग्रहण करना चाहिये।

बुद्ध-महावीर-ईसा-मोहम्मदादि वेदविरोधी हैं, अतः उनका आचार और उनकी आत्मतुष्टि निन्दनीय ही मानी जायेगी।

उदाहृत आक्षेपों का परिहार

प्रजापति और इन्द्र के विषय में जो धर्मव्यतिक्रम पूर्वपक्ष में प्रस्तुत किया गया है उसका समाधान श्रुतिसामान्य मात्र से हो जायेगा अर्थात् उक्त श्रुति का नित्य अर्थ स्वीकार कर लिया जायेगा। प्रजापति को प्रजापालन के अधिकार में आने से आदित्य ही कहा जायेगा। वह आदित्य अरुणोदय की बेला में उदित होता हुआ उषा (काल) को प्राप्त होता है। वह उषा भी आदित्य के आगमन से ही उत्पन्न होती है, इसलिए उसका आदित्यपुत्री के

रूप में व्यवहार होता है। उस उषा में अरुणकिरणरूप बीज का निक्षेप करने से स्त्री-पुरुष के उपयोग के समान गौण व्यवहार वेद में समझना चाहिये। 'अहल्यायां मैत्रेय्यामिन्द्रो जार (उपपति) आसीत्' यहाँ पर भी नित्यार्थपरत्व ही माना जायेगा। परमतेजःसम्पन्न परमैश्वर्य अर्थ वाले 'इन्द्र' पद का वाच्य अर्थ भी आदित्य ही होगा। अहनि लीयत इति अहल्या रात्रिः अर्थात् जो दिन में लीन हो जाती है उसे अहल्या कहते हैं। दिन में रात्रि का लय होता है। अतः रात्रि ही अहल्या कही जायेगी। उस रात्रि में जीर्ण होने से आदित्य को ही अहल्याजार कहा जायेगा न कि परस्त्रीव्यभिचार से। इस तरह विधि, जो धर्मावबोधन में साक्षात् प्रमाण है, के अनुरोध से अर्थवादों की सामान्यार्थ-परता स्वीकार की जाती है। यह अर्थवादाधिकरणन्याय से सिद्ध भी है। यदि यहाँ पर स्वार्थ में तात्पर्य मानकर अम्बेडकरादि धर्मनिरपेक्षतावादी अनर्गल प्रवाद करें तो उनकी महामूर्खता ही मानी जायेगी। इस प्रकार वेद-पुराण आदि में जो कुछ भी धर्मव्यतिक्रम के रूप में प्रतिभासित होता है उसका समाधान प्रस्तुत कर दिया गया।

नहुष ने भी इन्द्राणी की प्रार्थना की थी जिसके फलस्वरूप वे अजगर बहुत काल तक रहे। अजगर बनकर स्वयम् ही वे अपने दुराचार को प्रकट कर दिये। अत एव उनके उस आचार को कोई भी धर्म नहीं मानता। शची ने पतिभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया और नहुष का निराकरण भी किया। उनका वह महनीय प्रभाव का लाभ विख्यात है। तात्पर्य यही है कि किसी की पत्नी का परपुरुषनिराकरणरूप आचार धर्म ही होगा। इसी प्रकार वशिष्ठ का पुत्रशोक के कारण आत्महत्या का प्रयास धर्म नहीं होगा। पहले ही कह दिया गया कि जिसमें कोई निमित्त न हो वह धर्म है। वशिष्ठ के आचार में पुत्रशोक निमित्त है। वार्तिककार की इस विषय में उक्ति को उद्धृत कर देना आवश्यक है ताकि इस निबन्ध को कोई निर्मूल न समझे—

यो हि सदाचारः पुण्यबुद्ध्या क्रियते स धर्मादर्शत्वं प्रतिपद्येत। यस्तु कामक्रोधलोभमोहशोकादिहेतुत्वेनोपलभ्यते स यथाविधिप्रतिषेधं वर्तिष्यते॥ (तन्त्रवार्तिक)

इसका अभिप्राय ऊपर ही व्यक्त कर दिया गया है। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्य है। कृष्णद्वैपायन का भी माता के सम्बन्ध से भ्रातृपत्नी में पुत्रजनन पूर्वपश्चात्कृततपःप्रभाव से दुष्कर नहीं है। समर्थवान् के लिए शास्त्र की भी ऐसी अभ्यनुज्ञा है—

गुरुनियोगादपतिरपत्यलिप्सु र्देवरात् गुरुप्रेरितादृतुमतीमियात्

अर्थात् श्रेष्ठ लोगों की आज्ञा से पतिविहीन स्त्री पुत्र चाहने वाली गुरुप्रेरित देवर से सम्बन्ध बनाये। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्रेष्ठजन की अनुमति हो और वादरायण जैसा तप:प्रकर्ष भी हो तथा सम्बन्ध के मूल में पुत्र की इच्छा हो। इन सारी चीजों की कलियुग में अशक्यता होने से वर्जन है। कलिवर्ज्यप्रकरण की वार्ता आगे की जायेगी। तादृग् तप:प्रकर्ष वाला व्यक्ति आज सम्भव नहीं। यदि हो तो कर सकता है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा भी है—

अन्योऽपि यदि तादृक्तपोबलो निर्वहेत् स कुर्यादेव।

(तन्त्रवार्तिक)

एवं श्रीराम और भीष्म के द्वारा अपत्नीक याग के विषय में भी समझना चाहिये। श्रीराम के द्वारा भगवती सीता का परित्याग लोकापवाद के भय से ही था। न कि क्रूरता के कारण। इसीलिए तो अश्वमेध के सम्पादन के लिए सुवर्णमयी प्रतिमा बनायी गयी थी। फलत: मर्यादापुरुषोत्तम का अपत्नीक याग नहीं माना जायेगा। पितामह भीष्म की पितृभक्ति लोकविश्रुत है। पिता के आशीर्वाद से ही उन्हें इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त हुआ था।

प्रजा और धर्म के लिए पाणिग्रहण संस्कार होता है। भीष्म की प्रतिज्ञा प्रजा के लिए विवाह न करने की थी। फलत: धर्मार्थ विवाह उनका भी हुआ था। पुत्र के न होने पर भी भातृपुत्रों से उनका आनृण्य (पितृऋण से मुक्ति) समझना चाहिये। मनु भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

भातृणामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवान् भवेत्।
सर्वे तेनैव पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥

अर्थात् समानजात भाईयों में किसी एक के पुत्रवान् होने से सारे पुत्रवान् हो जाते हैं। भीष्म एकाकी याग कर भी नहीं सकते। उनकी मर्यादा का सेतु वज्रमय है। आज के पङ्क्तिपावनों जैसे वे नहीं कि धन और यश के लोभ में विदेश गमन करें। जो पुरुष श्राद्ध में पिण्डग्रहण के लिए साक्षात् प्राप्त हुए पिता के हाथ में पिण्ड नहीं दिया क्योंकि शास्त्र का विधान दर्भ (कुश) में पिण्ड रखने का है वह भीष्म अकेले कैसे याग कर सकता है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से ही यह सिद्ध होता है कि भीष्म ने धर्म के लिए विवाह किया था और ऊर्ध्वरेता भी रहे। इस विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

योो वा पिण्डं पितुः पाणौ विज्ञातेऽपि न दत्तवान्।
शास्त्रार्थातिक्रमाद् भीतो यजेतैकाक्यसौ कथम्॥

शास्त्रार्थ के अतिक्रम के भय से जानते हुए भी जो पिता के हाथ में पिण्ड नहीं दिया वह अकेले कैसे याग कर सकता है। आज के साधुओं की तरह भीष्म तो नहीं हैं कि शास्त्रीय मर्यादा का अक्रिमण करें। धृतराष्ट्र भी व्यासजी के अनुग्रह से जैसे पुत्रों को देखा था वैसे ही यागकाल में भी उन्हें दृष्टि प्राप्त हुई थी। महर्षि शाप और अनुग्रह में समर्थ होते हैं, ऐसा इतिहास-पुराणों से ज्ञात होता है। अथवा याग का दान भी अर्थ होता है। धृतराष्ट्र का याग दानमात्र है। दान तो अन्धा भी कर सकता है। दान का फल भी याग के फल के समान होता है। अर्थात् दान के द्वारा भी अभ्युदयनिःश्रेयस की प्राप्ति होती है। अतः जिनके पास धन है उन्हें सत्पात्र को विभवानुसार दान देना चाहिये। अल्पधन भी पुरुष सामर्थ्य के अनुसार दान दें। सन्यासी आदि विरक्तों को दान देना पाप है। उन्हें भोजन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देना चाहिये। इस कलिकाल में लोग उन्हें अपार वैभव दे रहे हैं और वे सूप जैसे दोनों हाथ पसार कर ले रहे हैं तथा सुखभोग कर रहे हैं, यह सब अधर्म है। इससे राष्ट्र और उनका कभी कल्याण नहीं हो सकता। दान तो सत्पात्र ब्राह्मण को ही देना चाहिये। दीन-हीनों का भी भरणपोषण करना चाहिये। उससे अनिष्ट नहीं। अत एव वह अनुग्रह कहा जाता है, दान नहीं। अनुज या पुत्रों के द्वारा अर्जित द्रव्य सादर अर्पित होता हुआ धर्मार्थ ही होगा। अपि च, दायभाग या अन्य शास्त्रीय प्रकार से धृतराष्ट्र धनवान् भी हो सकते हैं। द्रोपदीविषयक शङ्का का समाधान भी इसी तरह होगा। पाण्डवों का एकपत्नीविरोध महाभारत में ही समाहित है। जैसा कि महर्षि व्यास कहते हैं—

यौवनस्थैव कृष्णा हि वेदिमध्यात् समुत्थिता।
सा च श्रीः श्रीश्च भूयोभि र्भुज्यमाना न दुष्यति॥

अर्थात् यौवन में ही स्थित द्रोपदी वेदि के मध्य से निकली। अत एव वह श्री है। श्री यदि अधिकों से उपभुक्त होती भी हो तो दूषित नहीं होती। अत एव कहा है—

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद विप्रर्षिरतीतमानुषः।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥

मनुष्योचित सामर्थ्य से बहुत ऊँचे उठे हुए विप्रर्षि ने कहा कि द्रोपदी दिन के अतिक्रान्त होने पर कन्या ही रहती है। यह उसका उद्भुत सामर्थ्य

है। पाणिग्रहणपूर्वक कन्यासंप्रयोग में शास्त्र से कोई विरोध नहीं। इस जन्म की पत्नी जैसे दूसरे जन्म में कन्या होकर अन्य की उद्वाहिता हो सकती है तद्वत्। द्रोपदी जैसा सामर्थ्य मानुषी में सम्भव नहीं। अत एव भगवान् श्रीकृष्ण का कर्ण के प्रति प्रलोभन भी उपपन्न होगा—

षष्ठे च त्वामहनि द्रोपदी पर्युपस्थास्यति।

अर्थात् हे कर्ण! यदि तुम पाण्डवपक्ष ग्रहण करोगे तो छठे दिन तुम्हारे पास द्रोपदी आयेगी। यदि द्रोपदी में पूर्वोक्त सामर्थ्य नहीं होता तो प्रमाणभूत भगवान् वासुदेव वैसा कैसे कह सकते थे। अन्य समाधान भी वार्तिक में प्रपञ्चित हैं। जिज्ञासु वहीं से समझने की चेष्टा करें। ग्रन्थ-गौरवमय से यहाँ कहना उचित नहीं।

युधिष्ठिर का द्रोणवधनिमित्तक मिथ्याभाषण भी उपालम्भ का विषय नहीं होगा क्योंकि उन्होंने अश्वमेध करके प्रायश्चित्त किया था। प्रायश्चित्त से ही यह निश्चित हो जाता है कि युधिष्ठिर का वह आचार धर्म नहीं था।

जो वासुदेव और अर्जुन का मद्यपान और मातुलकन्याविवाहरूप धर्मव्यतिक्रम का उपन्यास किया गया है उस पर यही कहा जायेगा कि अन्न से बनी सुरा का ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन त्रैवर्णिकों के लिए निषेध है। मधु और सीधु नामक सुरा का प्रतिषेध क्षत्रिय और वैश्य के लिए नहीं है। ब्राह्मण के लिए तो हर सुरा का प्रतिषेध है जो कि 'मद्यं ब्राह्मणस्य' इस वचन से सिद्ध होता है। अतः वासुदेव और अर्जुन का सुरापान अधर्म की कोटि में नहीं आयेगा। स्पष्ट ही पैष्टी (अन्न) सुरा के लिए निषेध है कि त्रैवर्णिक उसका पान न करें—

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥

सुरा अन्न का मल होने से पाप है, अतः त्रैवर्णिक उसका पान न करें। यहाँ पर कुछ लोग—

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पेया ब्रह्मवादिभिः॥

इस वचन से माध्वी और गौडी सुरा को पैष्टी के समान बतलाकर हर प्रकार की सुरा का त्रैवर्णिक के लिए निषेध सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका यह प्रयास पामरजनों के द्वारा स्त्री-शूद्रों को भी गायत्रीजप में प्रेरित

करने के प्रयास जैसा ही गर्हित है। उक्त श्लोक में 'ब्रह्मवादिभिः' शब्द है जो पाणिनि के 'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' इस अनुशासन से वेद-प्रवचन में जिसका शील-धर्म-स्वभाव है, उसी के लिए प्रयुक्त है। 'प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषाम्' अर्थात् प्रवचन ब्राह्मण ही करे, इस नियम से प्रवचनाधिकारी ब्राह्मण ही हो सकता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो अब्राह्मण होकर भी काषाय वस्त्र धारण कर लिया है और एक हाथ की दाढ़ी बढ़ा लिया है, वह यदि प्रवचन कर रहा है तो यही समझिये कि वह यशप्रतिष्ठा-धनादि का बहुत बड़ा लोभी है। वह वैभव का भूखा अशिष्ट व्यक्ति है जो न्यायप्राप्त ब्राह्मण की वृत्ति का छेदन करके अपना उदरकुण्ड भरने में लगा है। एवम् 'ब्रह्मवादिभिः' पद से ही यह निश्चित हो जाता है कि सुरासामान्य का निषेध ब्राह्मण के लिए ही है। यदि ब्राह्मण कोई भी सुरा पीता है तो उसका पतन निश्चित है। उसके नरकवास में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। यह बात उस अर्थवाद से भी निश्चित हो जाती है जो मद्यसामान्य-निषेध की निन्दा के रूप में है—

अकार्यमन्यत् कुर्याद् धि ब्राह्मणो मदमोहितः।

ब्राह्मण को सुरापान नहीं करना चाहिये। क्योंकि सुरापान से मतवाला होकर वह अन्य कुकर्म भी कर सकता है। ब्राह्मण कुकर्म करे, यह उचित नहीं। तात्पर्य यही निकलता है कि जैसे एक अन्न की सुरा तीनों वर्णों के लिए अपेय है वैसे ही ब्रह्मवादी अर्थात् ब्राह्मण के लिए सारी सुरा अपेय है।

इस प्रकार गौडी-माध्वी अर्थात् 'मधुसीधु' नामक सुरा का पान यदि वासुदेव-बलभद्र-अर्जुन आदि करते थे तो वह धर्म नहीं भी है तो धर्म का व्यतिक्रम भी नहीं होगा।

मातुलकन्या विवाह का समाधान

मातुलकन्या से विवाह भगिनी के विवाह जैसा ही है। यह दुराचार जहाँ भी प्रचलित है, उसे समाप्त करने की आवश्यकता है। सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध शिष्टविगर्हित आचार धर्म में प्रमाण नहीं ही माना जायेगा। वासुदेव और अर्जुन के मातुलकन्याविवाह का समाधान तन्त्रवार्तिक और तद्व्याख्या न्यायसुधा में है। तथा हि—

अर्जुन के मामा वसुदेव की कन्या सुभद्रा हैं, ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है। हाँ!

'अनुजा वासुदेवस्य सुभद्रा वरवर्णिनी' यह जरूर लिखा है कि सुभद्रा वासुदेव की अनुजा अर्थात् पश्चात् पैदा हुई हैं। इसी से कल्पना की जाती है कि सुभद्रा वासुदेव की भगिनी हैं। यह कल्पना तभी होगी जब अन्यथा अनुपत्ति हो। अन्यथा उपपत्ति हो जाने से यह कल्पना नहीं होगी कि सुभद्रा वासुदेव की भगिनी ही हैं। सुभद्रा रोहिणी की कन्या हैं, यह मिलता है तथापि उन्हें यदि वसुदेव की कन्या मानेंगे तो उनके भाञ्जे अर्जुन के साथ विवाहविरोध उत्पन्न होगा। अतः वासुदेव की सापत्न माता रोहिणी की बहिन की कन्या सुभद्रा हैं। इस प्रकार के व्यवधान की कल्पना करनी होगी। पृथा के पुत्र अर्जुन हैं। पृथा अर्थात् कुन्ती शूरसेन की कन्या हैं। इस प्रकार व्यवधान से दोष का समाधान करना चाहिये। रुक्मिणीविवाह की भी इसी तरह व्यवस्था बना लेनी चाहिये। साक्षात् मातुलकन्या से विवाह नहीं होना चाहिये। जो भी हो शास्त्रीय मर्यादा मुख्य है। यदि कहीं मर्यादाविरुद्ध आचार है भी तो उसे समाप्त होना चाहिये।

आधुनिकों में अहिच्छत्र माथुर ब्राह्मणी का सुरापान और दाक्षिणात्यों में मातुलकन्याविवाह स्मृतिविरुद्ध होने से अधर्म ही माना जायेगा। यहाँ पर कुछ लोग अपनी युक्ति से समर्थन करते दिखायी देते हैं। उनका तर्क यह है कि स्मृति और आचार दोनों का परस्पर निरपेक्ष मूलभूत प्रमाण वेद ही है। अतः विहित और प्रतिषिद्ध में जैसे विकल्प होता है वैसे ही यहाँ विकल्प स्वीकार करना चाहिये। तात्पर्य यही है कि मातुलकन्या के साथ विवाह वेदविरुद्ध नहीं है। यह कथन उपेक्षणीय है। क्यों? आचार से स्मृति का प्रामाण्य बलवान् होता है। अतः स्मृतिविरुद्ध आचार धर्म नहीं होगा।

इस विषय में किसी का मत

अन्य लोगों का कहना है कि इस प्रकार के आचारों का प्रतिदेश व्यवस्था (नियम) से दुष्टत्व अथवा अदुष्टत्व मानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ जो आचार है वहाँ दोष का अभाव होगा। अन्यत्र वैसा स्वीकार करने से दोष होगा। अर्थात् मातुलकन्याविवाह दक्षिण में धर्म्य ही होगा क्योंकि वहाँ वैसी आचारपरम्परा है। अन्यत्र वैसा आचार न होने से वह धर्म्य नहीं होगा। जैसा कि आपस्तम्ब का वचन है—

येषां परम्परप्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः।
त एव तै र्न दुष्येयु राचारै र्नेतरे जनाः॥

तात्पर्य यह है कि जिनके पितृपितामहादि ने जिसका आचरण नहीं किया और अन्य स्मृतियों में जिसका प्रतिषेध है वे उसका त्याग ही करें। यदि नहीं त्यागते हैं तो उनके स्वजन उनका त्याग कर दें। यदि परम्पराप्राप्त है तो कोई दोष नहीं। मनु की भी इसमें सम्मति है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न दुष्यति॥

(मनुस्मृति ४-१८८)

एतन्मतनिराकरण

यह सर्वथा अनुचित है। गौतम ने स्मृतिविरुद्ध आचारों का अप्रामाण्य कहा है—

देशाचारधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।

(गौतम धर्मसूत्र, ११-२०)

यहाँ आम्नाय का वेद ही अर्थ है, यह नहीं समझना चाहिये। 'आम्नायः स्मृतिधारकः' इस शङ्ख के वचन से सिद्ध होता है कि स्मृति-ग्रन्थ में भी 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग होता है। शाबरभाष्य में भी कुछ ऐसा ही मिलता है। अत एव बौधायन ने पाँच प्रकार की विप्रतिपत्तियों (विवाद) को दिखलाया है—दक्षिण से अनुपनीत और भार्या के साथ भोजन, बासी भोजन,, पितृस्वसृमातुलकन्याविवाह तथा उत्तर से भी पाँच—ऊन का विक्रय, सीधु (मद्य विशेष) का पान, दोनों ओर दाँत वाले पशुओं के साथ व्यवहार, आयुधीयक, समुद्रयान, इन स्मृतिविरुद्ध शिष्टाचारों को प्रस्तुत करके 'इतर इतरस्मिन् कुर्वन् दुष्यति नेतरस्मिन् देशप्रामाण्यात्' इस आपस्तम्ब के मत को उपन्यस्त करक्रे 'मिथ्यैतदिति गौतमः शिष्ट-स्मृतिविरोधात्' इस गौतमीय मत से आपस्तम्बीय मत का खण्डन किया है। तात्पर्य यही है कि शिष्टस्मृति से विरोध होने से आपस्तम्ब का मत आदरणीय नहीं है। मनुवचन में 'सतां मार्गम्' यह विशेषण है जिसका यही अभिप्राय है कि देशों में परम्पराप्राप्त जो वैदिक मार्ग है उसे ही करना चाहिये। अतः मातुलकन्याविवाह और अहिच्छत्र माथुरब्राह्मणी के द्वारा किया जाने वाला सुरापान अनाचार ही होगा।

अरे! सुरापान का प्रतिषेध किस वचन से होता है? कि आप अहिच्छत्रमाथुर ब्राह्मणी के सुरापान को अनाचार सिद्ध करने पर उतारू हो गये हैं? श्रूयताम्!

"तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्" यही पूर्वोक्त सुरापान का प्रतिषेधक वाक्य है।

पुनः आक्षेप

महोदय! उक्त वचन में पुंल्लिङ्ग का निर्देश होने से स्त्री के लिए सुरापान का निषेध नहीं होना चाहिये। अत एव यहाँ स्मृति और आचार का कोई विरोध नहीं। तात्पर्य यह है कि 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' यहाँ पर ब्राह्मण उपादेय है अतः उसका विशेषण पुंस्त्व विवक्षित ही रहेगा वैसे ही जैसे पश्वेकत्वाधिकरण में 'पशुना यजेत' यहाँ पर पशु में पुंस्त्व और एकत्व विवक्षित रहता है। फलतः ब्राह्मणी का सुरापान स्मृति से विरुद्ध नहीं हुआ। अतः यह कहा ही जायेगा कि ब्राह्मणी के सुरापान के अनाचार में कोई प्रमाण नहीं। 'ब्राह्मणं न हन्यात्' में 'ब्राह्मण' पद के अन्त में द्वितीया विभक्ति होने से उसका उद्देश्यत्व शब्द से ही बोधित है। अतः ग्रहैकत्वाधिकरणन्याय से वहाँ एकत्व और पुंस्त्व की विवक्षा नहीं मानी जायेगी। फलतः एक या अनेक, स्त्री या पुरुष, हर प्रकार से ब्राह्मण का वध करने पर ब्रह्महत्यारूप महापातक की प्रसक्ति होगी। यहाँ पर प्रथमा विभक्ति है, अतः ब्राह्मणगत उद्देश्यत्व का बोध शब्दतः नहीं है, अतः उपादेयत्व होने से पुंस्त्व की विवक्षा ही होगी। जैसा कि वार्तिककार के अभिप्राय को लिखते हुए श्रीखण्डदेव ने कहा है—

ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्, ब्राह्मणेन सुरा न पेया इत्यादौ प्रथमा-तृतीयाभ्यां कर्तृत्वेनोपादेयत्वस्य शब्दवृत्त्योक्तत्वात् तद्गतस्य लिङ्गसख्यादेरविवक्षित्वे प्रमाणाभावः।

इसका अभिप्राय पूर्व ही व्यक्त कर दिया गया है।

समाधान

आप ने सत्य कहा है कि प्रथमा-तृतीया विभक्ति से कर्तृत्व का प्रतिपादन होने से ब्राह्मण में उपादेयता का शब्दतः कथन है, तथापि उसके उपादेय होने पर भी अनुवाद्यत्व का निवारण आप नहीं कर सकते। जिसकी अवगति पूर्व हो उसे अनुवाद्य कहते हैं। अतः ब्राह्मण के अनुवाद्य होने से उसमें लिङ्ग और संख्या की विवक्षा का कोई योग नहीं। यहाँ पर इस विशेष बात का ध्यान रखना चाहिये कि विवक्षा और अविवक्षा का कारण

उपादेयत्व और उद्देश्यत्व नहीं है, अर्थात् उपादेय होने से विवक्षा होगी और उद्देश्य होने से अविवक्षा होगी, यह नहीं समझना चाहिये। किन्तर्हि? विशेष्य के द्वारा विशेषण की अपेक्षा और अनपेक्षा ही विवक्षा और अविवक्षा का कारण है। विशेषण की अपेक्षा और अनपेक्षा ज्ञातरूपत्व और अज्ञातरूपत्व ही है। विधि का जो विषय होगा उसमें अज्ञातरूपत्व ही रहेगा क्योंकि अज्ञातज्ञापन को ही विधि कहते हैं। जो विधेय नहीं होगा वहाँ ज्ञातत्व ही रहेगा। इस प्रकार विधि में विवक्षा और अनुवाद में अविवक्षा मानी जाती है। अत एव, 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इस वाक्य में अमावस्याकाल के उद्देश्य होने पर तथा तद्विशेषण अपराह्ण के अज्ञात होने से, विधेयत्व भी स्वीकार करने से उसके विशेषण अपराह्ण के साहित्य की विवक्षा मानी जाती है। इसीलिए पिण्डपितृयाग अपराह्णकाल में ही होगा। एवम् 'सत्रादुदवसाय पृष्ठशमनीयेन यजेरन्' यहाँ पर आख्यात (यजेरन्) से उपात्त कर्ता के उपादेय होने पर भी उदवसानसमान-कर्तृकत्ववाचि 'क्त्वा' प्रत्यय के बल से प्राप्त होने पर उसका आख्यात से अनुवाद है। इससे तद्विशेषण साहित्य की अविवक्षा स्वीकार की जाती है। इस न्याय से जैसे ब्राह्मणीवध से भी ब्रह्महत्या की प्रसक्ति होती है वैसे ही ब्राह्मणी के द्वारा सुरापान भी निषेध का विषय होगा ही। फलतः वह अनाचार की कोटि में आयेगा ही। अतः वह धर्म्य नहीं।

इसी तरह स्वार्थलोलुपों के द्वारा शूद्रों और स्त्रियों को वेद पढ़ाकर उनके द्वारा याजनादि क्रियाओं का अनुष्ठान तथा गुर्जर प्रान्त मे शूद्रों का कपोलकल्पित पीठों पर आचार्य के रूप में आरूढ़ होना भी श्रुतिस्मृति-विरुद्ध होने से तथा धनादिलोभमूलक होने से दुराचार की ही श्रेणी में आयेगा। यह व्यवस्था पूरे राष्ट्र के लिए घातक है। शिष्टसमाज के द्वारा ऐसे लोगों का तिरस्कार होना चाहिये। ऐसा करने से उनका और राष्ट्र दोनों का कल्याण होगा। वे घोर नरक में अल्पकाल तक रहेंगे और राष्ट्रिय जनता भी अधर्म से बचेगी।

धर्मनिरपेक्षतावादी का चित्कार

बौद्धों के जैनियों के ईसाईयों के मुसलमानों के मार्गों को तो आप ने धर्म से कोसों दूर कर दिया। अब वेदमार्गानुयायियों में आप भेद क्यों पैदा कर रहे हैं? स्त्री और शूद्र वेद पढ़कर यदि धर्माचरण करते हैं तो आप का

क्या बिगड़ता है ? शूद्र आचार्यपीठ पर क्यों आरूढ़ नहीं हो सकता ? क्या ब्राह्मण को पूँछ जमी है कि वही आचार्य होगा ? आज बहुत से क्षत्रिय और भुँइहार परम्परागत आचार्यपीठों पर आसन जमाये बैठे हैं। उन पर तो आप की वाणी नहीं निकलती। शूद्रों को कमजोर समझ कर आप उनकी आलोचना करने पर तुले हुए हैं। यदि वे आचार-विचार से रहते हुए आचार्य की गद्दी पर बैठ रहे हैं और विहिप जैसे संघटन उन्हें बैठा रहे हैं तो इसमें बुराई ही क्या है ? वैदिक धर्म की यही कुरीति आज समाज को तोड़ रही है। यदि तेरही का भोजन और महापात्रीय धन कुछ मूलभ्रष्ट स्वामिनारायणीय साधु ले रहे हैं तो क्या बुराई है ? कोई भी भोजन कर सकता है और कोई भी दान ले सकता है। आखिर में सन्त यदि तेरही की पूड़ी खा रहे हैं तो अच्छी बात है। सन्तों को खाने से मृतक की आत्मा तृप्त होगी। इसलिए उक्त आचारों को दुराचार न कहें ! ये सारे के सारे आचार धर्म में प्रमाण होने ही चाहिये।

समाधान

आप को अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिये कि यहाँ जो कुछ भी कहा जा रहा है वह अपौरुषेय वेदों के अनुकूल ही है। किसी के प्रति हमारा राग या द्वेष नहीं है। यहाँ तो अभ्युदय और निःश्रेयस का वास्तविक मार्ग कहा जा रहा है। इस मार्ग का बोध वेदादि शास्त्रों से ही सम्भव है, ऐसा पहले ही दृढ़ता से प्रतिपादन कर दिया गया है। स्त्री-शूद्रों का वेद में अधिकार नहीं है, यह बात श्रुति-स्मृति और अनादि शिष्टाचार-परम्परा से सिद्ध है। श्रुति-स्मृति में सुस्पष्ट निषेध है—

'स्त्रीशूद्रौ वेदं नाधीयीयाताम्।'

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा'

इस निषेध का अतिक्रमण करके अन्य उपायों से इनका वेदाधिकार सिद्ध करना अन्याय होगा। स्त्री का पुरुष के साथ सहाधिकार प्रतिपादित है। जिन कर्मों में शूद्र की विधि है वहाँ वह अधिकृत होता ही है। शास्त्रकार वहाँ अन्यथा व्याख्या नहीं करते। जैसे वर्षा में रथकार (कोइरी) का आधान में अधिकार और निषादजातीय तदधिपति का निषादस्थपतीष्टि में अधिकार है ही। जिन कर्मों में अधिकार नहीं है तो बलात् सिद्ध करना उनके लिए अनिष्ट की फसल उगाने जैसा है। अतः शूद्रों का वेद और

तत्साध्य कर्मों में तथा आचार्य बनने में अधिकार नहीं है। जो क्षत्रिय या भुँइहार आचार्य बने बैठे हैं, मैं कहाँ कह रहा हूँ कि वे धर्म के अनुकूल आचरण कर रहे हैं। उनका आचार भी दुराचार ही कहा जायेगा।

आचार्य का लक्षण पहले समझिये—

"आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते॥
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥"

अर्थात् शास्त्रों का जो विधिवत् अध्ययन करता है तथा जनता को आचार में स्थापित करता है और स्वयम् भी सदाचारनिष्ठ रहता है उसे ही आचार्य कहते हैं। शूद्रों में तीनों बाते नहीं हैं। मान लीजिये कि सदाचरण वह करेगा तथापि शास्त्रों के अध्ययन और आचारों में स्थापन वह नहीं कर सकता। क्षत्रिय और वैश्य शास्त्र पढ़ सकते हैं तथा अन्य दोनों कार्यों को भी कदाचित् कर सकते हैं, फिर उनको आचार्य बनने में कोई बाधा नहीं, तो इस पर द्वितीय श्लोक को समझना अति आवश्यक है। जो द्विज शिष्य का उपनयन करा कर कल्पों और रहस्यों के साथ उसे वेद पढ़ाये उसे ही आचार्य कहते हैं। क्षत्रिय और वैश्य इन दोनों कार्यों को नहीं कर सकते। क्योंकि—

"षट्कर्मा ब्राह्मण स्तस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।"

अर्थात् अध्ययन, यजन, दान देना, अध्यापन, याजन और दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं जिनमें अध्यापन, याजन और दान लेना, ये तीन कर्म उसकी जीविका के लिए नियत हैं। यह नियम वेद के द्वारा ही किया गया है। यदि ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रियादि इन तीनों कर्मों को करेंगे तो उनका विपुल अनिष्ट निश्चित है। पूर्वोक्त अध्ययनादि तीनों कर्मों में त्रैवर्णिक का भी अधिकार है। दान देने का कार्य शूद्र भी कर सकता है। एवम् 'अध्यापयेद् द्विजः' से यह प्रतीत होता है कि आचार्य ब्राह्मण ही हो सकता है। यदि विहिप शूद्रों को आचार्य बना रहा है और ब्राह्मणातिरिक्तों को भी आचार्य की मान्यता दे रहा है तो मैं कहाँ कहता हूँ कि विहिप अच्छा कार्य कर रहा है। वह तो अशास्त्रीय कार्य में ही संलग्न है। उसकी इस मुद्दे पर उपेक्षा होनी चाहिये। पूर्वोक्त न्याय से मूलभ्रष्ट स्वाभिनारायणीयों का कृत्य भी अधर्म ही होगा। वे श्राद्ध जैसे सनातन वेदैकसमधिगम्य धर्म का छेदन कर रहे हैं। श्राद्धादि में लगने वाला भक्तों का धन स्वयम् हजम कर ले रहे

हैं। वे विधिवत् संकल्पपूर्वक भक्तों के कल्याण के लिए पुराणपारायण कर रहे हैं। प्रवचन करके धनसंग्रह कर रहे हैं और जिनमें उनका अधिकार ही नहीं है, ऐसे धर्मप्रचार के बहाने विदेश जा रहे हैं तथा वहाँ से धन ला रहे हैं। उनका विलासितामय जीवन ही यह बतला रहा है कि उनका आचरण धर्मविरुद्ध है। उन्हें भी अपने कुत्सिताचार का परित्याग करना चाहिये। अहमदाबाद में मणिनगरमन्दिर के कोई पटेल स्वामिनारायणीय सन्त स्वयम् आचार्य बनकर कुछ ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले पादवन्दन को सहर्ष स्वीकार कर रहे हैं और उन्हें हाथ उठा कर सादर आशीर्वाद भी दे रहे हैं। उन्हें अपनी मूलपरम्परा में क्या बाधा है? जरा आप बतलाइये कि यह श्रुतिस्मृतिपरम्पराविरुद्ध आचरण कैसे धर्म में प्रमाण हो सकता है? इन सारे निन्द्य कर्मों की जनता में निन्दा होनी चाहिये और साधुओं को भी विलासितामय जीवन से दूर हटना चाहिये।

पुनराक्षेप

चलिये! शूद्रों का अध्यापन में अधिकार न होने से वे आचार्य बनने के योग्य नहीं। क्षत्रिय और वैश्यों के पास अध्ययनविधि से सिद्ध परम्परानुगत विद्या है, अतः वे अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रहण से क्यों वञ्चित होंगे? ये तीनों कर्म पुरुषार्थ हैं, अतः कर्म में भी वैगुण्य सम्भव नहीं। तीनों कर्मों को ब्राह्मण ही करें, यह नियम पुरुषार्थतया है, क्रत्वर्थतया नहीं। अत एव क्षत्रिय-वैश्य उक्त कार्य करते हुए भले ही नियम का अतिक्रमण करते हुए अपने धर्म से च्युत हों। धर्म में बाधा नहीं होनी चाहिये। अतः क्षत्रिय-वैश्य भी षट्कर्मा होने से आचार्य बन सकते हैं।

पुनराक्षेप का समाधान

द्विजोत्तम ब्राह्मणों के लिए ही अध्यापनार्त्विज्य और प्रतिग्रह होने चाहिये। क्योंकि ब्राह्मणार्त्विज्यनियम क्रत्वर्थ (यागार्थ) भी स्मृत है। सूत्रकार 'यज्ञं व्याख्यास्यामः' ऐसा उपक्रम करके ब्राह्मणों के लिए ही उक्त तीनों कर्मों में नियम बतलाते हैं। अपि च—

राजयाजकयाज्यस्य विनश्यति यथा हविः।

इत्यादिवचनों से क्षत्रिय के याजक होने से हविर्नाश कहा गया है। तथा च, वेद में लिङ्ग दर्शन से भी ब्राह्मणों के लिए ही नियम सिद्ध होता है। 'ब्राह्मणानामिदं हविः' यह लिङ्ग है।

"हुतादा ये ब्राह्मणा यदन्वाहार्यमाहरन्ति"

इस मन्त्र से दर्शपूर्णमासयाग में अन्वाहार्य (भोजन) की भक्षणीयता में 'ब्राह्मण' शब्द का निर्देश स्पष्ट वेद में है। अतः तीनों कर्मों में ब्राह्मण का ही अधिकार होने से ब्राह्मणातिरक्त क्षत्रियादि, जो आचार्य बनकर पुजवा रहे हैं, वह अनुचित ही है। 'नान्तमियात्' से विदेशगमन भी प्रतिषिद्ध है। अतः प्रतिषिद्ध जो कुछ भी आचार है वह धर्म नहीं, दुराचार है, यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हुई।

सिद्धत्ववाद

यद्यपि सिद्धत्ववाद का खण्डन सर्वज्ञत्वखण्डन से हो जाता है तथापि आधुनिक सन्तमहन्तपदवाच्य कुछ सिद्धों की आचारपरम्परा को जनता सहर्ष स्वीकार कर रही है। इस प्रकार लोक में एक सिद्धत्ववाद भी चल पड़ा है। शास्त्रबाह्य कुछ वाममार्गीयविधा से जीवन को दिखाने वाले तपस्वियों की भारत में कमी नहीं है। उनके मत में साधना ही सब कुछ है। आत्मा और परमात्मा, ये दो शब्द ही इनके शब्दकोश में हैं। आत्मा के लिए परमात्मा की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ है। वेदविहित श्राद्ध, दान, यागादि नित्यनैमित्तिक कर्म कुरीति के सिवा कुछ भी नहीं। ये सब धर्म की कोटि में नहीं आते। बस, साधना ही सब कुछ है। साधना क्या है, इसकी परिभाषा इनके यहाँ नहीं है। वर्णविभाग अवास्तविक है। जन्म से सभी शूद्र होते हैं। साधना करते हुए ब्राह्मण की कोटि तक जाया जा सकता है। सिद्ध का विचित्र वेश होता है। जैसे दाढ़ी, जटा, कुछ वैसा ही विचित्र वस्त्र। वह तपस्या से सब कुछ जानता है। आडम्बर को त्याग कर परमात्मा के मिलन के लिए प्रयत्न करना चाहिये। बिना गुरु बनाये परमात्मा को प्राप्त करना असम्भव है। अतः सन्तों की शरण में आना अनिवार्य है। सन्त उन्हें परममार्ग का बोध कराने में समर्थ हैं। वे मन्त्र देंगे जिसका अपने परिवार में रहते हुए सायम्-प्रातः जप किया जा सकता है। समय-समय पर गुरु के आश्रम में आना आवश्यक है, अन्यथा सत्सङ्ग का लाभ नहीं मिल सकता। ततः विवेक के अभाव में परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं।

पृथ्वी में जो कुछ पैदा हुआ है, जैसे प्याज, लहसुन, गाजर आदि, परमात्मा ने ही उसे मनुष्यों को खाने के लिए बनाया है। अतः इनके सेवन में कोई दोष नहीं। सबका बनाया भोजन एक साथ बैठकर सभी खा सकते

हैं। जात-पाँत का भेद मिथ्या है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। साधक के लिए पूरी पृथ्वी ही तीर्थ है। अतः गङ्गा आदि ही तीर्थ हैं, यह सब भ्रामक प्रचार है। सद्गुरु की कृपा से प्राप्त ज्ञान ही गङ्गा आदि तीर्थ है। उसी में स्नान करने की जरूरत है। काम प्राणी का स्वाभाविक धर्म है। स्त्री का पुरुषसंसर्ग और पुरुष का स्त्रीसंसर्ग साधना में महती भूमिका का निर्वाह करता है। अतः संसर्ग करते हुए भी साधना की जा सकती है। विवाह भी एक रीति है जो पारिवारिकी ढाँचा को कायम रखने के लिए बनाया गया है। विवाह में कर्मकाण्ड ढोंग है। यह सब दूर होना चाहिये। किसी भी जाति की स्त्री से किसी भी जाति का पुरुष विवाह कर सकता है। कोई बाधा नहीं। अतः सद्गुरु की शरण के अतिरिक्त संसार में कोई धर्म नहीं। सद्गुरु के द्वारा हर पुरुषार्थ प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धत्ववाद का विखण्डन

संसार में ऐसा कोई भी सिद्ध नहीं जो धर्माधर्म की व्यवस्था में स्वतन्त्र हो। सिद्धि से सम्पन्न को सिद्ध कहते हैं। वह सिद्धि भी निरपेक्ष नहीं हो सकती। क्योंकि धर्मानुष्ठानापेक्षा ही सिद्धि है। वह धर्म भी चोदनाप्रमाणक ही होगा। संसार में तापत्रय से अभिहत प्राणी उसके समाधान के लिए, चित्त के इधर-उधर भ्रमण करने के कारण कहीं शान्ति प्राप्त न करते हुए, आधुनिक सन्तों (सिद्धों) के चरणकमलों में भ्रमर की तरह आचरण करते हुए, मौहूर्तिक की तरह उनसे अपनी इष्ट सिद्धि करना चाहते हुए, कहीं से शान्ति प्राप्त करते हुए ऐहिकपारलौकिक स्वार्थ से च्युत होते हुए, धर्मविमुख, वे सन्तों की विभुता के सम्पादन में उपयोगी होते हैं। यह बहुत बड़ी धर्म की विडम्बना कलिकाल के माहात्म्य से चल पड़ी है। इससे तो अच्छा है अर्थकामप्रधान प्राणी दृष्टफल के लिए ही सही प्रयत्न करते हुए कष्ट से अर्जित जीविका को धारण करें, जैसे किसान-मजदूर आदि धारण करते हैं। मनु ने कहा ही है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥

स्वधर्मनिर्वाहरूप तप का आचरण श्रुतिस्मृति से अनुमोदित होने से श्रेष्ठ है। एवम् पूर्वोक्त सिद्धों और उनके अनुयायियों का आचरण भी लोभादिमूलक होने से धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता। ऐसे सिद्धों की भी

उपेक्षा करनी चाहिये। आचार्य ही गुरु हो सकता है। आचार्य ब्राह्मण ही होगा और पूर्वोक्त कार्यों से सम्पन्न भी होगा, ऐसा पूर्व ही कह दिया गया है। कुछ पन्थी केवल 'गुरु' मन्त्र ही देते हैं, अर्थात् 'गुरु' शब्द का ही जप करने को कहते हैं और स्वयम् वे ब्राह्मणेतर होते हैं तथा शास्त्रीय मर्यादा से योजनों दूर हैं। ऐसे गुरु और उनकी अनुयायिपरम्परा नरकतमिस्रा में ही गड्डलिकाप्रवाहन्याय (भेड़ियाधसान) से निपतित होती है।

इस प्रकार वार्तिककार के मतानुसार—'शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्' से भाष्यकारीय मत से अधिकरण की व्याख्या करके पुनः इसी सूत्र से बुद्धादि-अहिंसादिपरक स्मृतियों के प्रामाण्य की आशङ्का करके 'न शास्त्र-परिमाणत्वात्' से निराकरण किया गया तथा स्मृत्यधिकरणीय पूर्वपक्षसूत्र और विरोधाधिकरणसिद्धान्तसूत्र से अनिबद्ध आचारों के अप्रामाण्य की आशङ्का करके 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्' से उनके प्रामाण्य की व्यवस्था की गयी। आगे वार्तिककार पुनः इन सूत्रों के द्वारा ही शिष्टाचार का ही प्रमाण्य व्यवस्थापित करते हैं। वैदिकधर्मानुयायिनी जनता के लिए उपयोगी होने के कारण इसका भी निरूपण कर देना उचित है। यहाँ पर अधिकरण का उपक्रम प्रथमसूत्र के सिद्धान्त पक्ष से किया गया है तथा द्वितीयसूत्र से पूर्वपक्षीय आशङ्का को दृढ़ करके सिद्धान्तसूत्र (तृतीय) से पूर्ववत् ही समाधान होगा। यहाँ कृष्णवर्णसंचरण से उपलक्षित आर्यावर्त के निवासियों के द्वारा चातुर्वर्ण्याचार ही उदाहरण होंगे। अर्थात् धर्मबुद्धि से आर्यों का जो चरित्र उपलब्ध होता है वह वैसे ही धर्म में प्रमाण है अथवा अप्रमाण। कैसे इस विषय में सन्देह हुआ कि विचार की आवश्यकता पड़ी? उच्यते—

कर्तृसामान्य से जैसे स्मृतियों का प्रामाण्य है वैसे आचारों का भी प्रामाण्य सम्भव है तथा किसी ग्रन्थ में निबद्ध न होने के कारण अप्रामाण्य का भी सन्देह होता है। अरे! स्मृतिकारों ने ही इन आचारों का प्रामाण्य स्वीकार किया है—

तद्विदा ञ्च स्मृतिशीले।
आचारश्चैव साधूनाम्।
यस्मिन् देशे य आचारः स सदाचार उच्यते।

अतः स्मृतिप्रामाण्य से ही आचारों का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है फिर विचार की क्या आवश्यकता है? नैवं वक्तव्यम्। मूलाभावहेतु-

दर्शनातिरेकात्। अर्थात् अन्य शाखाओं में विद्यमान वाक्य स्मृतियों के मूल हैं किन्तु तत्तद्विशेष आचारों के मूल का दर्शन नहीं होता और हेतुदर्शन से भी उनके अप्रामाण्य की शङ्का होनी स्वाभाविक है। अहो भगवन्। जब ऐसी बात है तो सदाचारदर्शन से ही अन्य मूलों का अनुमान हो जायेगा। नैवम्। यदि इन आचारों के मूल का ज्ञान स्मृतिकारों को होता तो जैसे अन्य स्मरणों को लिखा है वैसे इन आचारों को भी स्मृतियों में लिखते किन्तु लिखा नहीं। अतः परज्ञान से आचारप्रामाण्य है। एवम् इन आचारों का मूल दृष्ट है, ऐसा निश्चय न होने के कारण विचार करना आवश्यक हो जाता है। तथा च, इन सदाचारों का प्रामाण्य मानना ही चाहिये। क्यों? इसीलिए कि कोई भी धर्मबुद्धि से किया जाने वाला सदाचार श्रुतिस्मृति से विरुद्ध नहीं होता। एवम् श्रुतिस्मृति के समान ही कार्य करने से इनका प्रामाण्य भी मानना चाहिये। अपि च, इन आचारों के विषय में स्मृतिकारों की संमति भी है। यदि ये आचार अज्ञातमूल होते तो स्मृतिकारों की इनमें संमति नहीं होती। तस्मात् इन आचारों के प्रामाम्य में कोई बाधा नहीं। यद्यपि यह सिद्धान्त कर्तृसामान्यरूप साधारण हेतु से भी सिद्ध हो सकता है तथापि 'शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्' सूत्र से भी सम्भव है। यहाँ अकोपे का अविरोध और अविरुद्धम् का प्रामाण्य अर्थ समझना चाहिये। शिष्ट का भी दो अर्थ है—(१) श्रुतिस्मृति में उपदिष्ट और (२) वेदप्रामाण्य को स्वीकार करते हुए तद्बोधित पदार्थों का अनुष्ठान करने वाले त्रैवर्णिक। दोनों अर्थों को लेकर वार्तिककार इस तरह से सूत्रव्याख्या करते हैं—

शिष्टं यावत् श्रुतिस्मृत्यो स्तेन यन्न विरुध्यते।
तच्छिष्टाचरणं धर्मे प्रमाणत्वेन गम्यते॥
यदि शिष्टस्य कोपः स्याद् विरुध्येत प्रमाणता।
तदकोपात्तु नाचारप्रमाणत्वं विरुध्यते॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् श्रुतिस्मृति में उपदिष्ट जितने भी पदार्थ हैं उनसे जिन आचारों का विरोध नहीं वे शिष्ट अर्थात् उपदिष्ट आचार ही माने जायेंगे और वे धर्म में प्रमाण भी होंगे। यदि किसी आचार में शिष्ट वैदिक त्रैवर्णिकों का कोप = क्रोध होगा तो उनका प्रामाण्य भी विरुद्ध होगा। शिष्टों का कोप न होने से आचारों के प्रामाण्य में कोई विरोध नहीं।

पूर्ववर्णक में दुराचारसङ्कर से पूर्वपक्ष के कथन के लिए सर्वदेश-निवासियों का आचार उदाहरण था। यहाँ आर्यावर्त-निवासियों का ही आचार उदाहरण है। एवम् वहाँ अर्थकामाचार भी उदाहरण था। यहाँ धर्माचार ही उदाहरण है। अत: पुनरुक्त की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार सिद्धान्तपक्ष का उपक्रम करके उसके निराकरण की प्रक्रिया होगी—

न शास्त्रपरिमाणत्वात्।

धर्माधर्म की स्थिति परिमितशास्त्रों से ही होती है। वे शास्त्र हैं वेदोपवेदादि। उनके मध्य में कोई दूसरा सदाचारशास्त्र नहीं है तथा सदाचार भी कोई शास्त्र नहीं है। सदाचारदर्शन और उनका अनुष्ठान भी शास्त्र नहीं है। क्यों? इसीलिए कि आचार अत्यन्त अन्याधीन हैं और प्रमेय भी हैं। आचारविषयक स्मृति निर्मूल ही कही जायेगी। तथा हि—

उन सारी आचारविषयकस्मृतियों का मूल एक है या अनेक? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि देश-जाति-कुल के भेद से भिन्न-भिन्न अपरिमितस्वरूप वाले आचारों की परम्परा है। तदाचारविषयकस्मृति का मूल एक श्रुति नहीं हो सकती। एक श्रुति तो एकाचारविषयक-स्मृति का ही मूल हो सकती है। अब कहिये कि जितने आचार हैं तद्विषयक स्मृति का मूल अनेक श्रुतियाँ होंगी तो यह द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं। यावत्-आचार वेदवाक्यों की कल्पना की अपेक्षा तत्तदाचारमूलक एक वेद की कल्पना ही उचित है। क्योंकि एक वाक्य अनेक प्रकार के अपरिमित आचारों का प्रवर्तक नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आचारों का मूल कोई एक अलग वेद है जिसे देख कर ही आचारों के प्रामाण्य का निरूपण सूत्रकार किये हैं। ऐसा मानने पर शेष स्मृतियों के समान ही आचार भी होने लगेंगे। यह भी नहीं कह सकते कि आचारों को देखकर ही स्मृतिरचना हुई। ऐसा मानने पर स्मृतियों की अपेक्षा आचार की बलवत्ता सिद्ध हो जायेगी। अत एव परिमित शास्त्र के ही अनुमेय होने से बहुत से आचारों के मूल का अनुमान सम्भव नहीं। अपि च, 'शिष्टाचार: प्रमाणम्' इस एक श्रुति का जब भी अनुमान करेंगे तब आचार की ही प्रथम सिद्धि होगी। तत: आचार पहले और श्रुति बाद में होने लगेगी। इस प्रकार भी आचारों की निर्मूलता ही सिद्ध होगी।

अथवा 'शास्त्रपरिमाणत्वात्', इस सूत्र में परिमाण का 'परिमित'अर्थ करने से यह सिद्ध होता है कि शास्त्र की प्रवृत्ति परिमित (सीमित) अर्थ में ही है। एवम् आचारों के अपरिमित होने से उनकी शास्त्रभिन्नता सिद्ध होती है। अथवा शास्त्र के विषय परिमित अर्थवाले ही होते हैं क्योंकि प्रमाणान्तर से अनधिगत अर्थ में ही शास्त्र प्रयोजनवान् होते हैं। इसी कारण से अन्य हेतुओं के दर्शन के कारण आचारों में शास्त्रप्रामाण्य व्यवस्थित नहीं होगा। एवम् अर्थ और सुख का साधन होने से आचार धर्म नहीं होंगे। तथा सति—

वैश्य, सेवक, वैद्यों के चरित्र जैसे अर्थ-सुख के ही अङ्ग होते हैं वैसे ही श्रुति-स्मृति के ही धर्म में प्रमाण होने से शील-आचार और आत्मतुष्टि गोष्ठी में हास्य के समान ही होंगे अर्थात् इनका धर्म में प्रामाण्य कथमपि सिद्ध नहीं होगा।

ऐसा खण्डन होने पर पुनः प्रथम सूत्र से उपक्रान्त सिद्धान्त की व्यवस्थापना होगी—

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्।

यहाँ 'वा' शब्द पूर्वपक्ष के व्यावर्तन के लिए है। लोभादि लौकिक हेतुओं के खोजने पर भी दर्शन न होने से शिष्टों के कार्य (आचार) धर्मत्वेन प्रयुक्त हुए हैं, यही जैमिनि महामुनि का मानना है। इससे कैमुतिकन्याय से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अनादि शिष्टाचारपरम्परा के विरुद्ध अर्थलोलुपों-प्रतिष्ठालोलुपों के जो भी आचार आर्द्रानक्षत्र के पानी से भूमि में पैदा हुए कुकुरमुत्ते की तरह फैल रहे हैं वे सब नरक के ही मार्ग हैं। किञ्चिन्मात्र भी धर्मता उनमें नहीं है।

धिक्! कष्ट है कि आज बहुत से कुमार्गगामी श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित धर्मों से और शिष्टाचारपरम्परानुप्राणित धर्मों से योजनों दूर होते हुए भी निरक्षरभट्टाचार्य वे आध्यात्मिक दिव्य सिद्ध बन कर अपने धर्मग्रन्थों की दुर्व्याख्या करते हुए जनता को बरगला कर उनके समय और अर्थ तथा श्रम का भी दोहन कर रहे हैं। जनता मिथ्या आध्यात्मिकता में पागल हुई उनके पीछे दौड़ रही है और वे अर्थयशःपिपासु आराम से दिव्य भोगों का विलक्षणप्रकार से अनुभव कर रहे हैं। आज ऐसे कुकर्मियों को दुत्कारने की जरूरत है अन्यथा अनादिकाल से चली आ रही सनातन मर्यादा समाप्त हो जायेगी।

इतित्रिसूत्रीव्याख्या

शब्दार्थविषयक विप्रतिपत्ति

प्रायः वेद में आये शब्दों के अर्थ को लेकर भी विवाद होता है। आज प्रायः पामरजन भी अर्थ का अनर्थ करते हुए जनता को भ्रमित कर रहे हैं। इससे जनता की लौकिक और पारलौकिक सिद्धि में बाधा पड़नी स्वाभाविक है। इस विवाद का भी निरास होना चाहिये। लोभियों की कमी इस संसार में नहीं है। लोभ के कारण वे उलटी व्याख्या करते हुए भारतीय आर्यमर्यादा को भ्रष्ट कर रहे हैं। इस विषय में कलि-अवतार दयानन्द और श्रीरामशर्मा जैसे पातकियों का कुत्सित प्रयास चला और कुछ क्षेत्रों में उनके उनुयायियों द्वारा चल भी रहा है। कुछ आधिग्रस्त आधुनिक भी सिद्ध बन कर मर्यादा नष्ट करते हुए वेदमार्ग-प्रदूषण का कार्य कर रहे हैं। इन सारी भ्रान्तियों के निराकरण के लिए ही अनादि ऋषि-परम्परासिद्ध न्यायों का निरूपण करना सर्वथा उचित होगा। वेद में 'यवमयश्चरुः, वाराही उपानहौ, वैतसे कटे प्राजापत्यान् संचिनोति', इन विधियों में यव, वराह, वेतस शब्दों का उपदेश है। यव का प्रयोग कुछ लोग दीर्घशूक (जौ) अर्थ में करते हैं और कुछ लौकिक पुरुष प्रियङ्गु अर्थ में। इस प्रकार वराहशब्द शूकर और काले पक्षी में तथा वेतसशब्द वञ्जुल और जम्बू में प्रयुक्त होता है। यहाँ पर क्या अर्थ होना चाहिये, यह सन्देह होने पर पूर्वपक्ष होगा—

तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्।

(मीमांसासूत्र १.३.८)

अर्थात् दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होने से विकल्प हो। सूत्र का भी यही तात्पर्य है कि विरोध न दिखायी देने से समानता होने के कारण विकल्प हो। ऐसी आशङ्का होने पर सिद्धान्त होगा—

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्।

(मीमांसासूत्र, १.३.९)

एक ही शब्द के अनेक अर्थों को मानना उचित नहीं। जहाँ कई अर्थ कोशों में कहे गये हैं वहाँ भी अर्थों के भेद से शब्दभेद स्वीकार किया जाता है। जैसे 'हरि' शब्द के जितने अर्थ हैं वहाँ उतने ही 'हरि' शब्द की कल्पना होगी। वेद में शब्द आया है तो वह एक वाक्य में एक ही रहेगा। अतः किसी एक अर्थ में ही उसे नियत मानना चाहिये। अन्यत्र सादृश्य के

कारण गौण अर्थ भी हो सकता है। जैसे अग्नि का 'ज्वलन' अर्थ ही मुख्य होगा। यदि 'अग्नि र्माणवकः' प्रयोग होता हो तो वहाँ माणवक (बालक) अर्थ में 'अग्नि' शब्द गौण होगा। अर्थात् अग्नि का गुण तैक्ष्ण्य है और वह माणवक में भी विद्यमान है। इसीलिए माणवक को अग्नि कह दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी कोई एक अर्थ ही मानना चाहिये। कौन अर्थ मानना चाहिये। इस पर भगवान् जैमिनि कहते हैं कि शास्त्रों में जो स्थित हैं, उन्हीं का निश्चय जिस अर्थ में होगा वह अर्थ ही शब्द का अर्थ होगा। कौन शास्त्रस्थ है और क्यों अर्थविषयक उनकी ही प्रसिद्धि मान्य होगी? इस पर भाष्यकार कहते हैं—

''के शास्त्रस्थाः ? शिष्टाः। तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च। तेन शिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृतिधारणे॥'' (शाबरभाष्य)

शास्त्र और शास्त्रीयमर्यादा में स्थित ही शिष्ट हैं। उनकी शब्द-विषयक और वेदविषयक स्मृति अविच्छिन्न है। अर्थात् कभी खण्डित नहीं होती। शास्त्रस्था प्रसिद्धि ही शब्दार्थ के निर्णय में मान्य होगी क्योंकि वे ही उसमें निमित्त होते हैं। यही सूत्रार्थ है। वेद स्वयम् दीर्घशूकादि अर्थ को ही प्रतिपादित कर रहा है—

यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति।
तस्माद् वराहं गावोऽनुधावन्ति।
अप्सुजो वेतसः।

अन्य धान्यों के म्लान होने पर जौ ही लहराता है। वराह के पीछे बैल ही दौड़ते हैं। वञ्जुल ही पानी में पैदा होता है। अतः यव, वराह, वेतस शब्दों का जौ, शूकर और वञ्जुल अर्थ ही मुख्य होगा तथा अन्य अर्थों में गौणता ही स्वीकार की जायेगी।

वार्तिककारीयमत

यहाँ पर भाष्योदाहृत 'यवादि' शब्दों में अनुपत्ति दिखाकर वार्तिककार अन्यथा अधिकरण की संरचना किये हैं। उनका तात्पर्य यह है कि 'यव' शब्द से कहीं भी प्रियङ्गु का कथन नहीं होता। एवम् 'वराह, वेतस' शब्द भी शूकर और वञ्जुल अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। फिर अध्यारोप करके विचार का कोई अवसर ही नहीं है। अपि च, 'सन्देहेषु वाक्यशेषात्' यह अन्य न्याय है। जहाँ सन्देह होता है वहाँ शेष वाक्य से निर्णय भी हो

जायेगा। अतः जहाँ आर्यों और म्लेच्छों की अर्थविप्रतिपत्ति है, उन शब्दों के अर्थ में विचार होना चाहिये कि आर्यप्रसिद्ध अर्थ मान्य होगा कि म्लेच्छ-प्रसिद्ध अर्थ। जैसे 'पीलु' शब्द का आर्य वृक्षविशेष में प्रयोग करते हैं और म्लेच्छ हाथी में। इस प्रकार सन्देह होने पर पूर्वपक्ष होगा—

दृष्टार्थक व्यवहार में समानता माननी चाहिये। क्योंकि आर्यों का वैशिष्ट्य अदृष्टार्थ तक यागादिधर्मकृत्यों में ही है। दृष्टव्यवहारमात्रप्रयोजन वाले शब्दों में दोनों की समानता ही स्वीकार करनी चाहिये। ऐसा पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त यह होगा—

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्।

सूत्रार्थयोजना पूर्ववत् ही है। लोक में जैसे शब्दों के अपभ्रंश वक्ता की अशक्ति से होते हैं वैसे ही गौणभ्रान्ति के कारण अर्थों के भी अपभ्रंश हो जाते हैं। शास्त्र में स्थित शिष्ट जैसे पुण्यक्रिया में सावधान होते हैं वैसे ही वे शब्दार्थपरीक्षा में भी सावधान रहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि शास्त्रज्ञ और अशास्त्रज्ञ के ज्ञानों में शास्त्रज्ञ का ही ज्ञान बलवान् होता है। एवम् यह सिद्ध हुआ—

अतः शास्त्राभियुक्तत्वादार्यावर्तनिवासिनाम्।
या मतिः सैव धर्माङ्गशब्दार्थत्वप्रमा मता॥

अर्थात् शास्त्र में हमेशा निरत होने के कारण आर्यावर्तनिवासियों का जो ज्ञान है वही धर्म के अङ्गभूत शब्दार्थ में प्रमा है। आर्यावर्तनिवासियों में भी जो बहुशास्त्रवेदी हैं, वे जिन-जिन अर्थों में शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे ही अर्थ ग्राह्य हैं।

इन बातों से जनता को यह समझना चाहिये कि कौन पुरुष गुरु-परम्परा से सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है। यदि कोई थोड़े ही ज्ञान से दुर्विदग्ध होकर अन्यथा-अन्यथा प्रलाप करता है तो उसे स्वार्थी समझकर तिरस्कृत करना चाहिये। आज बहुत से कथक्कड़ पैदा हो गये हैं। शास्त्र का गन्ध उनमें नहीं है और करने लगेंगे गीता आदि की दुर्व्याख्या। मूर्खों के बीच में उसका ऐसा महत्त्व बतायेंगे कि वही वास्तविक व्याख्या है। दयानन्द, श्रीरामशर्मा आदि सर्वथा ज्ञान से शून्य रहे हैं। कुछ व्याकरण की संगति लगाकर उलटा-सीधा अड़बड़ा तारतम्यहीन बक गये हैं। अपनी बकवास को परिपुष्ट करने के लिए ये परम्परानुगत महामनीषी सायण, महीधर,

उव्वट आदि वेदभाष्यकारों की आलोचना करते हैं जिनकी व्याख्या जैमिनि, वादरायण, गौतम, कात्यायन आदि महर्षियों के वेदानुकूल वचनों से मेल खाती है। न्यायनुगत पद्धति का तिरस्कार करके पाखण्ड फैलाने के लिए अन्यायमार्ग को ग्रहण कर लेना कितनी बड़ी नीचता है। आर्यावर्तनिवासियों की और वैदिकों की प्रतिपत्ति में कौन सी प्रतिपत्ति बलीयसी है, यह भी इसी न्याय से सिद्ध हो जाता है 'शास्त्रस्था वा तन्निमितत्वात्।' अत एव त्रिवृत्, चरु, अश्ववाल का मुख्य अर्थ होगा ऋङ्नवक, ओदन और औषधिविशेष (काश) न कि त्रैगुण्य, स्थाली और अश्व का केश। लौकिक प्रसिद्धि लक्षणा से भी उपपन्न हो सकती है। जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

शास्त्रस्था. प्रतिपत्ति र्या सैवात्र ज्यायसी भवेत्।
धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ससाधनफलात्मनः॥
अर्थवादकृताऽप्यर्थप्रतिपत्ति र्बलीयसी।
तद्ग्राह्यत्वादृते नान्यत्तस्या ह्यस्ति प्रयोजनम्॥
गौणो वा यदि वा मुख्यो वेदेनाश्रीयते हि यः।
स धर्मसाधनत्वेन पदार्थोऽध्यवसीयते॥

(तन्त्रवार्तिक)

तात्पर्य यही है कि ब्राह्मणग्रन्थ में विद्यमान अर्थवादों से उन्नीत प्रतिपत्ति की भी बलवत्ता मानी जायेगी क्योंकि अर्थवादों का वहाँ कोई और प्रयोजन नहीं होता चाहे मुख्य अर्थ हो या चाहे गौणी वृत्ति से आया हो, उसे वेदाश्रित ही होना चाहिये। वेदाश्रित होने के कारण ही वह पदार्थ धर्मसाधन के रूप में निश्चित होता है। वार्तिककार ने यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ को भी वेद कहा है। अतः जो केवल संहिता को ही वेद मानते हैं वे मोहग्रस्त होते हुए अधोमार्गगामी ही माने जायेंगे।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि केवल शिष्ट वैदिकों के प्रति ही शास्त्रकारों का पक्षपात नहीं है। म्लेच्छों की प्रसिद्धि को भी आदर दिया गया है जहाँ वेदों में आये शब्दों का अर्थ आर्यों में प्रसिद्ध नहीं है। जैसे नेम, सत, पिक, तामरस आदि शब्दों का अर्थ आर्यों में प्रसिद्ध नहीं है। अतः म्लेच्छों में प्रसिद्धि होने से म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ ही ग्रहण कर लिया जाता है। यहाँ म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ से अन्य अर्थ निगमनिरुक्तव्याकरण आदि से कल्पित नहीं होगा। जैसा कि भगवान् जैमिनि का स्पष्ट निर्देश है—

"चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन।"

(मीमांसासूत्र १.३.१०)

इसकी व्याख्या भाष्यकार करते हैं—

"चोदितमशिष्टैरपि शिष्टानवगतं यत् प्रमाणेनाविरुद्धं तदवगम्यमानं न न्याय्यं त्यक्तुम्॥" (शाबरभाष्य)

अर्थात् वेद में उपदिष्ट शब्द शिष्टों से ज्ञात न होता हुआ भी म्लेच्छों में प्रसिद्ध होता हुआ प्रमाण से विरुद्ध यदि नहीं है तो उसे त्यागना उचित नहीं। आगे भी भाष्यकार लिखते हैं—

"यत्त्वभियुक्ताः शब्दार्थेषु शिष्टा इति। तत्रोच्यते, अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च म्लेच्छाः" (शाबरभाष्य)

शब्दार्थरक्षण में यदि वैदिक ही तत्परतया लगे रहते हैं तो म्लेच्छ भी उनसे ज्यादा तत्पर पक्षियों के पोषण और बन्धन में लगे ही रहते हैं। अर्थात् कुछ व्यावहारिक पदार्थों में उनकी निपुणता का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसकी अन्य व्याख्या भी वार्तिककार करते हैं—

"चोदितं वा प्रमाणेन वेदेनेत्यस्य संगतिः।
आर्यैः सहाविरुद्धत्वात् तस्य तैरप्यपेक्षणात्॥"

अर्थात् यहाँ प्रमाणपद से वेद का ग्रहण होता है। वेद के द्वारा उक्त शब्द अर्थविशेष में आर्यों से विरोध न होने पर ग्राह्य है। म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ का आर्यों से विरोध तब होगा जब आर्यों में भी कोई अन्य अर्थ प्रसिद्ध होगा। आर्यों में प्रसिद्ध न होने से म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ ही ग्राह्य है। तात्पर्य यही है कि अविरोध होने पर दुर्बल से भी वस्तु ग्राह्य होता है। इस न्याय का संचार अन्यत्र भी कर सकते हैं। अतः नेम, सत, पिक, तामरस का क्रम से अर्ध (आधा), शतच्छिद्र परिमण्डल (गोला) लकड़ी का पात्र, कोकिल, पद्म अर्थ ही मान्य होगा।

इसी प्रकार वेदों में जहाँ गुणवृत्ति से शब्दप्रयोग है वहाँ आर्यसमाजिमूर्खों की तरह मुख्यता स्वीकार करना उचित नहीं। यजमानः प्रस्तरः, अग्नि वैं ब्राह्मणः, सुरा वै सोमः, आदित्यो यूपः, स्त्री वै ब्रह्मा इत्यादि स्थलों में स्तुति के लिए गौणीवृत्ति का सहारा लिया गया है। मुख्यता स्वीकार करके अर्थ का अनर्थ नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यही है कि शास्त्रतत्त्व के परिज्ञान के लिए शास्त्रज्ञ गुरु के सन्निध्य में यथाविधि विचार आवश्यक है।

पूर्वोक्त आर्यम्लेच्छाधिकरण में ही स्मृति और आचारों के बलाबल का विचार भी वार्तिककार ने किया है। पहले आचारों का धर्म में प्रामाण्य कहा गया है न कि स्मृति के साथ बलाबल की चिन्ता। अतः दोनों के बलाबल का विचार अत्यन्त अपेक्षणीय है। तथा हि तत्र पूर्वपक्षः—

स्मृत्याचारविरोधे वा साम्यवैषम्यसंशये।
समा विप्रतिपत्तिः स्यात् मूलसाम्याद् द्वयोरपि॥
यथैव श्रुतिमूलत्वात् स्मरणानां प्रमाणता।
आचाराणां तथैवेति न विशेषो बलाबले॥

(समाविप्रतिपत्तिरिति सूत्रयोजना वार्तिके)

यद् वाऽऽचारबलीयस्त्वं फलस्थत्वात् प्रतीयते।
फलाद् वियुज्यमानं हि प्रमाणं दुर्बलीभवेत्॥
श्रुतिराचारमूलं या फलस्था सोपलक्ष्यते।
यावद्धि स्मरणं दृष्ट्वा श्रुतिरन्याऽनुमास्यते॥
तावल्लब्धात्मकः पूर्वमाचारः प्रतितिष्ठति।
प्रतिष्ठितस्य बाधश्च कीदृशः परिकल्प्यताम्॥
तेनाचारबलीयस्त्वं समत्वं नेह युज्यते॥

(तेष्वदर्शनादिति सूत्रयोजना वार्तिके)

स्मृति और आचार का परस्परविरोध होने पर अथवा साम्य-वैषम्य का संशय होने पर दोनों के मूल में वेद के ही होने से समा विप्रतिपत्ति होनी चाहिये। दोनों के बलाबल में इस प्रकार से कोई विशेष सिद्ध नहीं होता। फलतः तुल्यबलत्वेन विकल्प होगा।

या यह भी कहा जा सकता है कि फल में विराजमान होने से आचार ही स्मृति से बलवान् होगा। प्रमाणों का कोई फल होना चाहिये। फल से वियुक्त होने पर प्रमाण दुर्बल हो जाता है। आचार की मूलभूत श्रुति फलस्थ ही उपलब्ध होती है अर्थात् उस श्रुति से बोधित पदार्थ का अनुष्ठान होता रहता है। जब तक स्मृति को देखकर तन्मूल अन्य श्रुति का अनुमान होगा तभी पहले ही अनुष्ठानविधा में रहने के कारण आचार प्रतिष्ठित ही रहता है। जो प्रतिष्ठित है उसका बाध क्योंकर कल्पित होगा। अतः स्मृति से आचार ही बलवान् होता है। एवं स्मृति और आचार की समता स्वीकार करना उचित नहीं।

सिद्धान्तपक्ष

वेदार्थज्ञान से आप्लावित शिष्ट त्रैवर्णिकों के द्वारा प्रणीत स्मृति सम्यक् ग्रथित होती है अतः उससे निर्विघ्नतया श्रुति का अनुमान हो जाता है। एवम् दोनों का श्रुतिमूलत्व तुल्य नहीं। क्यों? आचार से स्मृति का ज्ञान, तत्पश्चात् श्रुति का ज्ञान होता है। अतः आचारों का प्रामाण्य द्व्यन्तरित (दो से व्यवहित) होने से विप्रकृष्ट हुआ। स्मृति से सीधे श्रुति का अनुमान होता है, अतः परस्पर विरोध होने से स्मृति का ही प्राबल्य होगा। फलतः आचार प्रामाण्य का बाध होगा। इसी अर्थ में सिद्धान्तसूत्र की योजना भी होगी—

शास्त्रस्था हि तन्निमित्तत्वात्।

यहाँ 'शास्त्र' शब्द से स्मृति का ग्रहण होगा। 'तत्' शब्द से वेद गृहीत है। तथा च—

शास्त्रस्था अर्थात् स्मृति से जायमान प्रतिपत्ति (ज्ञान) बलवती होगी। क्यों? तस्या वेदमूलत्वात्, अर्थात् उस प्रतिपत्ति के मूल में वेद है। आचारों के मूल में स्मृति है। कथम्? जितने भी आचार प्रतिष्ठित हैं उन सारे आचारों की प्रवर्तिका श्रुति केवल एक नहीं हो सकती। यदि अनेक श्रुतियों को उन आचारों के मूल में स्वीकार करते हैं तो बिना उनके स्मरण के प्रवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि आचारों की विधि किसी एक प्रपाठक में विद्यमान नहीं है। ये विधियाँ कहीं-कहीं किसी प्रकार से तत्तत्प्रकरणों के बीच में मिलती हैं। तथाहि—अग्निचयन के प्रकरण में यह वाक्य आता है—

''यत् सप्तदशवतीमुपधावति अन्नमेवोभयतो दधाति तस्मादुभाभ्यां हस्ताभ्यां परिगृह्य पुरुषोऽन्नमत्ति।'' (का०सं० २०-१२)

यह श्रुति पात्रधारणपूर्वक भोजनाचार का मूल है, अतः यहाँ उत्तर वाक्य से विधि का अनुमान करते हैं। भाष्यकार ने भी औदुम्बराधिकरण में कहा है—'विधायिष्यते तु वेदे वचनेन।' प्रकरण से उत्कर्ष करके पुरुषधर्म-विधि स्वीकार की जाती है। एममन्यत्र भी—

''तस्मात् प्रजा दश मासान् गर्भं धृत्वा एकादशमनुप्रजायन्ते तस्मादश्वतर्यः प्रजा, तस्मादुत्तरे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति।''

यह श्रुति वृद्ध माता-पिता की सेवा का मूल है। एवम्—

''अन्नमेव दक्षिणतो दधाति तस्माद् दक्षिणेन हस्तेन पुरुषोऽन्नमत्ति इति। तथा दीक्षितो नयनं दक्षिणं प्रथममङ्क्ते सव्यं हि मनुष्याः पूर्वमञ्जते विधृत्यै इति।'' (तै०सं०_६.१)

यह श्रुति दक्षिण हाथ से भोजन करने और दक्षिण नयन के प्रथम अञ्जनाचार का मूल है। यहाँ भी न्यायात् पुरुषधर्मविधि स्वीकार्य है। तथा यूपैकादशनी में—

"द्वे द्वे रशने यूपमृच्छतः। तस्मात् स्त्रियः पुंसोऽतिरिक्तास्त-स्मादुतैको बह्वी र्जाया विन्दते नैका बहून् पतीन्।"

यह श्रुति पुरुष के अनेकपत्नीपरिग्रह का और स्त्री के एकपति-परिग्रह का मूल है। एवमेव दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में अग्नीषोमीय-यागविधि का अतिक्रमण करके त्वाष्ट्रवधनिमित्त इन्द्रगत ब्रह्महत्या के चतुर्थभाग के प्रतिग्रह के प्रस्ताव में आये रजस्वला के भूमिशयन, अस्नान, अमांसभक्षण, अनभ्यङ्ग (तेल न लगाना) अनञ्जन, अविलेखन, अकर्तन, अदन्तधावन, अनखच्छेदन, अरज्जुसंसर्जन इत्यादि त्रिरात्रविषयक व्रतों में प्रकरणातिरिक्त स्त्रीधर्मत्व का निश्चय होता है। इस प्रकार से तत्तदाचारों की मूलभूता श्रुति के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में बिखरे होने से एक जगह इकट्ठा करना सम्भव नहीं। अतः आचारों और श्रुतियों के मध्य में स्मृति का होना आवश्यक है। अतः आचारों से स्मृतियों की बलवत्ता है। जैसा किं वार्तिककार कहते हैं—

तेनाऽऽचारः स्मृतिं यावदनुमातुं प्रवर्तते।
स्मृति र्लब्धश्रुति स्तावद् धर्ममेवावधारयेत्॥

(तन्त्रवार्तिक)

जब तक आचार स्मृति का अनुमान करायेगा तब तक लब्धश्रुति स्मृति धर्म का निश्चय करा देगी। अपि च—

स्मृति के ग्रथित होने से कर्तव्यतावाची विधिप्रत्यय वहाँ होता है। आचार को देखकर कर्तव्यतावाची विधिप्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है। क्लृप्तकल्प्ययोः क्लृप्तं बलीयः, इस न्याय से भी स्मृति की ही बलवत्ता स्वीकार की जाती है।

मातुलसुतादिविवाहविषयकाचारप्रामाण्यमीमांसा

मातुलकन्याविवाहविषयक आचार आन्ध्र में प्रचलित है जिसका विरोध स्मृतियों से होता है। वे स्मृतियाँ हैं—

मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रान्तथैव च।
समानप्रवराञ्चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(शातातपस्मृति)

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपगच्छेत्तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनानुपयेयास्ताः पतति ह्युपयन् नरः॥ (मनुस्मृति)

यहाँ पर कुछ विद्वान् मातुलसुतादिविषयक विवाह का समर्थन करते हुए दिखायी देते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि यदि मातुलकन्याविवाह को केवल आचारप्रामाण्याधिकरणन्याय से ही धर्म माना जायेगा तो स्मृति-विरुद्ध आचार के प्रमाण न होने से वह अधर्म ही होगा। देशभेद से धर्माधर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती। वार्तिककार का आचारप्रामाण्याधिकरण में यही अभिप्राय है। यदि मातुलकन्याविवाह को वेदमन्त्रगत लिङ्गों से धर्म माना जायेगा तो वेद की अपेक्षा दुर्बल स्मृतियों के बल से उनका अधर्मत्व नहीं माना जाना चाहिये। इसी न्याय से—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरायाणां स सदाचार उच्यते॥

इस वचन की व्याख्या स्मृति से अविरुद्ध कुलधर्मपरक वार्तिककार ने की है, यह बात सिद्ध होती है।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न दुष्यति॥

यह मनुवचन भी 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस न्याय को परिपुष्ट करता हुआ अविरुद्ध ही है। सर्वथा स्मृतिविरुद्ध कुलधर्म प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। मातुलकन्याविवाह का आचार तो साक्षात् वेद से प्रमाणित है, अतः दुर्बल स्मृति के बल से वह अधर्म कैसे हो सकता है? तात्पर्य यही है कि होलाकाधिकरणन्याय से कोई भी आचार देशविशेष में धर्म और देशविशेष में अधर्म नहीं होता। होलाकाधिकरण में—

जैसे स्मृतियों में पाठव्यवस्था है कि गौतमीय स्मृतियों को सामवेदी ही पढ़ेंगे, वाशिष्ठस्मृति को ऋग्वेदी ही पढ़ेंगे, शङ्खस्मृति को शुक्लयजुर्वेदी ही पढ़ेंगे, आपस्तम्बबोधायन स्मृति को तैत्तिरीयशाखाध्यायी ही पढ़ेंगे, वैसे ही आचारों में कर्तृव्यवस्था से प्रामाण्य की व्यवस्था होनी चाहिये कि होलाकाचार प्राच्यों के लिए ही, स्वस्वकुलागत करञ्ज-मन्दारादिस्थावर-पूजा का आचार जिसे आह्नीनैबुक भी कहते हैं, दाक्षिणात्यों के लिए ही,

ज्येष्ठापौर्णमासी में बैलों की पूजा करके उन्हें दौड़ाने का आचार जिसे उद्वृषभयज्ञ भी कहते हैं, उदीच्यों के लिए ही, यही यज्ञ भाद्रपद की अमावस्या में दाक्षिणात्यों के लिए ही तथा मातृगण की पूजा का आचार प्रतीच्यों के लिए व्यवस्था से धर्म होना चाहिये। इन आचारों के द्वारा अनुमेय श्रुति भी तत्तद्देशविषयक विशेष ही होनी चाहिये, ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके यद्यपि अनुमापक आचार नियतविषय वाले हैं तथापि अनुमेय श्रुति में प्राच्यत्वादि विशेषण को रखना उचित नहीं। क्यों? प्राच्यत्वादि का सारे आचरणकर्ताओं में जाति-गुण-व्यक्ति-अवयवसंस्थानों के द्वारा निर्वचन न होने से। कुतः? बहुत से मनुष्य ऐसे हैं कि वे पूर्वादि देश में रहते हुए भी आचरण नहीं करते। दूसरे देश का प्राणी दूसरे देश में आकर वहाँ के आचारों को अपना लेता है, इसलिए भी प्राच्यत्वादि का निर्वचन ही शक्य नहीं। अतः विशेषण के अभाव के कारण पूर्वोक्त सारे आचार हर देश के निवासियों के लिए धर्म ही माने जायेंगे। स्मृतियों में भी कर्तृव्यवस्था नहीं है। किसी भी स्मृति को कोई भी त्रैवर्णिक पढ़ सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि स्मृति का कर्ता जिस शाखा का था वह अपनी स्मृति को अपने शिष्यों को पढ़ाया। इस प्रकार शाखाविशेष वालों के लिए स्मृतियों की व्यवस्था है, यह भ्रान्ति फैली। एवम् दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक, दोनों जगहों में व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं है, यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। तथा च, मातुलकन्याविवाह को श्रुतिसिद्ध मानने वालों के लिए श्रुतिविरुद्ध स्मृति का अप्रामाण्य ही सारे देशों में आयेगा। आचार तो सर्वत्र धर्म ही होगा। इस प्रकार आचारप्रामाण्याधिकरण में वार्तिककार ने जहाँ भी मातुलकन्याविवाह को अधर्म कहा है वह वस्तुगति को लेकर नहीं कहा है। एवम्—

पशुहिंसादिसम्बन्धे यज्ञे तुष्यन्ति हि द्विजाः।
तेभ्य एव तु यज्ञेभ्यःशाक्याः क्रुध्यन्ति पीडिताः॥
मातुलस्य सुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति।
अन्ये तु सव्यलीकेन मनसा तन्न कुर्वते॥

इस वार्तिक का भी यही तात्पर्य होना चाहिये कि द्विजसन्तोषाधायक पशुयाग बौद्धों के असन्तोष का कारण होता हुआ भी जैसे श्रुतिविहित होने से अधर्म नहीं है वैसे ही दाक्षिणात्यसन्तोषकारण मातुलकन्याविवाह अन्यों

के असन्तोष का कारण होता हुआ भी अधर्म नहीं है। श्रुतिविहित होने से ही। यदि आचारप्रामाण्य से उसे धर्म स्वीकार किया जायेगा तो स्मृतिविशेष के कारण वह अधर्म हो सकता है किन्तु वैसा हम नहीं मानते। किन्तर्हि? श्रुतिविहित होने से उसे हम धर्म मानते हैं। वह श्रुति कौन है जिससे मातुलकन्याविवाह को धर्म सिद्ध करने पर आप तुले हुए हैं? श्रूयताम्। अनेक श्रुतियाँ विद्यमान हैं—

"आयाहीन्द्र! पथिभिरीडितेभि र्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व।
तृप्तां जहु र्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वस्रेयी वपामिव॥"

(ऋ०सं० ४-५-४-२३)

हे इन्द्र। प्रशस्त मार्गों से हमारे इस यज्ञ में आओ तथा आज्य से सिक्त वपारूप अपने भाग को ग्रहण करो! यह वपा आप का भाग वैसे ही है जैसे मातुल का अपत्य (जहुः) भागिनेय की योषा अर्थात् स्त्रीरूप से भाग है तथा पितृभगिनी-कन्या मातुलपुत्र का भाग है। इस मन्त्र में विद्यमान मातुलकन्या विवाह और पैतृष्वस्रेयीविवाह का लिङ्ग विधि का अनुमापक होगा।

एवमेव स्रुग्व्यूहनविधि के वाक्यशेष में श्रुत है—

"तस्मात् समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायते। उत तृतीये संगच्छामहै। चतुर्थे संगच्छामहै। तदेवं दीव्यमाना जात्या आसते।"

समानादेव = एक ही पुरुष से अत्ता = भार्या का भोक्ता पुरुष अद्यश्च = भोग्य (भार्यालक्षण) जायते = उत्पन्न होता है। ऐसा उक्त होने से उत्पन्न भ्रातृभगिनी का सम्बन्ध न हो, इसके लिए है—'उत तृतीये संगच्छामहै।' यहाँ 'उत' शब्द पूर्वोक्त शङ्का के निरास के लिए है। अतः कूटस्थ से उत्पन्न तृतीय-चतुर्थ में विवाहनामक संगति करते हैं। इस प्रकार से क्रीडा करते हुए जाति से कुलीन भी बने रहते हैं। यह भी मातुलकन्या-पैतृष्वस्रेयी के विवाह में लिङ्ग है जो विधि का अनुमापक होगा।

इस प्रकार श्रुति से सिद्ध मातुलकन्याविवाह और पितृभगिनीकन्या-विवाह का आचार कथमपि अधर्म नहीं है॥

इस मत को अन्य शिष्ट विद्वान् अनादरपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं। तथा हि—

पूर्वोक्त मन्त्रलिङ्ग से अनुमित मातुलकन्यादिविवाह की विधि कौन सी विधि है? नियमविधि है कि अभ्यनुज्ञाविधि है? विधि के तीन प्रकार

होते हैं—(१) नियमविधि, (२) परिसंख्याविधि और (३) अपूर्वविधि। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते॥

(तन्त्रवार्तिक मन्त्रप्रामाण्याधिकरण)

"शब्दतः फलतो वा यत्रायोगव्यावृत्ति वांक्यार्थः स नियमविधिः। शब्दतः फलतो वा यत्रान्ययोगव्यावृत्ति वांक्यार्थः स परिसंख्याविधिः। एतदुभयभिन्नविधित्वं परिसंख्याविधित्वमिति।"

पाक्षिक प्राप्ति होने पर एक पक्ष में जिसका अयोग होता है उसे दूर करने वाले विधि को नियम विधि कहते हैं। जैसे 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' यहाँ ऋतुकाल में भार्यागमन पाक्षिक प्राप्त है, अर्थात् जब ऋतुकाल में भार्यागमन नहीं करते तब उसका अयोग होगा। उस समय भार्यागमन करना ही चाहिये, यह अयोगव्यावृत्ति वाक्यार्थ होगा। न करने पर पाप होता है। पञ्च 'पञ्चनखा भक्ष्याः' यहाँ परिसंख्याविधि है। यहाँ पञ्चातिरिक्त पञ्चनख प्राणी कुत्ते-बिल्ली-वानर आदि की निवृत्ति ही वाक्यार्थ है न कि—

'शल्लकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः' इन पाँच पञ्चनखों के भक्षण की विधि। 'यजेत स्वर्गकामः' में अपूर्व विधि है क्योंकि याग स्वर्ग का साधन है, यह उक्त वेदवाक्य के अतिरिक्त किसी भी प्रमाण से अत्यन्त अज्ञात (अप्राप्त) है। श्रुतिलिङ्ग से अनुमित विधि को नियमविधि नहीं मान सकते। क्यों? अकरण में निन्दाश्रवण का अभाव होने के कारण। जहाँ नियम विधि है वहाँ न करने पर दोष बताया जाता है। जैसे ऋतुकाल में भार्यागमन न करने पर यह दोष श्रुत है—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पात्यते नात्र संशयः।

(पराशरस्मृति)

ऋतुस्नातभार्यागमन पास रहने पर भी जो नहीं करता उसे भीषण भ्रूणहत्या का पाप लगता है। आज भ्रूणहत्या सामान्य बात हो गयी है। कई-कई डॉक्टर इस काम को बेझिझक खुलेआम कर रहे हैं। इस निन्दित कार्य पर विराम लगना चाहिये। धर्मप्राण भारत में तो यह काम नहीं ही होना चाहिये। अस्तु! मातुलकन्यादिविवाहविधि के नियमविधि होने पर अवश्य न करने पर दोष का श्रवण होता। अतः वह नियमविधि नहीं है।

'निषेधविषयविषयकत्वमभ्यनुज्ञाविधित्वम्', यह अभ्यनुज्ञाविधि का लक्षण है। अर्थात् निषेध का जो विषय है तद्विषयक विधि अभ्यनुज्ञाविधि है। जैसे 'नानृतं वदेत्' इस निषेध का विषय है अनृतभाषण अर्थात् झूठ बोलना, क्यों कि 'झूठ नहीं बोलना चाहिये', ऐसा निषेध उक्त वाक्य से होता है। उसी निषेध के विषय अनृतभाषण की विधि अभ्यनुज्ञाविधि कही जायेगी। जैसे 'कन्याविवाहादावनृतं वदेत्' अर्थात् कन्याविवाहादिप्रसङ्ग में झूठ बोलना चाहिये। सर्वत्र अभ्यनुज्ञाविधि में यह तात्पर्य होता है कि उक्त कार्य करने में दोष नहीं है। इस पर मातुलकन्याविवाह का समर्थक यह कहेगा कि इतने से ही हमारा काम है। मातुलकन्याविवाह में कोई दोष नहीं, यह तो हम सिद्ध करना चाहते हैं। महानुभाव! यह आप की इष्टसिद्धि सम्भव नहीं क्योंकि मातुलकन्याविवाहविधि अभ्यनुज्ञाविधि भी नहीं हो सकती। यदि उसे अभ्यनुज्ञाविधि स्वीकार करेंगे तो अभ्यनुज्ञाविधि के दोषाभावमात्र का प्रतिपादक होने से उसे रागप्राप्ति का ही उपजीवक मानना पड़ेगा। राग से हर समय सभी के विवाह की प्राप्ति नहीं होती, अतः पाक्षिकानुवाद से मुक्ति नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि उसी का विधान विधि से होता है जो किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। ज्ञात होने पर अनुवाद मात्र होता है—'प्राप्तकथनमनुवादः'। फलतः वह मन्त्रलिङ्ग से अनुमित विधि ही नहीं होगा। फिर श्रुतिसिद्ध मातुलकन्याविवाह का आचार है, यह कहने का अवसर ही नहीं रहेगा। अतः विधिकल्पना के बिना ही उक्त मन्त्र पाक्षिकानुवाद मात्र रहे। अन्यथा 'प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरम्', यहाँ पर भी स्वकन्याविवाहविषयक अभ्यनुज्ञाविधि की आपत्ति होने लगेगी। अत एव—

सप्तमात् पञ्चमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा

यह वचन भी उपपन्न होगा। इस प्रकार से मातुलकन्याविवाह का दुराचारत्व ही सिद्ध होगा। 'स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति' यह वार्तिकवचन भी दुराचारत्व का ही साधक उक्त न्याय से होगा। अतः मातुलकन्याविवाहाचार के समर्थक की इस वार्तिक की अन्यथा व्याख्या किसी भी प्रकार से ग्राह्य नहीं मानी जायेगी। यह धर्म पूरी पृथ्वी के मानवमात्र का धर्म है। मुसलमानों में भातृभगिनी का दूध बरका कर विवाह करना भी सदाचार की कोटि में नहीं आयेगा। विधिवत् विचार करके इस दुराचार का वर्जन होना ही चाहिये।

कल्पसूत्रों का वेदत्वाभावसाधन

अब तक स्मृति और आचारों का साक्षात् परम्परया वा मूलभूतवेदो-पस्थापकतया प्रामाण्य व्यवस्थापित किया गया। कल्प-सूत्रों के विषय में यह अधिक आशङ्का होती है कि इनका प्रामाण्य स्मृतिन्याय से ही होगा या साक्षाद्वेदत्वेन या वेदतुल्यत्वेन । कुछ मर्यादाविध्वंसक शक्तियाँ वेद और तदाचार के दूषण में लगी हुई हैं। कल्पों में कुछ वचन न्यायाभासमूलक भी हैं। मर्यादाविध्वंसक शक्तियाँ उन्हीं वचनों को लेकर अपने पाखण्ड के परिपोषण में लग कर एक प्रकार से राष्ट्र को ही दूषित कर रही हैं और यह तथाकथित धर्मनिपेक्षशासनतन्त्र उनका समर्थन और सहयोग भी कर रहा है। कहाँ तक कहा जाय, अँगूठा छाप भी अब धर्मग्रन्थों की व्याख्या में लग कर अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं। जनता उन्मादग्रस्त होकर उनका अनुगमन भी कर रही है। बड़े-बड़े डॉक्टर या अन्य अधिकारिवर्ग भी शास्त्रतत्त्व से अत्यन्त विमुख होकर उनके संवर्धन में ही लग गये हैं। अतः अज्ञानमूलक गड्डलिकाप्रवाह को रोकने के लिए प्रकृत विचार भी नितान्त अपेक्षणीय है। सर्वप्रथम कल्प और सूत्रों में क्या भेद है, इसका उपपादन कर देना आवश्यक होगा। कल्प-सूत्रों के भेदोपपादन में वार्तिककार कहते हैं—

सिद्धरूपः प्रयोगो यैः कर्मणामनुगम्यते।
ते कल्पाः लक्षणार्थानि सूत्राणीति प्रचक्षते॥

(तन्त्रवार्तिक)

जिनके द्वारा कर्मों के सिद्धरूप प्रयोग का बोध होता है वे कल्प कहलाते हैं तथा लक्षणों की जो सूचना देते हैं उन्हें सूत्र कहते हैं। प्रयोगों को कल्पित (व्यवस्थापित) करने से 'कल्प' संज्ञा प्राप्त हुई है—कल्पयति प्रयोगानिति कल्पः। बौधानीय-वाराह-माशक आदि ग्रन्थ कल्प के ही भीतर आयेंगे। अपनी संज्ञा और परिभाषा के द्वारा उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र), अपवाद (विशेषशास्त्र) से युक्त, हेतुदृष्टान्त वाले लक्ष्यव्यापी सूत्र होते हैं। आश्वलायनक, द्राह्यायणीय आदि ग्रन्थ सूत्र में आयेंगे। इस प्रकार कल्प और सूत्रों का भेद स्पष्ट है।

स्मृतिग्रन्थों में निलीन (छिपे हुए), बिखरे पड़े अर्थवाद-मन्त्र के लिङ्गों से उन्नीत विधियों का उपनिबन्धन होता है। कल्पसूत्रों में वैपरीत्य है। वहाँ पर सम्पूर्णरूप से प्रत्यक्ष वेदों के द्वारा प्रतिपाद्य प्रयोगोपयोगी पदार्थों

का निरूपण होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्मृत्यधिकरणन्याय से कल्पसूत्र-विषयक विचार गतार्थ नहीं हो सकता। क्यों? वेदों में जैसे, जिस क्रम से पदार्थ प्रतिपादित हैं, कल्पों में भी वैसे ही हैं। शब्दों की भी प्रायः समानता दिखायी देती है। अतः कल्पों का प्रामाण्य वेदवत् या वेदतुल्यतया ही मानना चाहिये न कि स्मृतिवत् वेदमूलकतया।

अथवा, सारे स्मृतिग्रन्थ और वेदों के सभी षट् अङ्ग यहाँ उदाहरण होंगे। इन सभी का वेदमूलकत्वरूप से प्रामाण्य मानने का कष्ट क्योंकर किया जाय। क्यों न इन सारे शास्त्रों को साक्षात् वेद या वेदसमान मान लिया जाय। भगवान् जैमिनि के 'प्रयोगशास्त्रमिति चेत्', (मीमांसासूत्र १.३.११) इस सूत्र में आये 'प्रयोगशास्त्र' शब्द से सारे वेदाङ्गों का ही ग्रहण कर लेना चाहिये। अङ्गों को भी वेद कहा ही जाता है। जैसा कि गोतम का स्मरण है—

"मन्त्रब्राह्मणयो र्वेद इति नामधेयम्, षडङ्गमेके।"

शाक्यादिवेदविरोधियों का पुनरुत्थान

ऐसा मान लेने पर बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि वेदविरोधी क्यों पीछे रहेंगे। अपने-अपने अशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रामाण्यव्यवस्थापन में तत्परता से जुड़ेंगे ही। वे कहेंगे कि उनके ग्रन्थ स्मृतिग्रन्थ न होकर वेदशाखाओं के ही समान अपौरुषेय हैं। कहते ही हैं कि उनके द्वारा स्वीकृत मार्ग धर्म है और नित्य भी—

उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद् वा स्थितैवेयं धर्मनित्यता।

जैसे वेदों में काठकादि समाख्या प्रवचन को निमित्त मानकर उपपन्न होती है वैसे ही माशक, बौधायनीय आदि समाख्या की भी उपपत्ति हो जायेगी। बुद्ध आदि के ग्रन्थों में भी प्रवचननिमित्तया समाख्या की उपपत्ति हो ही जायेगी। इस प्रकार बौद्ध-जैन आदि के आगम भी वेद के समान ही नित्य अपौरुषेय हो जायेंगे। फिर उनके द्वारा उक्त मार्ग भी चोदनालक्षण धर्म ही हो जायेगा। ऐसा होने पर भारतीय संविधान भी शास्त्रसंमत होगा और नेताओं की वेदों और तदाचारों की विनाशकनीति भी सफल होगी। वार्तिककार ने कहा भी है—

"कामं न प्रविशेद् ग्रामं वारितो दण्डपाणिभिः।
स्पष्टं महापथेनैव संप्रति प्रविविक्षति॥"

'आचार्यवचः प्रमाणम्' इस श्रुति के बल से अङ्गों और अन्य स्मृति-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य ही हैं। याज्ञिकगण वेदों के बिना भी कल्पों से ही कर्मों को करते हैं। जैसे वेदों का अध्ययन व्रतादिनियमपूर्वक होता है वैसे ही कल्पस्मृतिपुराणों का भी। अतः वेद या वेदतुल्यता ही इनकी माननी चाहिये। इसी न्याय से बौद्धादिकों के ग्रन्थ भी अपौरुषेय होते हुए धर्माधर्म में स्वतः प्रमाण हों। दण्डधारियों के द्वारा ग्रामप्रवेश को यदि रोक दिया जा रहा है तो स्वतःप्रामाण्यवादरूप इस महामार्ग से बौद्ध-जैन-ईसाई-मुसलमान आदि अपने लक्ष्य की ओर जाना ही चाहेंगे। जैसे षडङ्ग वेद सिद्ध होंगे वैसे ही बौद्धादिकों के भी त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान, हदीस आदि वेद की शाखाओं में आ ही जायेंगे। नित्यब्रह्मयज्ञविधि से अङ्गशास्त्रों का नित्यत्व सिद्ध होगा। ब्रह्मयज्ञ विधान में—

एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीयीत

यह उपक्रम करके आगे कहा गया है—

"यदृचोऽधीते यद्यजूंषि यत् सामानि, यद् ब्राह्मणानि यदितिहासपुराणानि यत् कल्पान्।"

अर्थात् ब्रह्मयज्ञविधि के विषय होने के कारण अङ्ग-पुराण जैसे नित्य अपौरुषय ग्रन्थ सिद्ध होते हैं वैसे बौद्धादिकों के आगम भी होंगे। बौद्ध-जैन-ईसाई-मुसलमान भी अपने ग्रन्थों की पूजा करते हैं, उनका पाठ करते हैं। वही उनका ब्रह्मयज्ञ होगा।

यदि इस पर कोई आक्षेप करे कि बौद्धादि स्वतःप्रामाण्यवादी नहीं है। वे आप्तोच्चरितत्वरूप गुण के द्वारा ही प्रामाण्य मानते हैं। यदि वे अपने आगमों को अपौरुषेय मानेंगे तो उनका सिद्धान्तभङ्ग होगा॥ उनका सिद्धान्त तो न्यायवादी मनीषियों के द्वारा ध्वस्त ही कर दिया गया है। यदि उन्हें स्वतः प्रामाण्यरूप मीमांसकमार्ग से ही जीवन मिलता है तो अपने सिद्धान्त को ढोने में क्या लाभ है। वे भी स्वतःप्रामाण्यवादी हो जायेंगे। उनके मार्ग को धर्म की मान्यता तो मिल जायेगी। जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

यावदेवोदितं किंचिद् वेदप्रामाण्यसिद्धये।
तत्सर्वं बुद्धवाक्यानामतिदेशेन गम्यते॥
तेन प्रयोगशास्त्रत्वं यथा वेदस्य संमतम्।
तथैव बुद्धशास्त्रादे र्वक्तुं मीमांसकोऽर्हति॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी कहा गया है वह सब बुद्धादि के वाक्यों की प्रामाण्यसिद्धि में उपयोगी हो जायेगा। अतः जैसे वेद कर्मों के प्रयोगों का शास्त्र माना जाता है वैसे ही बुद्ध के शास्त्र हैं, ऐसा मीमांसकों को कहना ही पड़ेगा। सर्वथा बुद्धादिकों के ग्रन्थों को धर्मग्रन्थ माना जाय और उनके द्वारा बोधित मार्ग को धर्म। ऐसा होने से धर्मनिरपेक्षता भी राष्ट्र की सुस्थिर रहेगी और धर्मान्तरण में भी दूर तक बाधा का दर्शन नहीं होगा।

समाधान

जो कुछ भी कहा गया वह कथमपि उचित नहीं। कल्पों और षडङ्गों को वेद या वेदतुल्य नहीं माना जा सकता। क्यों? इस पर सूत्रकार कहते हैं—

नासन्नियमात्। (मीमांसासूत्र, १.३.१२)

सम्यग्निबन्धनाभावादित्यर्थः। जिस तरह से वेदों में उदात्त-अनुदात्त-स्वरित तथा सप्त स्वरों का सम्यक् निबन्धन है वैसा कल्पसूत्रों और षडङ्गों में नहीं है। वेदों में अर्थवादों की बहुलता है, कल्पादिकों में नहीं। इस प्रकार वेदों से वैधर्म्य उनमें स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। वेद ही अपौरुषेय हैं, कल्पादि नहीं। वेदों का अपौरुषेयत्व इसीलिए स्वीकार किया जाता है कि उनके अविच्छिन्नसम्प्रदाय होने पर भी स्मर्तव्य कर्ता का स्मरण नहीं होता। यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो अनादि अध्ययन की परम्परा में कर्तृविशेष का स्मरण होता। स्मरण नहीं होता, अतः वेद अपौरुषेय हैं। मन्वादिशास्त्रों के कर्ता का अध्ययनपरम्परा में स्मरण होता आया है कि इन ग्रन्थों को मन्वादि ऋषियों ने बनाया है। अतः सामान्यतः जब निश्चित हो गया कि कल्पादि षडङ्गों के कर्ता हैं तो बौधायनीय आदि समाख्या को प्रवचनहेतुतया उपपन्न नहीं कर सकते। कर्तृविशेषरूप से ही समाख्या का नयन करना पड़ेगा। नैयायिक वेदों को ईश्वर का वाक्य मानकर पौरुषय इसलिए नहीं मानते कि परम्परा द्वारा ईश्वर का वेद के कर्ता के रूप में स्मरण होता है। उनका वेदों का पौरुषेयत्व मानना न्यायाभासमूलक है। वे देखते हैं कि लोक में वाक्य पौरुषेय होते हैं, अतः वेदों को भी पौरुषेय होना चाहिये। वेद का कर्ता साधारण पुरुष तो नहीं हो सकता, अतः ईश्वर ही होगा। उनका यह तर्क न्यायभासमूलक ही है, वास्तविक नहीं।

बौद्ध-जैन-ईसाई-मुसलमानों के ग्रन्थ वेदों की तरह अपौरुषेय हो ही नहीं सकते। क्यों? असन्नियमात्। असत् पदार्थों का नियमन होने से अथवा अविद्यमान पदार्थों का निबन्धन होने से। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ धर्म के रूप में व्यवस्थित नहीं हैं उनका भी निरूपण वेदविरोधियों के ग्रन्थों में है। बौद्धों के मत में बाह्य पदार्थों की जब सत्ता ही स्वीकार नहीं की जाती, फिर उनका निबन्धन कैसे सम्भव है। अतः वेदों में उपदिष्ट साध्यसाधनभाव देखकर ही स्वबुद्धि से परिकल्पना करके वे वैसा ही असत् पदार्थों का निरूपण करते हैं। उनके ग्रन्थों में भी तत्तत्कर्ताओं का स्मरण होता है, अतः उनके ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हो सकते। अपि च, वेदों में जैसे व्याकरणोक्त नियम होते हैं वैसे बौद्धादिकों के ग्रन्थों में नहीं है और वेदों में जैसे अनुष्ठान के नियम होते हैं वैसे बुद्धादि के द्वारा भाषित ग्रन्थों में नियम नहीं हैं। अतः बुद्ध-महावीर-ईसा-मोहम्मदादि के द्वारा भाषित ग्रन्थ शास्त्र नहीं हो सकते। वार्तिककार भी कहते हैं—

वेदे यथोपलभ्यन्ते नैवं शाक्यादिभाषिते।
प्रयोगनियमाभावादतोऽप्यस्य न शास्त्रता॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् जैसे वेदों में प्रयोग (अनुष्ठान) के नियम उपलब्ध होते हैं वैसे बुद्धादि के द्वारा भाषित ग्रन्थों में नहीं हैं, अतः प्रयोग के नियम का अभाव होने से उनके ग्रन्थ शास्त्र नहीं हो सकते।

धर्मबोधक पूर्वोक्त अष्टादश विद्याओं में व्याकरणशास्त्रोक्त नियम हैं, अतः उन्हें शास्त्र की संज्ञा प्राप्त होती है। बौद्ध-जैन ग्रन्थ तो प्रायः मूल संस्कृत शब्दों से भ्रष्ट अपशब्दों से भरे पड़े हैं। कहीं-कहीं ही उनके ग्रन्थों में प्रज्ञप्ति-विज्ञप्ति-पश्यत-आतिष्ठत आदि मूलरूप से अभ्रष्ट मिलते हैं।

ईसा-मूसा-मोहम्मद आदि के ग्रन्थ तो अत्यन्त भ्रष्ट शब्दों में लिखे गये हैं। प्रायः म्लेच्छभाषा में ही उनके ग्रन्थ दिखायी देते हैं। ऐसी अवस्था में वे अपौरुषेय कैसे हो सकते हैं? बुद्ध आदि के द्वारा प्रयुक्त पद प्रसिद्ध, अपभ्रष्ट देशीय भाषाओं से भी भ्रष्ट दिखायी देते हैं। जैसे 'भिक्खवे' यह पाकृत पद द्वितीयाबहुवचन के स्थान में ही एकारान्त दृष्ट है, न कि प्रथमाबहुवचन और संबोधन में भी। बुद्ध ने प्रथमाबहुवचन और संबोधन में भी प्रयोग किया है। प्राकृत अपभ्रंश में 'संस्कृत' शब्द के स्थान में दो 'क' का संयोग, अनुस्वारलोप, ऋवर्ण की जगह पर अकारमात्र होता है, न

कि डकार। इस प्रकार असाधु शब्दों से रचे जाने के कारण भी बुद्धादि के ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हो सकते। वेदों में ऐसा कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता। पहले तो अनादि अध्ययनपरम्परा से अनुगत होने के कारण कहीं भी स्वर में भी भेद नहीं आया है। व्याकरण में स्वर का जैसा नियम है वैसे ही वेदों में स्वर अखण्डित ही चले आ रहे हैं। निश्चय ही पुरुष की बुद्धिमात्र से वैसा सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि वेदों में वैसे पदार्थों का निरूपण मिलता है जहाँ किसी भी पुरुष की बुद्धि नहीं जा सकती। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही देख लीजिये—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥

यहाँ पर अग्नि का पुरोहित के रूप में, यज्ञ के देव और ऋत्विक् के रूप में, देवों के आह्वानकर्ता के रूप में तथा रत्नधारणकर्ता के रूप में निरूपण है। ये सारे पदार्थ पुरुष की बुद्धि से कोसों दूर हैं। स्वतन्त्र वेद ही ऐसा निरूपण कर सकता है। एवम् यजुवेद में 'इषे त्वा' इस अर्थ को पुरुष कैसे कह सकता है। इस मन्त्र का उपयोग शाखाच्छेदन में होगा, ऐसी उत्प्रेक्षा पुरुष की कैसे हो सकती है। सामवेद की प्रक्रिया ही निराली है। वहाँ गान की विधा अलग ही अनादि परम्परा से चली आ रही है। पदपाठ अलग व्यवस्थित है। जैसे 'अग्ने' यह शब्द उदात्तादिस्वरक्रम से पदपाठ में है और गान में 'आग्नाइ' हो जाता है। जो चीज व्याकरण में भी दिखायी नहीं देती ऐसा 'अग्ने' इस पद का आकार 'आ' इस प्लुत से कैसे पुरुष की बुद्धिमात्र से विकृत हो सकता है। इस प्रकार वेदों के स्वरूप को देखने से ही उसकी अपौरुषेयता और उसका स्वातन्त्र्य झलक जाता है। माना कि कहीं पर लौकिक वाक्यों के समान वाक्य मिलते हैं तथापि वहाँ पर विलक्षण वैदिकी मुद्रा का दर्शन होता ही है जिसको सूक्ष्मदृष्टि वाले पुरुष समझ सकते हैं। यहां पर वार्तिककार के कुछ वचनों को उद्धृत कर देना नितान्त आवश्यक है—

ततश्चासत्यशब्देषु कुतस्तेष्वर्थसत्यता।
दृष्टापभ्रष्टरूपेषु कथं वा स्यादनादिता॥

वेदेषु हि तावदेव पदवाक्यसंघातात्मकत्वादिहेत्वाभासैः कृतकत्व-भ्रान्ति र्भवति—

यावद् बहिरवस्थानाद् वेदरूपं न दृश्यते।
ऋक्सामादिस्वरूपे तु दृष्टे भ्रान्ति र्निवर्तते॥
आदिमात्रमपि श्रुत्वा वेदानां पौरुषेयता।
न शक्याऽध्यवसातुं हि मनागपि सचेतनैः॥
दृष्टार्थव्यवहारेषु वाक्यै र्लौकानुसारिभिः।
पदैश्च तद्विधैरेव नराः काव्यानि कुर्वते॥
प्रपाठकचतुःषष्टिनियतस्वरकैः पदैः।
लोकेष्वप्यश्रुतप्रायै र्ऋग्वेदं कः करिष्यति॥ (तन्त्रवार्तिक)

अर्थात् असत्य (मूलतः भ्रष्ट) शब्दों से अर्थों की सत्यता निश्चित नहीं हो सकती। जिन शब्दों में भ्रष्टता स्पष्ट देखी जा रही है वे शब्द अनादि कैसे हो सकते हैं। वेदों में तो तभी तक वाक्यत्वरूप हेत्वाभास से अनित्यत्व की भ्रान्ति होती है जब बाह्यतया वेदों के स्वरूप का भान नहीं होता। ऋक्-यजुः और साम के स्वरूपों का जब पर्यालोचन करते हैं तब भ्रान्ति दूर हो जाती है। सचेतन पुरुष वेदों के आदि को भी देखकर उनकी थोड़ी भी पौरुषेयता का निश्चय नहीं कर सकता। लोकानुसारी वाक्यों के द्वारा दृष्टप्रयोजन वाले व्यवहारों में ही मनुष्य लौकिकार्थप्रधान पदों के द्वारा काव्य की रचना करते हैं। जिनमें चौंसठ प्रपाठक और निश्चित उदात्तादि स्वर विद्यमान हैं ऐसे लोक में अश्रुतप्राय पदों के द्वारा किस पुरुष का सामर्थ्य होगा कि वह ऋग्वेद की रचना करेगा। इस प्रकार वेदों की अपौरुषेयता तो सिद्ध हो जाती है किन्तु कर्ता के दृढ़ स्मरण के कारण कल्पों और सूत्रों तथा षडङ्गों की अपौरुषेयता सिद्ध नहीं हो सकती। बौद्धादिकों के उन ग्रन्थों की तो कथमपि नहीं जिनमें अत्यधिक भ्रष्ट शब्दों की बहुलता है।

इस प्रकार कल्पसूत्रों और षडङ्गों का प्रामाण्य स्मृत्यधिकरणन्याय से ही वेदमूलकत्वेन सिद्ध होगा। बुद्ध-महावीर-ईसा-मूसा-मोहम्मद आदि के ग्रन्थों का लोभादिमूलकतया अप्रामाण्य ही निश्चित होगा। अतः उनके ग्रन्थ धर्माधर्म के बोधक नहीं होंगे। फलतः उनके मार्ग के अनुयायियों का धर्मबुद्धि से किया जाने वाला सारा व्यापार उसी तरह से निरर्थक होगा जैसे अशास्त्रीय पद्धति से किया जाने वाला सुरतव्यापार निरर्थक होता है।

अब कहिये कि जपयज्ञविधि का विषय होने से कल्पादि नित्य होंगे तो यह भी सम्भव नहीं। प्रवाहनित्यता स्वीकार करके जपयज्ञविधि की विषयता उपपन्न हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि वेदार्थों की ही परिकल्पना

करने से 'कल्प' संज्ञा प्राप्त हुई है। वेदों के नित्य होने से वेदार्थ भी नित्य हैं। इसी प्रकार 'षडङ्गमेके' का भी समाधान समझना चाहिये। 'एके' इस पद से एक का मत लक्षित होता है, न कि सिद्धान्त। अतः षडङ्गों के वेदत्वपक्ष में पूर्वपक्षता ही है। सिद्धान्ततः तो मन्त्र-ब्राह्मण ग्रन्थ ही वेद होंगे। ऐसे में दयानन्दानुयायियों का मन्त्रभाग को ही वेद मानकर मिथ्याडम्बर फैलाना मूर्खता से भरा कदम है। कल्पसूत्रों के अवेदत्वसाधन में जैमिनि का दूसरा सूत्र है—

अवाक्यशेषाच्च (मीमांसासूत्र, १.३.१३)

यह सूत्र अर्थवादों से परिपूरित ब्राह्मणग्रन्थों को वेद के रूप में सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। वाक्यशेष, अर्थात् विधिशेष-निषेधशेष, अर्थात् अर्थवाद। अर्थवादों के द्वारा विधेय यागादि की स्तुति होती है, ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। कल्पों में अर्थवादों का राहित्य है, अतः कल्प वेद नहीं हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में पुरुषबुद्धि की कल्पनाओं से कोसों दूर अर्थवाद भरे पड़े हैं, अतः ब्राह्मणभाग भी वेद हैं। वार्तिककार इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

बहवो वाक्यशेषा हि येषां लोकेष्वसंभवः।
अबुद्धिपूर्वतासिद्धिस्तेन वेदस्य तैरपि॥

(तन्त्रवार्तिक)

अर्थात्, लोक में सर्वथा अदृश्यमान बहुत से अर्थवादों के होने से भी उनके द्वारा वेद की अपूर्वतासिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यही है कि वेद अपौरुषेय हैं। वैदिकस्वरूप के अभाव के कारण ही कल्पादि वेद नहीं हैं। कहीं पर इतिहास को भी वेद कहा गया है। वहाँ पर गौण प्रयोग ही मानना चाहिये। जैसे—

विधि र्विधेयस्तर्कश्च वेदः। (पारस्करगृह्यसूत्र, ६.१६)

इस सूत्र में विधि से ब्राह्मण का, विधेय से मन्त्र का और तर्क से मीमांसा का ग्रहण है। इन तीनों को वेद कहा गया है। स्पष्ट है कि मीमांसा वेद नहीं है तथापि वेदों से समुद्भूत तर्कमयी होने के कारण उसे वेद कह दिया गया। एवम् अन्यत्र भी समझना चाहिये।

विचार का यहाँ यही प्रयोजन है कि यदि कल्पसूत्रों को वेद या वेदतुल्य मानेंगे तो उनका साक्षाद् वेद से विरोध होने पर अनुष्ठान में विकल्प होगा। यदि वेद या वेदतुल्य न मानकर पौरुषेय ग्रन्थ मानेंगे तो विरोध होने पर कल्पसूत्रों का अप्रामाण्य होगा अर्थात् उनसे बोधित पदार्थों का अनुष्ठान नहीं होगा। क्यों? इसके उत्तर में वार्तिककार कहते हैं—

न पुंवचनं सर्वं सत्यत्वेनावगम्यते।
वागिह श्रूयते यस्मात् प्रायादनृतवादिनी॥

अर्थात् पुरुषों के सारे वचन सत्य नहीं होते। क्यों? इसीलिए कि वाणी प्रायः झूठ बोलने वाली होती है। अभिप्राय यह है कि यदि पुरुष-वचनों के मूल में वेद हैं तो वेदों के निर्दृष्ट होने से उनकी सत्यता होगी ही। यदि उनके वचनों के मूल में वेद न होकर लोभादि हैं, जैसे तथागत आदि के वचनों में हैं, तो वे वचन सत्य कैसे हो सकते हैं। कहीं न्यायाभासमूलक भी कल्पों के वचन होते हैं। वहाँ भी उनकी सत्यता नहीं मानी जा सकती। इस बात को भगवान् जैमिनि ने नहीं कहा है, ऐसी बात भी नहीं है। परमवेदतत्त्व के ज्ञाता वे कहते ही हैं—

सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च।

(मीमांसासूत्र, १.३.१४)

यह सूत्र 'सत्यवाचामेतानि वचनानि' के समाधान में प्रस्तुत है।

तात्पर्य यह है कि कल्पादिशास्त्र सत्यवादियों के वचन हैं, अतः वेद ही हैं, ऐसा पूर्वपक्षी के कहने पर समाधान होगा—पुरुष सर्वथा सत्यवादी नहीं हो सकते। कहीं लोभ-लोकसंग्रह आदि लौकिक प्रयोजनों के लिए मिथ्या का सहारा ले सकते हैं, जैसे बुद्ध-महावीर-ईसा-मूसा आदि वेदविरोधी। कहीं पर सिद्धान्तपक्ष का ठीक से ज्ञान न होने पर भी मिथ्या पदार्थों का कथन कर सकते हैं। ऋषिगण, जिन्होंने कल्पों का, धर्मसूत्रों का प्रणयन किया है, वे शिष्ट के अन्तर्गत आने से लोभादि के कारण मिथ्या नहीं बोल सकते। कहीं-कहीं पूर्वपक्ष में ही सिद्धान्त की भ्रान्ति होने से मिथ्या बोल सकते हैं। पूर्वोक्त जैमिनीय सूत्र से इसी बात को प्रकट किया गया है। अमावस्यायाग कब हो? इस पर कल्पकार कहते हैं—'सर्वासु तिथिषु' अर्थात् सारी तिथियों में अमावस्यायाग हो। यह वचन सिद्धान्तमूलक न होकर पूर्वपक्षमूलक है। क्योंकि साक्षात् वेदशास्त्र सन्निहित है—

पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत।

अर्थात् पौणमासीयाग का अनुष्ठान पूर्णिमा में हो तथा अमावास्यायाग का अनुष्ठान अमावास्या में हो। 'सर्वत्र च प्रयोगात्' अर्थात् कल्पकार कहते हैं कि सर्वत्र अमावास्यायाग का प्रयोग होना चाहिये जो सन्निधान अर्थात् सन्निहितशास्त्र से विरुद्ध है। अतः यहाँ पर कल्पों का प्रामाण्य नहीं माना जायेगा।

इसी प्रकार व्याकरण का भी स्मृत्यधिकरणन्याय से प्रामाण्य सिद्ध होगा। व्याकरण के दो कार्य हैं—(१) साधूनेव प्रयुञ्जीत नासाधून् अर्थात् धर्मप्रयोग में साधु संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये, यह प्रयोगनियम और दूसरा (२) गवादय एव साधवो न गाव्यादयः अर्थात् गो आदि ही शब्द साधु हैं न कि गावी आदि, यह साधुस्वरूप के निश्चय का नियम। पाणिनि आदि के व्याकरण का मूल पूर्वव्याकरण है। इसी प्रकार कहीं पर विधि के सन्देह में वाक्यशेष से निर्णय होता है और कहीं सामर्थ्य से भी निर्णय होता है। एवं वाक्यशेष और सामर्थ्य भी धर्मनिर्णय में प्रमाण माने जाते हैं।



धर्म का ही स्वर्गापवर्गसाधकत्वविचार

इतने ग्रन्थ से धर्म और अधर्म में क्या प्रमाण है? इसका विस्तार से यथाशास्त्र निरूपण कर दिया गया। प्रस्तुत पूर्वोक्त विचारों में केवल बुद्धि का ही सहयोग नहीं लिया गया है। शास्त्रीय न्यायों पर सूक्ष्म दृष्टि रखी गयी है। सर्वथा धर्माधर्म के विषय में सूक्ष्म दृष्टि का ही सहयोग लिया गया है। किसी प्रकार के पक्षपात को स्वीकार नहीं किया गया है। पूर्वोक्त सारे प्रतिपादनप्रकारों से यह बात सुस्पष्ट रूप से सामने आती है—

कुछ वेश बदल कर निषिद्धकलञ्जादिभक्षक अपने को महापुरुष सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था महापुरुष ही देते हैं। महापुरुषों की व्यवस्था दो तीन सौ वर्षों तक चलती है। उसके बाद कोई और महापुरुष होता है जो नयी व्यवस्था का सूत्रपात करता है।

पुराने ऋषि और बुद्ध, महावीर, ईसा, मूसा, मोहम्मद, कबीर तथा आज के धनाढ्यों की कृपा के पात्र अँगूठाछाप जटी-मुण्डी भी महापुरुषों में ही आते हैं। वे ही धर्माधर्म के व्यवस्थापक हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण की कोटि में ही सारे महापुरुष आते हैं। जनता को चाहिये कि ऐसे महापुरुषों के चरणकमलों में अपना सर्वस्व अर्पण करके उनकी कृपा का भाजन बने। भगवान् गीता में भी यही बात कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति॥

जैसे श्रीकृष्ण में समर्पण कहा गया है वैसा ही समर्पण अन्य महापुरुषों में होना चाहिये। ये महापुरुष ही 'ज्ञान' देते हैं। कहते ही हैं भगवान्—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

अर्थात् महापुरुष ही अपनी साधना के प्रभाव से तत्त्वदर्शी होते हैं और वे भक्तों को ज्ञान देते हैं। धर्माधर्म के अनुष्ठान की एक सीमा होती है। परमात्मा के दर्शन के बाद धर्माधर्म की कोई आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषों की धर्माधर्मव्यवस्था अज्ञानी के लिए है। महापुरुषों की कृपा से ज्ञान हो जाने पर धर्माधर्म का क्या अस्तित्व रहेगा?

अतः धर्माधर्म के अन्तर्गत आने वाले कर्मकाण्ड और कुछ सुरापान आदि कुरीति है। सुरापान से साधना की भूमिका बनती है। पृथ्वी में जो

कुछ भी पदार्थ पैदा होते हैं, चाहे वे लहसुन-प्याज आदि ही क्यों न हों, खाने के लिए ही बने हैं। अतः उन्हें खाने में कोई दोष नहीं। मुसलमान मुर्गा-अण्डा प्रायः खाते हैं तो नियतक्रम से नमाज भी अदा करते हैं। छुआछूत का कोई भेद नहीं। मनुष्य सब एक हैं। सबके साथ आपस में रोटी बेटी का व्यवहार हो सकता है। आत्मदर्शन के अतिरिक्त कोई भी वास्तविक धर्म नहीं। आत्मदर्शन महापुरुषों की कृपा से ही सम्भव है॥

यह सब अनादिवासना से दूषितमानस, स्वार्थपरायण, तुच्छ, शरीरपोषी, विभुतायशोलोभी के कुत्सित मुख से निकला कबाड़ है। ऋषि वेद से हटकर कुछ नहीं कहते। यदि कहते भी हैं तो उसे प्रमाण नहीं माना जाता। वेदविरोधी बुद्ध आदि क्या हैं, इसका पहले ही प्रतिपादन कर दिया गया है। महापुरुष भी वही है जो वर्णाश्रमधर्म का अतिक्रमण न करते हुए निषिद्ध कर्म का वर्जन और नित्यनैमित्तिक कर्म का यथावत् अनुष्ठान करता है। काम्य कर्म को करने वाला भी महापुरुष नहीं है, ऐसी बात नहीं। कर्म वेदविहित होना चाहिये। सर्वथा निषिद्ध का ही वर्जन अभीष्ट है। काम्य का वर्जन मोक्ष में सहायक है।

एक बात ध्यान देने योग्य है—अन्य का धर्म अन्य के लिए अधर्म होगा। जैसे स्वाध्यायाध्ययन त्रैवर्णिक के लिए धर्म होता हुआ भी निषिद्ध होने से स्त्रीशूद्रों के लिए अधर्म ही होगा। प्रवचन ब्राह्मण के लिए धर्म होता हुआ भी क्षत्रियादि के लिए अधर्म होगा। अध्यापन, प्रतिग्रह (दान लेना) और आर्त्विज्य ब्राह्मण के लिए ही विहित हैं, अतः क्षत्रियादि के लिए अधर्म ही होंगे। एवं क्षत्रिय के लिए विहित 'राजसूय' उसके लिए धर्म होता हुआ भी ब्राह्मणादि के लिए अधर्म होगा। कौन धर्म किसके लिए है, यह वेदादिशास्त्रों से ही ज्ञात होता है। क्षत्रिय का ही राज्य (प्रजापालन) धर्म है। ब्राह्मणादि के लिए वह अधर्म है। इस प्रकार शूद्र भी मर्यादा का अतिक्रमण न करता हुआ महापुरुष ही कहा जायेगा। सर्वथा पूर्वोक्त धर्म के पालन और अधर्म से निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है जो महापुरुष बनने में कारण होगा। ऋषि आदि वेदोक्तमर्यादावलम्बी महापुरुष हो सकते हैं। न्याय से रहने वाला मजदूर, भारवाह, भिक्षुकादि महापुरुष हो सकते हैं। वेदविरोधी अर्थात् सनातनमर्यादाविरोधी, साधना का दम्भ भरने वाला, जटाआदि बढ़ाकर भक्तों की संख्या बढ़ाने वाला, विभुताप्रिय, जन स्वप्न में भी महापुरुष नहीं हो सकता। वह तो अर्थपिपासु, स्वार्थी, लुच्चा के सिवा कुछ भी नहीं। तात्पर्य यह है कि जो महापुरुष होगा वह वेदमर्यादा में रहता हुआ

उस मर्यादा को जनता में स्थापित कर सकता है न कि वह नूतन धर्म की सृष्टि करेगा। धर्माधर्म का बोध वेद से ही सम्भव है। पुरुष के अधीन वह नहीं। विस्तार से इसका निरूपण इसलिए कर दिया गया है ताकि किसी को इसमें भ्रान्ति न हो। जो अपनी जाति छुपाकर या अन्यथा बताकर पुजवा रहा है वह कैसे महापुरुष होगा? एक बात यह मैं कह देना चाहता हूँ कि महापुरुष प्राय हर गाँव में किसी न किसी जाति में मिल जायेंगे। सर्वथा विभुताविलासी महापुरुष नहीं होगा। आज जो लोग अपने को महापुरुष घोषित करके पुजवा रहे हैं और सरल जनता के बीच में किसी न किसी दिव्यपुरुष के अवतार के रूप में स्वयम् को स्थापित कर रहे हैं, उनके यहाँ यह मैंने देखा है कि प्याज-लहसुन की बोरियाँ रखी हुई हैं। किसी के द्वारा प्रदत्त कैसा भी भोजन क्यों न हो, वे सादर खा रहे हैं। कहीं से टिफिन आ रही है और वे खाते चले जा रहे हैं। प्रतिग्रह के बारे में कहा गया है—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते कस्यचित्तु यः।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान्॥

नित्यस्वाध्यायप्रवचनरत, नित्यनैमित्तिककर्मनिरत, शुचि, सदाचारी ब्राह्मण ही प्रतिग्रह में समर्थ है। समर्थ होते हुए भी यदि वह नहीं लेता तो दानस्वभाव के जो लोक होते हैं उन लोकों को वह पूर्णरूप से प्राप्त करता है।

कुछ पामर, जो गुरु की उपासना न करने के कारण शास्त्रज्ञान से शून्य हैं, लोक में आचार्यों के मत का दुष्प्रचार करते हुए जनता का धन उगह रहे हैं। जनता भी उन्हें करोड़ों का मकान और लाखों की गाड़ी-पेट्रोल वगैरह उन्हें दे रही है। इतना बड़ा प्रतिग्रह वे ले रहे हैं असमर्थ होते हुए भी। जनता भी अन्धी होकर उनकी अनर्गल बातें चाव से सुन रही है और उन्हें दे रही है। वे जनता से सब कुछ लेकर भी मुट्ठी बाँधे बैठे हैं। धर्म के नाम पर कुछ नहीं करते। अपनी पादुका पुजवा रहे हैं। राष्ट्र कहाँ जा रहा है, उसकी उन्हें चिन्ता ही नहीं है। मात्र अपने वैभव का प्रदर्शन वे कर रहे हैं। नेताओं से सम्पर्क साधे हुए हैं। जनता अन्धी है। जिसे देना चाहिये उसे कुछ नहीं देती। किसे देना चाहिये? भगवान् युधिष्ठिर से कह रहे हैं—

दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्॥

हे युधिष्ठिर! तुम दरिद्रों को परिपूर्ण करो! समर्थ धनिकों को धन मत दो। शास्त्रों को पढ़ने वाले ब्राह्मण छात्रों के साथ धनिकवर्ग का पहले सीधे सम्पर्क था। समय-समय आवश्यक वस्तुयें इन्हें मिल जाया करती थीं। कुछ

को छोड़ दिया जाय तो अधिकांश यतिवर्ग छात्रों के नाम से भी धन-उगाही कर रहे हैं। छात्रों के नाम पर कुछ निकम्में इनके यहाँ आश्रय पा गये हैं। कर्मकाण्ड के माध्यम से इनको कुछ लाभ करा दिया जाता है। सारा धन यतिवर्ग के निमित्त व्यय हो रहा है। शास्त्रों के संरक्षण में व्यस्त छात्रों के लिए आवास की भी व्यवस्था सम्भव नहीं हो पा रही है। ये कैसे महापुरुष हैं, समझ में नहीं आता। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि मान्यताप्राप्त पीठों पर आसीन भी राष्ट्रहित में अप्रासङ्गिक हो गये हैं। अध्यापन के कार्यों में अंगूठाछाप लगाये जा रहे हैं, जो सिर्फ वेतन ले रहे हैं। शास्त्रों की रक्षा नहीं होगी तो राष्ट्र भी असुरक्षित हो जायेगा। मैं यह नहीं कहता कि मठ में कुछ नहीं देना चाहिये। उतना ही देना चाहिये जितने से वहाँ के लोगों की भोजनव्यवस्था हो सके। ज्यादा मिलने से वे अन्य सामाजिक कार्यों में लग जा रहे हैं। शास्त्रचिन्तन और उनका संरक्षण यतिवर्ग के लिए त्यक्त हो गया है। मूर्खों की जमात उनके यहाँ पैदा हो रही है। यह मिथ्या नहीं कह रहा हूँ। इसका परीक्षण किया जा सकता है। मठादि स्थानों में अब बी०आई०पी० भवन बन रहे हैं ताकि उनसे भी आमदनी का रास्ता खुला रहे और धनिकवर्ग जब भी तीर्थयात्रा करे तो उनके यहाँ रहे। इन सारी बातों पर विचार करना आवश्यक है।

यह कहना कि आत्मदर्शन ही धर्म है, और सब कुरीति है, आडम्बर है। यह भी स्वार्थियों के स्वार्थपोषणार्थ व्याख्यान के सिवा कुछ भी नहीं। वेदबोधित सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के वास्तविक धर्म हैं। आत्मदर्शन तो, जो वेदादिशास्त्रों के माध्यम से ही यदि होता हो तो वह धर्मानुष्ठान में योग्यता का आधायक है। अतः धर्मार्थ होता हुआ वह धर्म नहीं कहा जायेगा। अत एव—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

इत्यादि वचनों से याग-सदाचार-इन्द्रियनिग्रह-अहिंसा-स्वाध्याय आदि धर्मों के मध्य में योग के द्वारा आत्मदर्शन को जो परमधर्म कहा गया है वह ज्ञान की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। साधन धर्म होता है, जो वेद-विहित हो, साध्य नहीं। आत्मदर्शन साध्य की कोटि में आयेगा। इसका उपपादन मैं ही नहीं, वार्तिककार ने भी किया है। जैसे व्याकरणजन्य साधुशब्द का ज्ञान शब्द का संस्कारक होने के कारण परार्थ होकर स्वतः पुरुषार्थजनक न होकर धर्म का अङ्ग होता है वैसे ही उपनिषद् के द्वारा

जायमान ज्ञान भी पुरुष का संस्कारक होने से निराकाङ्क्ष होकर स्वतन्त्र-रूप से निःश्रेयस का हेतु नहीं होगा, अपि तु धर्म का अङ्ग ही होगा। सर्वथा धर्म ही स्वर्गापवर्गरूप पुरुषार्थ का साधन होगा, न कि आत्मज्ञान। आत्मज्ञान के बिना आत्मा का संस्कार नहीं होगा। फलतः अनुष्ठीयमान होकर भी धर्म फल का हेतु नहीं होगा। अतः 'आज्यैःस्तुवते, प्रउगं शंसति' इत्यादि प्रगीतमन्त्र के द्वारा साध्य गुणवान् देवों के गुणों का कथनरूपस्तोत्र तथा अप्रगीतमन्त्रसाध्य गुणिनिष्ठ गुणाभिधानरूप शस्त्र जैसे आत्मा में अदृष्ट का आधायक होता हुआ आत्मसंस्कारकत्वेन यागोपकार में याग का ही अङ्ग होता है वैसे ही आत्मज्ञान भी होगा। जैसा कि कहा है—

"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् (जै०सू० ४-३-१) इत्यनेन न्यायेन ज्ञानस्य पुरुषशब्दसंस्कारकत्वेन निराकाङ्क्षस्य फलसंबन्धासंभवात्।"

(तन्त्रवार्तिक १-३, सू० २९)

इस पर कुछ लोग आत्मज्ञान को संयोगपृथक्त्वन्याय से धर्मार्थ और मोक्षरूपफलार्थ भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ऐसा न मानने पर परलोकफलक कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं हो सकती। धर्मार्थ मानने पर परलोकफलक यागदानादि में प्रवृत्ति होती है तथा मोक्षार्थ मानने पर उससे निवृत्ति भी होती है। निवृत्तिपक्ष को श्रीकृष्ण का यह वचन परिपुष्ट करता ही है—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहु र्मनीषिणः। (गीता)

संयोगपृथकत्वन्याय के उपपादन में जैमिनि का यह सूत्र है—

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्।

अर्थात् एक ही वस्तु यदि दो कार्यों के लिए हो तो कार्यद्वय के संयोग के कारण उसे पृथक् समझना चाहिये। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से विहित अग्निहोत्रहोम में द्रव्य की अपेक्षा होने पर 'दध्ना जुहोति' से दधि का विधान है। वहीं 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' से 'इन्द्रय' फल के लिए भी दधि का विधान है। एवम् एक ही दधि दो कार्यों के लिए हुआ। अतः संयोगपृथकत्वन्याय से दधि क्रत्वर्थ (होमार्थ) और पुरुषार्थ भी हुआ। इसी तरह आत्मज्ञान को भी होना चाहिये। तथा हि—

"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु र्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः" तथा 'मन्तव्यो बोधव्यः', तथा 'आत्मानमुपासीत' इन कामवादलोकवादवचनविशेषों से जिज्ञासा-मनन-सहित आत्मज्ञान का, तथा केवल अवबोधपर्यन्त स्पष्ट आत्मतत्त्वज्ञान का,

विधान से अपेक्षित अन्य वाक्यों से गृहीत दो प्रकार से अभ्युदय और निःश्रेयसरूप फल के साथ सम्बन्ध होगा। उपनिषद् में फलसम्बन्ध के बोधक ये वाक्य आम्नात (उपदिष्ट) हैं—

"स सर्वांश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामान् आप्नोति, तरति शोकमात्मवित् तथा स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो भवति।"

ऐसे ही—'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न स पुनरावर्तते' इत्यादि औपनिषद वचनों से अपुनरावृत्तिरूप आत्मप्राप्ति का भी बोधन होता है। प्रकरणगत न होने के कारण अञ्जनादिफल-प्रतिपादक श्रुति के समान इसे अर्थवाद नहीं माना जा सकता। याग का अनुष्ठान करते समय यजमान के अञ्जनसंस्कार का विधान है जिसकी स्तुति के लिए यह वचन है—

यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते

अर्थात् जो यजमान अञ्जन करता है वह शत्रु को नयन से ही वञ्चित कर देता है। यहाँ अञ्जन संस्कारकर्म है, अतः उसका नेत्रवर्जनरूप फल अर्थवाद (स्तावक) ही होगा, फल का प्रतिपादक नहीं। आत्मज्ञान के अपुनरावृत्तिरूप फल की श्रुति किसी यागीय प्रकरण में न होने से अर्थवाद नहीं हो सकती, अतः आत्मज्ञान को याग का अङ्ग न मानकर स्वतः पुरुषार्थ मानना चाहिये। संसारी नित्य आत्मा का ज्ञान ही धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति का हेतु होने से यागादि सकल धर्मों का अङ्ग होगा।

यद्यपि यह सब व्याकरणाधिकरणस्थ वार्तिक में प्रतिपादित है तथापि संबन्धवार्तिकग्रन्थ के अनुरोध से और अर्थवादाधिकरणीय वार्तिकग्रन्थ से, अपेक्षित आत्मज्ञान को धर्म का अङ्ग और अनपेक्षित को प्रशंसार्थवाद ही मानना उचित प्रतीत होता है।

अथवा पुरुषार्थ मान लेने पर भी केवल ज्ञान का अपवर्गहेतुत्व सिद्ध नहीं होगा। ज्ञानकर्म के समुच्चय का पक्ष ही श्रुतियों से सिद्ध होगा। तथा हि बृहट्टीका में वार्तिककार ने स्पष्ट निर्देश किया है—

ननु निःश्रेयसं ज्ञानात् बन्धहेतो र्न कर्मणः।
नैकस्मादपि तत् किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्॥

यदि कहा जाय कि निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति ज्ञान से होगी न कि बन्धन के कारण कर्म से, तो यहाँ यही कहा जायेगा कि किसी एक से नहीं, अपि, ज्ञानकर्म के समुच्चय से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होगी।

असंसारिरूप आत्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन मान लेने पर आगे कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी, तथा च, उक्त वार्तिकग्रन्थ से विरोध होगा, यह कहना भी उचित नहीं। क्यों? इसीलिए कि असंसारिरूप आत्मज्ञान के होने पर भी नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के बिना पूर्वकृत पापों का क्षय नहीं होगा तथा श्रुति से अवश्यकर्तव्यतया बोधित कर्मों के न करने पर जो पाप लगेगा, उसका भी परिहार नहीं होगा तथा उन फलों के भोग के लिए बन्धन की प्रसक्ति होगी जिससे मोक्ष भी नहीं होगा, अतः तादृश आत्मज्ञान के साथ कर्मानुष्ठान भी आवश्यक ही होगा जिससे मोक्षप्राप्ति में ज्ञानकर्म के समुच्चय का ही पक्ष सिद्ध होगा। अब कहो कि ज्ञान के द्वारा ही कर्मों का नाश हो जायेगा, तो ऐसा कहना उचित नहीं। क्यों? ज्ञान के द्वारा कर्मों की नाशक श्रुति के न होने से। यद्यपि गीता के—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"

इस वचन से कर्मों का ज्ञाननाश्यत्व प्रतीत होता है तथापि श्रुति के न होने से गीता का वचन ज्ञान की प्रशंसा में लाक्षणिक माना जाना चाहिये। सम्बन्धवार्तिक में यह सुस्पष्ट है—

रागादिवत् तथाप्येषां न ज्ञानेन निराक्रिया।
कर्मक्षयो हि विज्ञानादित्येतच्चाप्रमाणवत्॥

अर्थात् रागादि के समान कर्मों का ज्ञान से निराकरण संभव नहीं। क्योंकि कर्मों का क्षय ज्ञान से होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार ज्ञान का मोक्षसाधनतया विधान होने पर भी कर्म के मोक्षसम्बन्ध का निराकरण नहीं होगा। कहा ही है—

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥

(सम्बन्धवार्तिक)

एवं काम्य और निषिद्ध कर्म न करने से तत्फलोपभोग के लिए शरीर की उत्पत्ति नहीं होगी। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से उनको न करने से जो पाप होता है उसके उपभोग के लिए भी शरीर की उत्पत्ति नहीं होगी। ज्ञानवाक्यों को स्तुति में लाक्षणिक स्वीकार करके कर्मों के द्वारा ज्ञान का ही बाध हो या तुल्यबल होने से विकल्प किं वा अङ्गाङ्गिभाव की ही परिकल्पना हो न कि निरपेक्षरूप से विहित ज्ञान और कर्म का समुच्चय। यह आशङ्का भी उचित नहीं। क्योंकि अवान्तर कार्य की एकता होने पर बाध अथवा विकल्प होता है। यहाँ तो कर्मों का पूर्वकर्मजन्यपापनाश और

अवश्यकर्तव्य कर्म न करने से जायमान पाप का नाश ही फल है। निर्गुण आत्मतत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन तो तत्त्वप्रकाश है। अतः कार्य के भेद से बाध या विकल्प नहीं होगा। यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि बन्धन के हेतुभूत कर्मों के क्षय मात्र से ही मोक्ष के सिद्ध हो जाने से तत्त्वज्ञान निरर्थक हो जायेगा। पूर्वकृतकर्मों का क्षय हो जाने पर भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व की निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होगी ही। कर्तृत्व और भोक्तृत्व यदि दूर नहीं होगा तो अवश्य ही बन्धन का हेतु कोई न कोई कर्म प्रसक्त हो जायेगा। इसीलिए बृहट्टीका में कहा है—

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन् अभ्यासेन च पाचयेत्॥
वैराग्यात् पक्वविज्ञानात् कैवल्यं भजते नरः॥

अर्थात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा पापों का क्षय करते हुए ज्ञान को निर्मल करना चाहिये और उसे अभ्यास से परिपक्व बनाना चाहिये। इस प्रकार वैराग्य से पक्व विज्ञान से मनुष्य कैवल्य प्राप्त करता है।

एवं जीवन रहने पर नित्य कर्मों में अधिकार होगा ही तथा मुमुक्षु का ज्ञान में अधिकार होगा। अतः अधिकारिभेदरूप भिन्नमार्गत्व से अङ्गाङ्गि-भाव भी संभव नहीं। फलतः अवशिष्ट ज्ञान-कर्मों का समुच्चयपक्ष ही सिद्ध होगा।

इस प्रकार न्यायसुधाकार के मतानुसार तीनों प्रकार के आत्मज्ञानों का 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि विधियों के द्वारा विधेयत्व स्वीकार करके मोक्षार्थ ज्ञानपरिपाक के पहले उत्पन्न आत्मज्ञान की असंभावना-विपरीतभावना की निवृत्ति के लिए श्रवणमनन आदि के अभ्यासकाल में कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। इसीलिए कि अपेक्षित कर्मों के बिना कर्मनाश सम्भव नहीं। ज्ञान के कर्मनाशकत्व में प्रमाण का अभाव होने से वार्तिकसंमत ज्ञानकर्म का समुच्चय प्रतिपादित किया गया। यहाँ पर यह शङ्का उचित नहीं कि जब परिपक्व ज्ञान ही मोक्ष का साधन है तो उसमें कर्म का साहित्य सम्भव न होने से कैसे समुच्चय का पक्ष सिद्ध होगा। अपरिपक्व ज्ञान ही परिपक्व ज्ञान का उत्पादक होता है तथा अपरिपक्व ज्ञान अन्य नहीं होता, अतः वह भी मोक्ष का साधन होगा। तथा च, समुच्चय भी सिद्ध होगा। यहाँ पर 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इस वाक्य से कर्मों का ज्ञान के लिए विनियोग स्वीकार कर ज्ञानोत्पादन में ही कर्मों को हेतु मानकर परम्परया कर्मों का

मोक्षजनकत्व होगा, ऐसा वेदान्ती कहते हैं। उनका यह अनर्गल प्रलाप कथमपि युक्तिसंगत नहीं। इसीलिए कि ज्ञानोत्तर अनुष्ठेय कर्मों का पूर्वोत्पन्नज्ञान का व्यापारत्व सम्भव नहीं। जैसे यागादि उत्पत्त्यपूर्व के कारण होते हुए भी फल के भी कारण होते हैं वैसे ही कर्म चित्तशुद्धि के कारण होकर मोक्ष के भी कारण होंगे। इस पर यदि वेदान्ती कहें कि कर्मों का उपयोग चित्तशुद्धि में होगा तथा चित्त के शुद्ध हो जाने पर उत्पन्न ज्ञान से ही मोक्ष होगा तो उनका यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि आत्म-धर्माधर्म का उच्छेद ज्ञान से सम्भव नहीं, ततः कर्मानुष्ठान आवश्यक होगा। एवं फलोपभोग को हटाने के लिए तथा अवश्यापेक्षित धर्माधर्म के उच्छेद के लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक होगा। सन्न्यास की विधि भी—

"काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः" इस गीता के कथनानुसार काम्य कर्मों के त्याग के लिए ही स्वीकार की जायेगी। अथवा कर्मानुष्ठान में जो असक्त हैं उनके लिए होगी। इसीलिए तो भगवान् कहते हैं—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

अर्थात् नियत नित्यनैमित्तिक कर्मों से सन्न्यास सम्भव नहीं होगा। यदि अज्ञानवश कर्मों का त्याग किया जायेगा तो वह तामस ही होगा। गीता के द्वितीय और तृतीय अध्याय में कर्मानुष्ठान ही निरूपित है। एवम्—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

इत्यादि श्रुति और—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

इत्यादि स्मृतियों का स्तावकत्व (स्तुति) ही सिद्ध होगा। अथवा कर्मसहित ज्ञान के ही प्रतिपादन में गौणता समझनी चाहिये। अतः कर्मानुष्ठान के लिए शक्तिसम्पन्नता होने पर ज्ञान के साथ-साथ नित्यनैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक ही होगा। शक्ति का अभाव होने पर सन्न्यास से ही पापक्षय सम्भव हो जाने से नित्य कर्म आवश्यक नहीं। अपि च, उनके लिए सन्न्यास ही उचित है। अन्यथा उनके पापों का नाश कैसे होगा? कहा भी गया है—

ये च सन्तानजा दोषाः ये च स्युः कर्मसंभवाः।
सन्न्यासस्तान् दहेत् सर्वान् तुषाग्निरिव काञ्चनम्॥

मृत्तोयैः शोध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनो दान्त्या सन्न्यासेन द्विजोत्तमः॥

सन्तानज और कर्मज सारे पापों को सन्न्यास जला देता है। मिट्टी और जल से शोधनीय वस्तु, वेग से नदी, रज से स्त्री, दम से मन जैसे शुद्ध होता है वैसे ही सन्न्यास से ब्राह्मण शुद्ध होता है। इस वचन से ब्राह्मण ही सन्न्यास का अधिकारी है, यह बात भी सिद्ध होती है। उक्त वचन की व्याख्या पराशर माधवीय ग्रन्थ में की गयी है कि धर्म का लोप होने पर भी अनुतापवान् के लिए तत्पापप्रायश्चित्त के रूप में सन्न्यास सम्भव है। अतः उन लोगों के लिए सन्न्याससमुच्चित ज्ञान से अथवा स्वाश्रमोचिततत्तत्कर्म समुच्चित ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है। इससे यह भी समझना चाहिये कि जो धमधूसर समर्थ होते हुए भी सन्न्यास लेकर खाते हुए धनसंग्रह कर रहे हैं वे अपने लिए नरक का ही मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। एवं विविदिषावाक्य से ज्ञानप्रतिबन्धकीभूतरजस्तमःकलुषित अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा ज्ञानार्थत्व जैसे सिद्ध होता है वैसे ही पूर्वोक्त संयोगपृथक्त्वन्याय से मोक्षप्रतिबन्धकी-भूत धर्माधर्म के उच्छेद के द्वारा मोक्षार्थत्व भी उपपन्न होगा जिससे ज्ञानकर्म का समुच्चय सिद्ध होगा। एवम्—

ज्ञानादेव कैवल्यम् (ज्ञान से ही मोक्ष है)

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (आत्माभिन्न ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु को पार करता है)

इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा जो केवल ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन कर रही हैं, यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये। इसीलिए कि हमारे मत में ज्ञान को भी मोक्ष का साधन माना गया है। 'तमेव विदित्वा' में 'एव' शब्द से आत्मभिन्न पदार्थों के ज्ञान का ही निषेध किया गया है न कि कर्मों का, अतः कर्मों के मोक्षसाधनत्व में कोई विरोध नहीं होगा। अत एव 'नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय' इस वचन को एवकार से सिद्ध निषेध का अनुवादक ही माना जाता है, अन्यथा वाक्यभेद की प्रसक्ति होगी। अब कहिये कि समुच्चय मानने पर—

'न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इस श्रुति से विरोध होगा जो मोक्षसाधनकत्व का प्रतिपादन कर रही है। यह उचित नहीं। क्योंकि उक्त श्रुति सामान्यविषयक है, अतः भगवदर्पणशून्य कर्म के ही निषेध में उपपन्न होगी न कि अवश्यकर्तव्य कर्मों के निषेध में। अतः नित्यनैमित्तक कर्मों के साथ कोई विरोध नहीं। यह भी कहना उचित नहीं कि नित्यनैमित्तिकादि

कर्मों से पुरुष-पापक्षय ही होता है, न कि मोक्ष। ऐसा मानने पर हम भी यह कह सकते हैं कि ज्ञान भी दृष्टद्वारा अज्ञाननिवृत्ति के लिए ही होगा न कि मोक्ष के लिए। अब कहिये कि भगवदर्पणबुद्धि से निषिद्ध कर्मों का भी अनुष्ठान क्यों न किया जाय? यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि—

देवतानां गुरूणाञ्च मातापित्रोस्तथैव च।
पुण्यं देयं प्रयत्नेन नापुण्यं चोदितं क्वचित्॥

(देवता, गुरु तथा माता-पिता को प्रयत्नपूर्वक पुण्य ही देना चाहिये। उनके लिए अपुण्यदान का कहीं भी उपदेश नहीं है)

इस माधव के द्वारा उदाहृत अङ्गिरा के वचन से अपुण्य कर्मों का अर्पण सम्भव नहीं हो सकता। मोक्ष को कर्मजन्य मानने पर मोक्ष की अनित्यता होगी, यह शङ्का भी अनुचित है। नाशकसामान्य का अभाव होने से नित्यत्व उपपन्न हो जायेगा ध्वंसवत्। जैसे कर्मजन्य ध्वंस का नाशक कोई नहीं, अतः वह नित्य माना जाता है वैसे ही मोक्ष भी नित्य ही माना जायेगा। मोक्ष का विरोधी यदि पुनः बन्ध उत्पन्न होगा तब ही मोक्ष का नाश होगा। मोक्षविरोधी बन्ध का कोई जनक नहीं है अतः मोक्ष नित्य ही माना जायेगा। एवं काम्य कर्मों के फलकामना न होने पर, नित्यों के भी भगवदर्पणबुद्धि से अनुष्ठान होने पर पुण्यपापक्षयद्वारा मोक्षार्थत्व में कोई विरोध नहीं। अत एव श्रुति का स्वारस्य भी सिद्ध होगा। जैसा कि वाजसनेयियों की श्रुति है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय एव ते तमो ये विद्यायां रताः॥

अर्थात् जो अग्निहोत्रादिकाम्यकर्मरूप अविद्या की उपासना करते हैं वे अज्ञानरूप प्रगाढ़ अन्धकार में ही प्रवेश करते हैं। वे ही यदि उन कर्मों का त्याग करके केवल विद्या में ही रत हैं तो पुनः पुनः अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। क्यों? कर्मों का भी त्याग कर देने से। यहाँ 'तत्' शब्द से एक ही कर्ता की प्रतीति हो रही है जिससे यह ध्वनित होता है कि कर्म और ज्ञान, दोनों में ही रत पुरुष अन्धकार के पार जाते हैं। एवम् निःश्रेयसफलक आत्मज्ञान का कर्मों के साथ समुच्चय में मीमांसकों का कोई विवाद नहीं, यह सिद्ध हुआ।

स्त्री के लिए वेदाध्ययनाधिकार में आक्षेप

पूर्व में ही प्रसङ्गतः आप ने यह उपपादन भी किया कि जो धर्म जिसके लिए विहित है उसी के लिए वह धर्म है, अन्यों के लिए वह अधर्म होगा। जैसे वेदाध्ययन, गायत्रीजप आदि त्रैवर्णिक पुरुषों के लिए धर्म होता

हुआ भी स्त्री और शूद्र के लिए अधर्म है। आप की यह बात कलियुगी विभुतासम्पन्न पुरुष के दम्भ कें समान मेरे गले नहीं उतरती। शिव, शिव! स्त्रियों के साथ ऐसा घोर अन्याय! जबकि श्रुतियों में भी स्त्रियों के लिए वेदाध्यनविधि विद्यमान है। स्मृतियाँ भी तदनुग्राहिका बहुत सी उपलब्ध होती ही हैं। मीमांसान्यायों की अनुकूलता तो है ही। मान लिया कि शूद्रों के लिए उपनयनविधि न होने के कारण उनका वेदों में अधिकार नहीं है। इसीलिए कि वेदाध्ययन में उपनीताधिकार न्यायतः प्राप्त है। स्त्रियाँ वेद न पढ़ें, गायत्री न जपें, अग्निहोत्रादि न करें, यह कहाँ कहा गया है? कोई सुस्पष्ट न्याय भी इनकी अनधिकारिता का प्रतिपादक नहीं मिलता। प्रत्युत उसकी अनुकूलता ही परिलक्षित होती है।

पुराकल्पे हि नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते॥
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च॥ (यमस्मृति)

इस वचन के अनुसार स्त्रियों का स्वतन्त्ररूप से उपनयन और अध्यापन का अधिकार सिद्ध हो रहा है। अध्यापन अध्ययन के बिना सम्भव नहीं। यह दूसरी बात है कि आज प्राजातान्त्रिक जमाने में अँगूठाछाप भी अध्यापक बनकर वेतनभोगी बन रहे हैं। उक्त वचनों से यह भी प्रतीत हो रहा है कि स्त्रियाँ घर के ही पिता, चाचा, भाई से पढ़ें, दूसरों से न पढ़ें। गड़बड़ी की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। वे अपने घर में ही भिक्षा करें तथा मृगचर्म और जटा धारण न करें। सर्वथा वे वेद पढ़ें, गायत्री भी जपें। यहाँ पर महर्षि हारीत सुस्पष्ट तथ्य व्यक्त करते हैं—

''द्विविधाः स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनी-नामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तूपस्थिते कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।''

वेदोद्घोष करने वाली तथा तत्काल वधू बनने वाली, दोनों प्रकार की स्त्रियों में प्रथमा ब्रह्मचारिवत् वेदाध्ययन करें तथा अन्य उपनीत होकर विवाह कर लें।

महाराज मनु भी सकलधर्मप्रत्यक्षदर्शी नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडा, उपनयन, केशान्त पुरुषसंस्कारों का विधान करके इन सारे संस्कारों का अतिदेश स्त्रियों में करते हैं—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥

अन्यत्र भी इसी प्रकार का दर्शन होता ही है। वेद भी—

'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, एकादशवर्षं क्षत्रियं, द्वादशवर्षं वैश्यम्' आठ, ग्यारह, बारह वर्षों में ब्राह्मणादि के उपनयन का विधान करता हुआ तज्जातीय स्त्रियों का भी कर ही रहा है। कैसे? यहाँ ब्राह्मणादि को उद्देश करके अर्थात् उनके लिए उपनयन का विधान किया जा रहा है। उद्देश्यभूत ब्राह्मणादि का विशेषण पुंस्त्व ग्रहैकत्वाधिकरणन्याय से अविवक्षित ही रहेगा। फलतः ब्राह्मणादि स्त्री और पुरुष सभी का उपनयन हो, यह उक्त विधि से ही ज्ञात होगा। उपनयन वेदाधिकार की सिद्धि के लिए ही होता है। फलतः स्त्रियों का भी वेदाधिकार सिद्ध हो जायेगा। एवं स्त्रीजाति के लिए भी वेदाध्ययन वेदों, स्मृतियों और न्याय से प्राप्त ही हो रहा है। यह बात भी सिद्ध हो जा रही है कि सन्यास, ब्रह्मजिज्ञासा आदि में भी उपनीत स्त्रियों का अधिकार है। वेदों में गार्गी, मैत्रेयी आदिका उपाख्यान पूर्वोक्त तथ्य का पोषक ही है।

आक्षेपसमाधान

यह सब भ्रष्टाचारप्रवर्तक, स्त्रैण, धनलोभी, जनलोभी, नरकगामी, कुत्सित, अनुपासितगुरु, मर्यादाविरोधी छुछहड़ों का अनर्गल प्रलापमात्र है। कोई भी आत्महितैषी शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण करके इस प्रकार का कदाचारप्रवर्तन नहीं करेगा। ऐसे सनातनमर्यादाविरोधियों की किसी भी कल्प में सद्गति नहीं हो सकती। तत्त्वबोध के लिए पूर्वपक्ष के रूप में आक्षेप स्वीकार ही किया जाता है ताकि उसका यथावत् निराकरण करके शास्त्रीय युक्तियों से सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन किया जा सके। अन्यथा-तत्त्व को आचार में ढाल देना बहुत बड़ी नीचता ही कही जायेगी। ऐसा करके अपनी प्रतिष्ठा मूर्खों में कायम करने वाला निश्चय ही एकजात नहीं हो सकता। उसे त्रिजात ही कहा जा सकता है। शिव! शिव! त्रिजात भी इस तरह का उच्छृङ्खल नहीं हो सकता। इन सारे आक्षेपों का समाधान करना सनातन जनता के हित में सर्वथा उचित होगा। पहले यही विचार कर लेना उचित है कि कन्याओं का ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू के रूप से जो विभाग किया गया वह निश्चय ही उपनयन को निमित्त मानकर ही किया जा सकता है। वह अष्टवर्ष की कन्या में कैसे सम्भव है? गुणवाचक शब्द

के निर्देश से वह जाति भी नहीं हो सकती। 'ब्रह्म' अर्थात् वेद के संभाषण में जिसका स्वभाव है, उसे ही ब्रह्मवादिनी कहते हैं। जो शीघ्र ही वधू बनना चाहती है, उसे सद्योवधू कहते हैं। इस प्रकार कन्याओं में आठवें वर्ष में ब्रह्मवादिनीत्व और सद्योवधूत्व उनकी इच्छा के अधीन ही सम्भव है। ऐसा मानने पर उनकी इच्छा ही उपनयन में कारण मानी जायेगी। यह उचित नहीं, क्योंकि अवश्य करणीय होने से संस्कार होते हैं, न कि इच्छा से। यदि इच्छा से ही संस्कारों को स्वीकार करेंगे तो पुरुषों का संस्कार भी उनकी इच्छा से ही होने लगेगा। यदि ऐसा मान लेंगे तो समय पर जिनका उपनयन नहीं होता उनमें शास्त्र से बोधित व्रात्यत्व (भ्रष्टता) भी अनुपपन्न होने लगेगा। स्वर्गादिकामनावशात् किये गये काम्यकर्मवत्। जैसे स्वर्गादि-कामना न होने पर काम्य कर्मों के न करने से कोई भी पाप नहीं लगता वैसे ही इच्छा न होने से उपनयन के अभाव में व्रात्यतादोष नहीं लगना चाहिये। दोष लगता है, अतः इच्छा के अधीन उपनयन नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिये कि आठवें वर्ष में कन्याओं की उपनयन-विषयक इच्छा भी नहीं हो सकती। तथा च, ब्रह्मवादिनी बनने की सम्भावना होने पर ही उपनयनादि होंगे, अन्यथा सद्योवधूत्व ही निश्चित होगा। इन सारे दोषों को देखते हुए उपनयन की वैदिकी व्यवस्था से नित्यकर्तव्यता और अन्धवधिरों के लिए भी उपनयन का विधान, यह सिद्ध करता है कि इच्छा उपनयन का कारण नहीं है। फलतः उक्त स्मृति वेदविरोध होने पर अप्रमाण ही विरोधाधिकरणन्याय से सिद्ध होती है।

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते', यह यमस्मृति भी विचारणीय है।

पुराकल्प क्या है? अर्थवादविशेष या पूर्वकल्प। यदि अर्थवादविशेष है तो 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने से उसका स्वार्थ में प्रामाण्य सम्भव नहीं। यदि पूर्वकल्प मानेंगे तो प्रतिकल्प श्रुतिभेद की प्रसक्ति होगी जिससे न्यायसिद्ध नित्यत्व का विरोध होगा। वेदापौरुषयत्व का उपपादन पूर्व ही कर दिया गया है। एवम् श्रुतिविरोध होने पर कल्प के अनुसार श्रुतिभेदकल्पना प्रामाणिक नहीं।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।

इत्यादि श्रुतियों से भी वेदों की नित्यता सिद्ध होती है। प्रत्यक्षश्रुति-विरोध 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' में विशिष्टविधि स्वीकार करने पर ब्राह्मण में विद्यमान पुंस्त्व की 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' में पशुगत पुंस्त्व और एकत्व की तरह विवक्षा मानने पर स्पष्ट ही है। 'ग्रहं संमार्ष्टि' में ग्रह को उद्देश करके एकत्व और संमार्ग का विधान करना ही पड़ेगा क्योंकि ग्रहों की 'अंशुं गृह्णाति, ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यों से विधान होने पर प्राप्ति है। अतः 'प्राप्तोद्देशेनानेकविधाने वाक्यभेदः' इस न्याय से वाक्यभेद होने से एकत्व की अविवक्षा मानी जाती है। यहाँ वैसी स्थिति नहीं है। यदि 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इस वाक्य से उपनयन की विधि मानेंगे तो 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' में विहित ब्राह्मण के उपनयन का अनुवाद करके वसन्तकाल का ही विधान मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में भी उपनयन-विधायकवाक्य में ही ब्राह्मण के पुंस्त्व की विवक्षा स्वीकार कर ली जायेगी। सर्वथा उपादेय के विशेषण की विवक्षा मीमांसान्याय से सिद्ध है। अन्यथा 'अध्वर्युं वृणीते' में अध्वर्यु के विशेषण एकत्व की अविवक्षा स्वीकार कर लेने पर अनेक अध्वर्यु का वरण प्रसक्त होने लगेगा। एवं प्रत्यक्ष श्रौतविधि से हारीतादि स्मृति का विरोध होने से 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इस न्याय से अप्रामाण्य ही मानना पड़ेगा। यमवाक्यों का भी इसी न्याय से अप्रामाण्य मानना चाहिये। इस प्रकार स्त्रियों के लिए उपनयन की विधि न होने पर शूद्र के समान उनका वेदाध्ययन प्राप्त नहीं होगा। उनके लिए तो मनु ने इतना ही कहा है—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

सर्वथा इस मनुवचन से स्त्रियों के लिए उपनयन का संग्रह नहीं है, अतः उनके लिए चूडान्त संस्कारों का ही परिग्रह है। इसीलिए कि उपनयन एकमात्र मन्त्र से ही साध्य है। उनके लिए तो यही कहा गया है—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥

आवृत् अर्थात् जातकर्मादि चूडान्त संस्कार, उक्त कालक्रम से शरीर के संस्कार के लिए अमन्त्रक करना चाहिये। इसी वाक्य से यद्यपि उनके लिए उपनयन की भी अमन्त्रक प्राप्ति कह सकते हैं तथापि पूर्व वचन से स्पष्टीकरण है। वैवाहिक विधि ही स्त्रियों का उपनयननामक वैदिक संस्कार मन्वादि के द्वारा स्मृत है। पतिसेवा ही वेदाध्ययनरूप गुरुकुल में वास है। घर का काम ही

सायंप्रातः समिद्होमरूप अग्निपरिचर्या है। इस प्रकार उनके लिए विवाहादि का उपनयन के स्थान में विधान होने से उपनयन और वेदाध्ययन की निवृत्ति ही है। सामान्य का विशेष से बाध होना ही न्यायसिद्ध है। एवम् स्त्रियों के लिए उपनयन, वेदाध्ययन, गायत्री का उपदेश मनु को इष्ट नहीं है। मनु के वचन से ही विपरीत अर्थ स्वीकार करने वाले मूढ ही कहे जायेंगे। मनु से विपरीत सारी स्मृतियाँ अप्रामाणिक ही मानी जाती हैं, जैसा कि कहा ही गया है—

मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते।

इस प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि ऋणत्रय के दूरीकरण का भार भी स्त्रियों के ऊपर नहीं है। अतः स्वतन्त्ररूप से उनका कहीं भी अधिकार नहीं है। अपि तु पति के साथ ही है। एवम् सहधर्मचारिणीत्व भी उनका व्यवस्थित होगा।

अपि च—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'

इस न्याय से कोई प्रयोजन न होने से भी स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन नहीं है। पुरुषों के लिए वेदाध्ययन का एक विशेष प्रयोजन भी है। जैसा कि भाष्यकार ने जिज्ञासाधिकरण में ही स्पष्ट कर दिया है—

दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम।

अब कहिये कि अदृष्टविशेष के लिए स्त्रियों का वेदाध्ययन होगा तो ऐसा कथमपि सम्भव नहीं। क्यों?

दृष्टे संभवति अदृष्टकल्पनस्यान्याय्यत्वात्।

अर्थात् कर्मावबोधरूप दृष्ट प्रयोजन सम्भव है तो अदृष्टविशेष की परिकल्पना उचित नहीं। यह भी नहीं कह सकते कि जैसे अनुष्ठानोपयोगी धर्मज्ञान के लिए वेदाध्ययन पुरुषों के लिए आवश्यक है वैसे ही स्त्रियों के लिए भी हो। क्यों? इसीलिए कि पुरुष की विद्या से स्त्रियों की भी विद्यावत्ता स्वीकार कर ली जाती है। उनके लिए पृथक् कर्मोपयोगी ज्ञान की आवश्यकता नहीं। जहाँ आवश्यकता है वहाँ यथाविधि (विधि का अतिक्रमण न करते हुए) स्वीकार ही करते हैं। स्त्रियों से शास्त्रज्ञों का कोई पुश्तैनी वैर नहीं है। आधानमात्र में 'रथकार' नामक शूद्र की तथा निषादेष्टि में निषाद की विद्या को अर्थात् उनके लिए विहित कर्मोपयोगी ज्ञान को जैसे स्वीकार किया जाता है वैसे ही।

अपि च—अनादि शिष्टाचारपरम्परा से परिगृहीत न होने के कारण भी स्त्रियों के लिए उपनयन और वेदाध्ययन नहीं है, यह सिद्ध हो रहा है। यदि

उनके लिए वेदाध्ययन की विधि होती तो जैसे अनादिकाल से पुरुषों के द्वारा वेद संरक्षित होता हुआ आ रहा है वैसे ही स्त्रियों के द्वारा भी होता। बालकों की जैसे उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन की शिक्षा शिष्टपरम्परा में चली आ रही है वैसे ही कन्याओं की भी आती। गार्गीमैत्रेयी आदि के उपाख्यानों के बल से भी उनके लिए वेदाध्ययन की व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। इसीलिए कि उपाख्यानों के अर्थवादरूप में होने से उनका स्वार्थ में तात्पर्य अर्थवादाधिकरणन्याय से ही स्वीकृत नहीं है। 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' से समाधान भी प्रस्तुत कर दिया गया है। इसी प्रकार पौराणिक उपाख्यानों की भी गतिकल्पना कर लेनी चाहिये। इतना होने पर भी कुछ स्त्रीसधर्मा पुरुष अपना चञ्चूचापल्य प्रस्तुत करते हैं।

पुनः आक्षेप

भगवन्!

वैवाहिको विधिःस्त्रीणामौपनायनिकः परः।

इस स्मार्तवचन से यह सुस्पष्ट ही है कि स्त्रियों के उपनयन के स्थान में विवाह ही है, अतः विवाह के दिन ही 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्, पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' इत्यादि वचनों से पति ही उन्हे यज्ञोपवीत धारण करा कर गायत्रीजप-होम के विधान की उपपत्ति के लिए गायत्री का उपदेश करके वेद भी पढ़ाये। उनके लिए यज्ञोपवीतधारण की विधि गोभिलगृह्यसूत्र में है—

"अहतेन वसनेन पतिः परिदध्यात् या अकृन्तन्नित्येतयर्चा परिधत्ते वाससेति च प्रावृत्तां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् सोमो ददद् गन्धर्वायेति।"

वशिष्ठस्मृति में उनके प्रायश्चित के लिए गायत्रीजप-होम का विधान भी है। इन सारे अभिप्रायों को हृदयङ्गत करके ही 'जातेरस्त्रीविषयाद-योपधात्' इस सूत्र के भाष्य में जाति के लक्षण के अवसरों में कहा है—

अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च जातिवाचकः।

तथा उक्त अभिप्राय को लेते हुए ही—

गोत्रञ्च चरणैः सह

इस वार्तिक में कठी, बह्वृची, अध्वर्युः इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनका अभिप्राय यही है क़ि जो स्त्री कठशाखा पढ़े वह कठी, जो ऋक्शाखा पढ़े वह बह्वृची, जो यजुःशाखा पढ़े वह अध्वर्यु है। इस प्रकार से भी स्त्रियों के लिए उपनयनवेदाध्ययन आदि का अधिकार प्राप्त हो ही रहा है। रामायण में भी कौशल्या को होम में तत्पर और

भगवती सीता को सन्ध्या करने के लिए नदी की ओर प्रस्थान करते हुए निरूपित किया गया है। तथा हि—

कौशल्याऽपि तदा देवी रात्रिं हित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला॥
सन्ध्याकालमनाः स्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थं वरवर्णिनी॥

तथा च, कादम्बरी में महाश्वेता को सन्ध्या करके अघमर्षणमन्त्र को जपते हुए वर्णित करना भी स्त्री के लिए वेदाध्ययनाधिकार सिद्ध करता है। निषेधवचनों को अनुपनीतस्त्रीविषयक स्वीकार कर लेने पर किसी प्रकार के विरोध की भी गुञ्जाइस नहीं रह जाती।

आक्षेप का समाधान

यह भी अतीव गर्हित तुच्छ पुरुषों का तुच्छ विवल्गन है। शास्त्रीय न्यायों का अनुशीलन न करने से इस तरह के कुविचार आते ही हैं।

तथा हि—

'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः।'

यह वाक्य स्त्रीविवाह में उपनयनधर्मातिदेशक नहीं है, अर्थात् पुरुषों का जो वेदाध्ययन उपनयन के बाद होता है वही स्त्री का विवाह के बाद होगा, यह सम्भव नहीं। अतिदेश विकृति की आकाङ्क्षा होने पर उनमें प्राकृत धर्मों का होता है। जहाँ सारे अङ्गों का उपदेश हो उसे प्रकृति कहते हैं तथा जहाँ सारे अङ्गों का उपदेश न हो उसे विकृति कहते हैं। जैसे 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इस वाक्य से विहित सौर्ययाग विकृति है जिसकी प्रकृति 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इस वाक्य से विहित आग्नेययाग है। विकृति सौर्ययाग कैसे करें? यह आङ्क्षा जो होगी तो यही अतिदेश होगा कि प्रकृतियाग आग्नेय की तरह उपकारसंपादन करके। प्रकृतियाग का जैसे प्रयाज-अनूयाज आदि अङ्गों से उपकार का सम्पादन किया जाता है वैसे ही विकृतियाग के उपकार का सम्पादन हो। अर्थात् प्राकृत सारे पदार्थ विकृति में भी अनुष्ठीयमान होंगे। यदि विवाह को उपनयन की विकृति मानेंगे तभी उपनयन के धर्मों का विवाह में अतिदेश होगा, अन्यथा नहीं। अपि च, विकृति की आकाङ्क्षा होने

पर ही प्राकृतधर्मातिदेश स्वीकार किया जाता है। विवाह को उपनयन की विकृति इसलिए भी नहीं मान सकते कि विवाह में किसी भी अन्य धर्मों की आङ्क्षाक्षा नहीं है। वह तो अपने धर्मों से परिपूर्ण संस्कार है। अतः वहाँ उपनयन की निवृत्ति मानना ही उचित है। एवम् स्वतन्त्ररूप से स्त्रियों के लिए अध्ययन, गायत्री-उपदेश तथा दण्डमेखलादिधारण की प्राप्ति ही नहीं है। जहाँ कहीं यज्ञाङ्गभूत मन्त्रपाठोच्चारण विधिवशात् प्राप्त है उसे वाचनिक होने के कारण हम उसका निवारण नहीं करते। यह जो 'यज्ञोपवीति-नीमभ्युदानयन् जपेत्' यह गोभिलगृह्यसूत्र है वह भी विवाह का अङ्गभूत यज्ञोपवीत धारण को ही सूचित कर रहा है, न कि उपनयन को। यज्ञोपवीत वासोविन्यास है, ऐसा तृतीयाध्याय में श्री शबरस्वामी बोलते हैं। स्त्रियों का यज्ञोपवीत आज की भाषा में पिछौड़ी (ओढ़नी) ही है। अतः कोई विरोध नहीं। वशिष्ठस्मृति में होमविधान प्रायश्चितरूप से विहित है जो ब्राह्मणद्वारा ही शक्यसम्पादन है। इसीलिए कि सर्वत्र ब्राह्मणद्वारा ही स्त्री के लिए होम का विधान है। शिष्टाचार भी अद्य यावत् वैसा ही चला आ रहा है। ब्राह्मणद्वारा होम के सम्पादित होने पर भी स्त्रीकर्तृकत्व का कोई विरोध नहीं। ऋत्विक् द्वारा याग के सम्पादित होने पर यजमानकर्तृकत्ववत्। एवम् रामायणगत कौशल्याकृत होम, सीता का सन्ध्यावन्दननिर्देश, कादम्बरीगत महाश्वेता का सन्ध्याजपादिवर्णन का भी समाधान समझ लेना चाहिये। उपाख्यानों का तत्त्वाख्यान में तात्पर्य नहीं होता। उपाख्यान के अर्थवादरूप होने से विधिपरत्व ही उनका माना जाता है। उपाख्यानों की विधि वेदविरुद्ध नहीं हो सकती। वेदों के उपबृहण के लिए ही इतिहास और पुराण होते हैं। अतः इतिहास-पुराणों की वेदाविरोधपूर्वक ही सङ्गति बैठाना उचित है, न कि तद्विरोधपूर्वक।

'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस सूत्र में आद्योदाहण का प्रदर्शन भाष्यानवलोकनमूलक ही माना जायेगा। भाष्य में उदाहरण का उपन्यास नहीं है। कठी, बह्वृची इत्यादि उदाहरण सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजीदीक्षित ने प्रदर्शित किया है। उदाहरण की क्या गति होगी? इस पर भाष्यपर्यालोचन से यही सिद्ध होगा कि 'आकृतिग्रहणा जातिः' यह जैसा जाति का लक्षण है वैसा ही 'गोत्रं च चरणैः सह' यह भी वार्तिककारीय जातिलक्षण होगा। तथा च, जैसे आकृतिवाचक शब्द जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मान कर

स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा वैसे ही शाखाध्येतृवाचक कठादि शब्द भी स्वार्थभूत पारिभाषिक कठत्वादिजाति से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा। कठत्वादि जाति नहीं है। एवं यही अर्थ निष्पन्न होगा कि अपत्यप्रत्ययान्त शाखाध्येतृवाची शब्द जातिकार्य स्त्रीप्रत्यय को प्राप्त होगा। अब कहिये कि कठी आदि स्त्रीवाचक शब्दों में शाखाध्येतृत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त की क्या गति होगी? उदाहरण से तो यही मालूम पड़ता है कि कठादि शाखा पढ़ने वाली स्त्री ही कठी, बह्वृची है अर्थात् स्त्रियों का वेदाधिकार है। इस पर यही कहा जा सकता है कि रूपकालङ्कारवत् यहाँ गतिकल्पना करनी होगी। अथवा स्त्री वेदाध्ययन न करे तथापि वेदाध्ययनकारियों के वंश में पैदा होने से ताच्छब्द्य अर्थात् शाखाध्येतृवाची कठी आदि शब्दों की उपपत्ति हो जायेगी। विद्वानों का यह समाधान आदरणीय होते हुए भी मेरे विचार से कृत्वाचिन्तान्याय से उक्त सारे उदाहरणों की गतिकल्पना हो जायेगी। बुद्धिवैशद्य के लिए कृत्वाचिन्तान्याय शास्त्रों में आता ही है। स्त्री का यद्यपि वेदाधिकार नहीं है तथापि यदि कठादि शाखा वह पढ़ेगी तो क्या उसे कहेंगे? इसका उत्तर होगा 'कठी'। एवं स्त्री का वेदाधिकार वेद से ही असिद्ध होने पर व्याकरणोदाहरण की अन्यथा कल्पना करनी ही पड़ेगी। व्याकरणोदाहरण की सार्थक्यकल्पना के लिए यदि स्त्रियों के उपनयनादि की कल्पना करेंगे तो निश्चय ही वेदविरोध होगा। व्याकरणस्मृति के द्वारा अपौरुषेय वेद का बाध उचित नहीं। वेद की अपेक्षा स्मृतियों के दुर्बल होने के कारण ही। व्याकरणस्मृति का पदसाधुत्वबोधन ही कार्य है न कि पदार्थों का अनुष्ठापन। अतः व्याकरण के अनुरोध से वेद का प्रामाण्य कथमपि बाधित नहीं होगा। एवम् वेदों का जैसे अविरोध हो वैसे ही व्याकरण स्मृति का नयन करना उचित है। इस प्रकार यह सिद्ध ही हो जाता है कि ज्ञान-उपासना और प्रजातन्तुसंरक्षणपरम्परा का अतिभार पुरुषों के ही ऊपर है। स्त्री उनमें सहकारिणी मात्र है। सारे कार्यों में स्त्री के इस सहकारित्व का प्रतिपादन शास्त्र के द्वारा ही होने से उसका निवारण कथमपि शास्त्रकार नहीं करते। अतः शास्त्रदृष्टि से और राष्ट्रदृष्टि से सर्वत्र धार्मिक कार्यों में स्त्री का सहकारित्व ही समझना चाहिये। मनु ने भी कहा है—

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थञ्च मानवाः।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥

अर्थात् धर्म का उदय श्रुतियों में पत्नी के साथ ही हुआ है।

मानवमात्र का साधारण धर्म सत्य और उसमें सकल सामान्य धर्मों का अन्तर्भाव

पुरुषों की व्याख्या से प्रेरित जितने भी बौद्धादि धर्माभास हैं, उनसे सत्य का कोई विरोध नहीं। किसी में यह औकात नहीं कि वह सत्य का विरोध करे। लोकसंग्रह, जो उनका इष्ट है, वह सत्यविरोध से प्राप्त नहीं होता, अतः बुद्धादि सकल वेदविरोधी 'सत्य' को धर्मत्वेन स्वीकार किये हैं। उनका विरोध विशेष धर्मों से है। श्राद्ध का तो वे खुलकर विरोधी हैं। अन्य सकल विशेष धर्मों, जैसे यागादि के विरोधी वे हैं। यहाँ यह व्यक्त कर देना उचित है कि सत्य, जिसमें सकल सामान्य धर्मों का अन्तर्भाव है, वह भी वेदैकमात्रसमधिगम्य धर्म है। 'सत्यमेव वदेत्' यह सत्यवदन की विधि है। तथैव 'नानृतं वदेत्' से मिथ्याभाषण का प्रतिषेध भी है। सत्य श्रुतिसिद्ध धर्म है न कि पुरुषबुद्धि से प्रवर्तित, यह बात इस भारतीय वचन से भी पुष्ट है—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
श्रुति र्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥
उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः॥
अश्वमेधसहस्त्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और अनृत (झूठ) से बड़ा कोई पाप। सत्य के प्रतिपादन में वेद सदा जागरूक रहते हैं। सत्य से ही अन्य सारे यागादि धर्म हैं अतः सत्य का लोप नहीं करना चाहिये। किं बहुना, हजारों की संख्या में सबसे बड़े धर्म अश्वमेध और एक सत्य को तौला जाय तो सत्य ही विशिष्ट होगा। यह सत्य की महिमा है। यह सत्य तेरह प्रकार का होता है जैसा कि महाभारत में ही कहा गया है—

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता॥
त्यागो ध्यानमथाऽर्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र! सत्याकारास्त्रयोदश॥

अर्थात् समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा,ह्री (लज्जा), तितिक्षा, अनसूयता, त्याग, ध्यान, आर्यता, धैर्य, दया, अहिंसा ये त्रयोदश सत्य के ही आकार हैं। इस प्रकार सत्य की व्यापकता सिद्ध होती है और सत्य में ही सारे मानवमात्र के सामान्य धर्मों का अन्तर्भाव भी सिद्ध होता है। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार होगा—

आत्मनीष्टे तथाऽनिष्टे रिपौ च समता तथा।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयन्तथा॥

अर्थात् अपने में इष्ट तथा अनिष्ट में एवम् शत्रु मे भी कामना और द्वेष का क्षय तथा कामक्रोध का नाश प्राप्त करके समभाव को समता कहते हैं।

दमो न्यान्यस्पृहा नित्यं धैर्यं गाम्भीर्यमेव च।

अर्थात् अन्य किसी भी विषय की इच्छा न करना ही दम है। सदा धैर्य धारण करना और गम्भीर रहना भी दम के अन्दर ही आयेगा।

अपि च— **अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते।**

भयशून्यता, रोगशून्यता भी दम का ही एक रूप है। दम की प्राप्ति ज्ञान से ही है न कि सद्‌गुरु से। ज्ञान चतुर्दश पूर्वोक्त विद्यायों से ही सम्भव है जो इन सारी विद्याओं के परम्परानुगत पण्डित आचार्य से ही होगा।

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुः दाने धर्मे च संयमः।

अर्थात् दान और धर्म में संयम ही अमात्सर्य है।

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च।
क्षमते संगतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक्॥
कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्॥

यहाँ सत्य बोलने वाले में ही क्षमा अर्थात् प्रतिकूलतासहन प्रतिष्ठित है। क्षमावान् पुरुष सभी का कल्याण करता है और कभी खिन्न नहीं होता।

प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते।

जिससे वाणी और मन अत्यन्त शान्त हो उसे ही ह्री कहते हैं, जो धर्माचरण से प्राप्त होती है।

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लक्ष्यते॥

अर्थ और धर्म के लिए द्वन्द्व को सहना ही तितिक्षा है जिसे क्षान्ति भी कहते हैं। लोकसंग्रह के लिए वह तितिक्षा धैर्य से प्राप्त होती है।

अनसूया परगुणे मनःसौम्यत्वमुच्यते।

पर गुणों में मनः की सौम्यता ही अनसूया कहलाती है।

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणा न्तथैव च।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा॥

स्नेह और विषयों का त्याग ही त्याग है। राग और द्वेष से जो सर्वथा शून्य है, वही त्याग कर सकता है, दूसरा नहीं।

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च॥

सारे प्राणियों के लिए रागशून्य होकर शुभ कर्म करना ही आर्यता है।

धृति र्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥
सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः॥

सुख और दुःख में किसी भी प्रकार का विकार न आना ही धृति है। बुद्धिमान् पुरुष, जो अपना कल्याण चाहे, वह धृति का सेवन अवश्य करे। नित्य ही हर्ष, भय, क्रोध को त्याग कर क्षमा और सत्य में प्रतिष्ठित व्यक्ति ही धृति प्राप्त कर सकता है। 'महत्सेवां द्वारमाहु र्विमुक्तेः' अर्थात् पूर्वोक्त सकल धर्मों में प्रतिष्ठित विद्वान् महापुरुषों की सेवा ही मुक्ति का द्वार है। वर्णाश्रमधर्मनिरत धर्मशास्त्राभिज्ञ महापुरुषों के सन्निधान से निश्चय ही धर्म की परिप्राप्ति होती है। ऐसा ही सदुपदेश एक प्रातःस्मरणीय महापुरुष से मुझे उचित काल में प्राप्त हुआ। सहृदयचक्रवर्ती श्रीमत्स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज का सन्देश उनके तिरोभाव के पश्चात् भी मिलता रहता है। सन्न्यासदिवस के उपलक्ष्य में उनका एक सन्देश पत्र के माध्यम से प्राप्त हुआ था। वह कुछ इस प्रकार था—"सत्सङ्ग का यह फल नहीं है कि अपना व्यवसाय ठीक से चलता रहे, परिवार में किसी से वियोग न हो, सर्वथा सुखमय ही जीवन रहे। प्रारब्धानुसार ये सब प्राप्त होते ही रहेंगे। सत्सङ्ग का यह फल है कि ऐसी विषम परिस्थितियों के आने पर भी धैर्य बना रहे।"

यह सन्देश मेरे लिए सञ्जीवनी का काम किया। मुझे लगा कि स्वयम् महाराजश्री प्रकट होकर मुझे सांसारिक दलदल से निकालने के लिए उपस्थित हो गये हैं। ऐसे महापुरुष चतुर्दशविद्याभिज्ञ वीतराग को मेरा शत-शत नमन।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानञ्च सतां धर्मः सनातनः॥

सारे प्राणियों के प्रति कर्म, मन, वाणी से द्रोह का अभाव तथा अनुग्रह और दान ही दया है, जो सत्पुरुषों का धर्म है, अर्थात् जिनमें ऐसी दया प्रतिष्ठित है, वे ही सत्पुरुष हैं।

अहिंसा सर्वभूतेषु पीडाया अप्यचिन्तनम्॥

सारे प्राणियों की पीडा के विषय में विचार भी न आना अहिंसा है।

ये सारे त्रयोदश प्रकार के धर्म सत्य के ही अन्तर्गत आते हैं। संसार के हर कोने में इन धर्मों की आलोचना नहीं होगी। इनको स्वीकार करते हुए ही पुरुषों का अपना स्वतन्त्र मत कुछ स्वोत्प्रेक्षित चटनी मिलाकर जनता के बीच आता है। स्वोत्प्रेक्षित वस्तु पाखण्ड कही जाती है जिसको ढकने के लिए उपर्युक्त त्रयोदश प्रकार के वेदोदित धर्म उनके द्वारा स्वीकार होते हुए अपने उपदेश के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाते हैं। ऐसे लोग विशेष वैदिकधर्म की आलोचना में मुखर होकर दुनिया में अपना पाखण्ड फैलाते हैं।

विशेष धर्म और उनका अनुष्ठानप्रकारप्रदर्शन

तत्तद्वर्णों और आश्रमों के लिए ही विशेषरूप से वेदों के द्वारा ही बोधित धर्म विशेष धर्म कहलाते हैं। इन धर्मों का अनुष्ठान वे ही कर सकते हैं जिनके लिए इनका विधान है। जिनके लिए इनका विधान नहीं है, उनके लिए ये अधर्म ही होंगे। दान, श्राद्ध, तीर्थयात्रा, स्नानादि तथा स्मार्त एकादशी-रामनवमी-कृष्णाष्टमी-महाशिवरात्रि आदि व्रतोपवास, जो ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त वैदिकमतावम्बिजनता में प्रचलित धर्म हैं, वे उनके द्वारा ही यथासमय यथाशास्त्र क्रियमाण होने चाहिये।

यागादि धर्मों के अनुष्ठान के लिए विशेष योग्यता अपेक्षित है। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के विशेषरूप से अनुष्ठीयमान धर्म गीता-भागवतादि सकल स्मृतिपुराणों में प्रतिपादित हैं। जीविकार्थ अर्जननियम भी विशेषतः विहित है जिसका सकल जनता भी तारतम्य समझती है। अध्यापन-याजन-प्रतिग्रह से ही ब्राह्मण धनार्जन करें, जय-प्रजापालनादि के द्वारा ही क्षत्रिय धनार्जन करें तथा वैश्य कृषि-पशुपालन-वाणिज्या के द्वारा ही धनार्जन करें एवम् शूद्र भी अपनी शिल्पविद्या से जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते

हुए परिचर्या द्वारा ही धनार्जन करें। सेवा से तात्पर्य है, यथोचित वृत्तिलब्ध शिल्पादिकर्मों से अपेक्षित वस्तुओं को समाज में उपलब्ध कराना। भृत्यवृत्ति भी सेवा में ही आयेगी तथा यज्ञादिकों की सामग्री जुटाना भी सेवा ही है। कोई काम नहीं मिलता है तो श्रमवृत्ति भी सेवा ही है। ये सारे के सारे अर्जननियम मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में पुरुषार्थतया प्रतिपादित हैं न कि क्रत्वर्थतया। कथम्? सर्वधर्मविधियों के बाधित होने से। यदि ये अर्जननियम क्रतु (याग) के लिए ही मान लिए जाँय तो अर्जित धन का धर्मातिरिक्त भोजनादि में उपयोग शक्य नहीं होगा। ततः प्राणधारण ही सम्भव न होने के कारण सकलधर्मानुष्ठान के अशक्य होने से वेदों की अर्थवत्ता ही बाधित होने लगेगी। अतः सारे नियम पुरुषार्थ ही होंगे। ततः धर्मानुष्ठान भी सिद्ध हो जायेगा। यहाँ यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि नियम का उल्लङ्घन करने पर प्रत्यवाय (पाप) अवश्य होगा। यागादिविशेष धर्म त्रैवर्णिकमात्र के लिए हैं, जो त्रैवर्णिक उनके अनुष्ठान की योग्यता रखते हैं। यदिं अनुष्ठानयोग्यतासम्पन्न शूद्र है तो वह भी यागादि का अनुष्ठाता होगा ही, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। क्यों? श्रूयताम्!

''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः'', इत्येवमादि अनेक प्रकार की काम-श्रुतियाँ तत्तद्वर्णों के लिए कामनामात्र दृष्टि से यागादि धर्मों की प्रयोजिका नहीं होतीं। यदि इन्हें प्रयोजिका मानेंगे तो स्वर्गादिफलों की कामना चारों वर्णों की होती है अतः चारों वर्ण स्वर्गादि फलों के लिए यागादिधर्मों में प्रवृत्त होंगे। विद्या के बिना धर्मानुष्ठान के सम्भव न होने से ये विधियाँ अविशेषात् चारों वर्णों के लिए विद्या का आक्षेप करते हुए अर्थज्ञान-साधनीभूत वेदाध्ययन में चारों वर्णों को अधिकृत कर देंगी। फलतः शूद्रों को वेदाध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा सम्भव भी होता यदि 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम्', यह त्रैवर्णिक मात्र के लिए उपनयन की विधि होती ही नहीं। शूद्रों के उपनयन का विधायक कोई वाक्य उपलब्ध ही नहीं होता प्रत्युत उनके लिए वेदश्रवण की निन्दा उपलब्ध होती है। फलतः अध्ययनसाधनीभूत उपनयन में उनका अधिकार नहीं है, यह निश्चित होता है। जिन त्रैवर्णिकों के लिए उपनयनविधि है वे त्रैवर्णिक यथासमय यथाशास्त्र संस्कृत होकर अपेक्षा करेंगे कि उन्हें आगे

क्या करना चाहिये। ऐसे में अनिर्दिष्टकर्तृक 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि कर्ता की अपेक्षा करता हुआ संस्कृत 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' इन त्रैवर्णिकों का ही ग्रहण करेगा, शूद्रों का नहीं। क्यों? अपेक्षाभावात्। यह लोकन्याय है। अपेक्षा होने पर ही नियुक्तिप्रक्रिया चलती है, अन्यथा नहीं। फलतः स्वाध्यायाध्ययनविधिक्रम से अर्थज्ञानसम्पन्न होने से त्रैवर्णिक ही यागादि विशेष धर्मों के अधिकारी होंगे। इस क्रम में जो नहीं आते वे त्रैवर्णिक भी अधिकारी नहीं होंगे। गुरुकुल में ही व्रतपूर्वक वेदाध्ययन करके मीमांसाशास्त्र का, जिसको विचारशास्त्र भी कहते हैं, अनुशीलन करना आवश्यक है तभी विद्या की सम्पन्नता मानी जायेगी। विद्वान् ही यागादि धर्मों में अधिकृत होता है यह 'य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते, य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजेत स यावदतिरात्रेण उपाप्नोति तावदुपाप्नोति' इत्यादि वैदिक वचनों से बोधित होता है। इसके बाद स्नानापरपर्याय समावर्तन-संस्कार के द्वारा 'स्नातक' होकर मनुस्मृति प्रोक्त स्नातक के धर्मों का निर्वाह करना पड़ेगा। तत्पश्चात् दारसंग्रह के लिए विवाह आवश्यक है। क्यों? धर्मानुष्ठान में स्त्री-पुरुष का सहाधिकार सिद्ध होने से। ततः वसन्ते 'ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' इस विधिक्रम से आहवनीयादि अलौकिक अग्नियों की सिद्धि के लिए अग्न्याधानसंस्कार भी अपेक्षित है क्योंकि अग्निसाध्य कर्मों के लिए आधानविधिसिद्ध अग्नि अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त काम्य कर्मों के लिए सारे अङ्गों के अनुष्ठान के लिए सामर्थ्य भी होना जरूरी है। फलतः विकलाङ्गों की काम्य कर्मों में अधिकारिता नहीं है, यह बात सिद्ध होती है। नित्य कर्मों के अनुष्ठान के लिए कुछ अङ्गों के अनुष्ठान की शक्ति न होने पर भी अधिकार सिद्ध होता है। इतना सब होने पर ही यागादि अग्निसाध्य कर्मों का अधिकारी होगा। यावद्वैदिकसंस्कार भी अपेक्षित हैं। क्योंकि संस्कारों के बिना किया गया धर्म निरर्थक ही होता है। अग्निसाध्य कर्म अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, आग्रयणेष्टि पर्यन्त काम्य और नित्य दोनों हैं। काम्य प्रयोग के समय नित्य का अनुष्ठान नहीं होगा। मुख्य रूप से इष्टि, पशु और सोम ये तीन प्रकार यागों के बतलाये गये हैं। सोमयागों में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, इन तीनों वेदों की अपेक्षा है। जिनमें षोडश, ऋत्विक् होते हैं। इनमें प्रकृति और विकृति के भेद से अनेक यागों

के उपदेश वेदों में भरे पड़े हैं। सारी इष्टियों की प्रकृति दर्शपूर्णमासयाग है। पशुयागों की प्रकृति अग्नीषोमीय पशुयाग है। सोमयागों की प्रकृति ज्योतिष्टोम है। विकृतियागों में अनेक इष्टियाँ, पशुयाग और सोमयाग हैं। अनेक सोमयागों का समुदाय गणयागों के रूप में अहीन प्रतिष्ठित हैं। द्वादशाह अन्य सारे अहीनों की प्रकृति है। अहीनों के आगे नाना प्रकार के सत्रों के उपदेश मिलते हैं जिनमें न्यूनातिन्यून सत्रह आहिताग्नि यजमान और वे ही ऋत्विक् (याग कराने वाले) होते हैं। ये यजमानास्त एव ऋत्विजः। सत्रों का अनुष्ठान समयसाध्य है। उदाहरण के रूप में 'गवामयन' सत्र को लिया जा सकता है। इसका आरम्भ माघकृष्ण अष्टमी, माघशुक्ल-एकादशी, फाल्गुन-पौर्णमासी अथवा चैत्री पूर्णिमा को होता है। आरम्भतः 'तिस्र उपसदः साह्नस्य द्वादशाहीनस्य' इस वचन के अनुसार बारह दिन तक बारह दीक्षायें और उतनी ही 'उपसद्' नाम की इष्टयाँ होती हैं। आरम्भदिन में ही इष्टि, पशु और उखासंभरण होते हैं। अन्तिम उपसद् के दिन अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है तथा उसी दिन सुत्या (प्रधानभूत सोम) का आरम्भ होता है। इस सत्र में ३६१ सुत्यायें होती हैं। जिसका उल्लेख ताण्ड्यमहाब्राह्मण १२/३/११ में है। 'महाव्रत' नामक सोमयाग में 'अतिग्राह्य' नामक ग्रह का ग्रहण होता है। सोमरस का जिस पात्र में होम के लिए ग्रहण होता है उसे ही ग्रह कहते हैं। इसमें तीन आनुबन्ध्य पशु भी होते हैं। सपत्नीक यजमान का सशिख मुण्डन होता है। इसके अनन्तर अग्नियों का विभाग करके सारे दीक्षित यजमान अलग-अलग 'पृष्ठशमनीय' नामक, अग्निष्टोम नामक सोम याग करते हैं। शेष कृत्यों का सम्पादन द्वादश के समान ही होता है। इसमें १८० सुत्यायें पूर्वपक्ष हैं और उतनी ही उत्तरपक्ष। दोनों पक्षों के बीच 'विषुवान्' नाम का दिन है। संवत्सर-(वर्ष) साध्य होने के कारण इसका दूसरा नाम संवत्सरसत्र भी है। इस तरह बारह दीक्षा और इतनी ही उपसदों के साथ कुल ३८५ दिनों में इस सत्र का अनुष्ठान होता है। इसमें प्रतिदिन तीनों सवनों में अधिक ग्रह-चमस आदि और सामवेदोक्त स्तोत्र तथा ऋग्वेदोक्त शस्त्र प्रकृति के ही समान होते हैं। 'गवामयन' सत्र में दिनों की संरचना इस प्रकार है— अग्नीषोमीय पशुयाग के अनुष्ठान के बाद 'प्रायणीय प्रथमदिन' अतिरात्रसंस्था वाला ज्योतिष्टोम है। यहाँ संस्था का 'समाप्ति' अर्थ है। एक

ही ज्योतिष्टोम यदि अग्निष्टोम स्त्रोत्र से समाप्त होगा तो उसे अग्निष्टोमसंस्थाक याग कहेंगे। इसी तरह उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र स्तोत्रों से परिसमाप्ति होने पर तत्तत्संस्थाक नाम होगा। एवम् उक्थ्यसंस्थाक द्वितीय दिन वाला होगा। इसके बाद चार षडह अभिप्लव होते हैं। प्रथम अग्निष्टोम, पश्चात् चार उक्थ्य फिर छठां अग्निष्टोम, इन छः दिनों की अभिप्लव संज्ञा है। तत्पश्चात् त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, इन छः स्तोत्रसंख्याओं से साध्य (छः दिनों तक) 'पृष्ठ्य' नामक षडह होगा। एवम् पाँच षडहों से तीस दिनों का एक 'सावन' (सोमयाग सम्बन्धी) महीना होगा। ऐसे ही उन षडहों की आवृत्ति से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम मास का भी सम्पादन होता है। छठे महीने में पहले के तीन अभिप्लव नामक षडह, एक पृष्ठ्य षडह मिलकर चौबीस होते हैं। पश्चात् अग्निष्टोमसंस्थाक अभिजित् नाम का यज्ञ होता है। ततः 'स्वरसाम' नामक तीन दिन के अग्निष्टोमसंस्था या उक्थ्यसंस्था वाले याग होते हैं। मिलकर ये २८ हुए। आदि के दो दिनों को मिला कर तीस दिनों का यह महीना हुआ। ये छः मास पूर्वपक्ष हैं। पश्चात् विषुवान् नाम का अग्निष्टोमसंस्थाक दिन होगा। यह गवामयनसत्र का मध्य है। इसके बाद उत्तरपक्ष का आरम्भ होगा इसमें जिस क्रम से पूर्वपक्ष में दिनों की रचना हुई थी उसके विपरीत क्रम से दिनों की रचना होती है। तथा हि—पहले प्रतिलोम क्रम वाले तीन स्वसाम, ततः 'विश्वजित्' नामक अग्निष्टोम फिर प्रतिलोमक्रम से ही त्रयस्त्रिंशत् (३३) साम से आरम्भ होने वाला पृष्ठ्य षडह होता है। पश्चात् तीन अभिप्लव नाम से षडह होते हैं। सबको मिलाने से २८ दिन हुए। सत्र के अन्तिम दिनों में कर्तव्य महाव्रत और उदयनीय इसी महीने में गिने जाते हैं। इस प्रकार एक महीना हुआ। दूसरे मास में विपरीत क्रम से ही पहले त्रयस्त्रिंशत् से आरम्भ होने वाला एक पृष्ठ्य षडह, ततः चार अभिप्लव षडह—सबको मिला कर दूसरा महीना हुआ। एवम् तीसरा, चौथा और पाँचवाँ महीना भी सम्पन्न होता है। छठें महीने में प्रथम तीन अभिप्लव नाम के षडह होते हैं। तदुपरान्त उक्थ्य संस्था वाला गोष्टोमनामक दिन होता है। तत्पश्चात् आयुष्टोमनामक दिन होता है जिसकी समाप्ति उक्थ्यस्तोत्र से होती है। तदनन्तर द्वादशाहिक होता है। प्रथम और उत्तर दिन से रहित दशरात्र, इन सबके योग से छठा महीना पूरा होता है। इसके उपरान्त महाव्रत और उदयनीय नामक अन्तिम दिन

होता है। इन दो दिनों की पहले महीने में गणना नहीं की गयी। एवम् अन्य भी बड़े-बड़े सत्रों के अनुष्ठानों का गहन से गहनतर प्रकारों को समझना चाहिये। इनका भी परिज्ञान वेदों से ही सम्भव है। अनुष्ठान में कहीं भी अन्यथात्व की प्रसक्ति न हो इसके लिए पूर्वोत्तरपक्षों को लेकर गहन मीमांसा भी होती है। सत्रदीक्षा कलिवर्जप्रकरण में होने से आज कल अनुष्ठेय नहीं है। इसमें कारण यही है उसका यथावत् परिज्ञान और अनुष्ठान में धैर्यबाहुल्य सम्भव नहीं। कहीं न कहीं वैगुण्य की सम्भावना रहेगी ही। अतः आज वर्जनीय है। जो वर्जनीय कर्म नहीं हैं, उनके अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं। इन सत्रों के अतिरिक्त वाजपेय, राजसूय, और अश्वमेध भी अतीव गहन कर्मों में परिगणित हैं।

इनके यावत् प्रयोग वेदों और कल्पसूत्रों में सुरक्षित हैं। आज भी इन अलौकिक कर्मों के सम्पादन में दक्ष मनीषी भारत में विद्यमान हैं। साग्निचित्य सौमिक प्रयोगों में अग्निचयन की गहन प्रक्रिया आदि-आदि के प्रकारों का यहाँ ज्ञान कराना सम्भव नहीं। यत्किञ्चिद् दिग्दर्शनमात्र से वेदादिशास्त्रों की लोकोत्तरता के प्रतिपादन की ही दृष्टि है। सम्प्रति दिग्दर्शन मात्र के लिए सोमयाग का निरूपण असंगत नहीं होगा।

सोमयागनिरूपण

पूर्वोक्त क्रम से आधानादि द्वारा अग्निसम्पन्न त्रैवर्णिक सोमयाग करने का आधिकारी है। उसे पवित्रेष्टि आदि से, जप से पुण्यतीर्थस्नानादि से एवम् पावन कर्मों से शुद्धान्तरात्मा तथा सारे प्राणियों में निर्वैर होना आवश्यक है। जिसके पिता-पितामह सोमयाग का अनुष्ठान नहीं किये हैं वह त्रिपुरुषसोमपानविच्छेदी कहा जायेगा और सोमयाग में अयोग्य भी होगा। जिसके पिता-पितामह वेदाध्यायी नहीं हैं और न ही श्रौत हविर्यज्ञों का अनुष्ठान भी नहीं करते वह दुर्ब्राह्मण है और सोमयाग में अनर्ह भी। एवम् पूर्वोक्त दोनों दोषों के निराकरण के लिए आहिताग्नि को चाहिये कि वह ऐन्द्राग्नपशुयाग और आश्विनपशुयाग का पहले अनुष्ठान करे। पश्चात् सोमयाग का अनुष्ठान करे।

सोमद्रव्य की प्रधानता के कारण इसे सोमयाग कहते हैं। वस्तुतस्तु इसका नाम ज्योतिष्टोम है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।' इष्टियाँ और अनेक पशुयाग इसके अङ्ग होते हैं। पशुयागी क्षत्रियादि पशु से करते हैं

किन्तु सात्त्विक व्रीहि (धान) से भी कर सकते हैं, ऐसा महाभारत पुराणादि से ज्ञात होता है—'अजस्त्रैवार्षिको व्रीहि' रिति धनञ्जय कोशः। 'अग्निष्टोम' नामक साम से समाप्त होने से इसकी 'अग्निष्टोम' संज्ञा भी है। यह याग ऋग्वेद-यदुर्वेद-सामवेदों में कहे गये तीन प्रकार के अङ्गों से सम्मिलित होकर अनुष्ठीयमान होता है। उसमें सारे प्रायः क्रियाकलाप यायुर्वैदिक ही होते हैं। ऋग्वेद से नाना प्रकार के याज्या-पुरोनुवाक्या-शस्त्र-पुरोरुगादि आते हैं। सामवेद से गानविशिष्ट मन्त्रों के द्वारा क्रियमाण यागीय देवताओं के गुण कहने के लिए स्तोत्र गृहीत होते हैं। ज्योतिष्टोम के विकार के रूप में अनेक सोम यागों का उपदेश वेदों में है जहाँ विभिन्न प्रकार के स्तोत्रों का प्रयोग होता है। ये सोमयाग कहीं अनुष्ठाता के नाम से तो कहीं द्रष्टा के नाम से व्यवहार में आते हैं। जैसे—अङ्गिरसांद्विरात्र, जनकसप्तरात्र, गर्गत्रिरात्र आदि-आदि। काम्य होते हुए सन्ध्या की तरह यह नित्य भी है जिसे प्रत्येक आहिताग्नि को प्रतिवसन्त करना होता है। न करने पर पाप लगता है। सोम कोई लता विशेष है जो इस समय अनुपलब्ध है। अनुष्ठान तत्प्रतिनिधिद्रव्य पूतीका से इस समय होता है। यह काम्य भी है। काम्यानुष्ठान के समय नित्य का बाध होता है।

सोमयाग में प्रथमदिन का कृत्य

सोमयाग करने का इच्छुक सपत्नीक यजमान वसन्तपूर्णिमा के पूर्व अष्टमी, नवमी अथवा एकादशी के दिन संकल्प करता हुआ ऋत्विजों को सूचना देने के लिए सोमप्रवाक का वरण करके उसे वहाँ भेजे। ततः ऋत्विजों के आने पर उनका वरण करे। मधुपर्कादिप्रकार से उनका सत्कार भी करे। चार गणों में चार-चार ही ऋत्विक् होते हैं। यागों के सम्पादन करने वाले विद्वान् को ऋत्विक् कहते हैं। गणानुसार उनका क्रम यह है—

(क) अध्वर्युगण	(ख) ब्रह्मगण	(ग) होतृगण	(घ) उद्गातृगण
१. अध्वर्यु	१. ब्रह्मा	१. होता	१. उद्गाता
२. प्रतिप्रस्थाता	२. ब्राह्मणाच्छंसी	२. मैत्रावरुण	२. प्रस्तोता
३. नेष्टा	३. आग्नीध्र	३. अच्छावाक	३. प्रतिहर्ता
४. उन्नेता	४. पोता	४. ग्रावस्तुत्	४. सुब्रह्मण्य

इसके अतिरिक्त 'सदस्य' नामक एक ऋत्विक् और होता है। ऋत्विक्-वरण के बाद अपने कर्म को निर्विघ्न समाप्त करने के लिए देवता

का उपस्थापन करके गार्हपत्य अग्नि को दोनों अरणि (काष्ठ) में रखकर तथा उस अग्नि को शान्त करके अरणि, यज्ञसामग्री को लेकर यागस्थान पर जाये। वहाँ अरणि का मन्थन करके पूर्वनिर्मित गार्हपत्यस्थान में मथन से उत्पन्न अग्नि की प्रतिष्ठा करे। उसके बाद अध्वर्यु चौबीस उन होमों को करे जिनका नाम संभारयजु है। उस अग्नि का विसर्जन करके पुनः गार्हपत्य से प्रणयन करे और उसमें सप्तहोतृनामक होम करे। पुनः उस अग्नि का विसर्जन करके उसी गार्हपत्य से आहवनीय और दक्षिणाग्नि का सम्पादन करके दीक्षित होने के लिए दीक्षणीयेष्टि का अनुष्ठान करे। इस इष्टि का ग्यारह कपालों में संस्कृत पुरोडाश द्रव्य है और अग्नाविष्णू देवता। पश्चात् वहीं पर प्राचीनवंशनामक शाला का निर्माण करके उसके उत्तरभाग में बाहर से ढके हुए स्थान में मुण्डन (वपन) कराकर तीर्थस्नान करके अध्वर्यु से प्रदत्त दो दुकूल धारण करे। इसी प्रकार यजमान पत्नी के भी नखच्छेदन, स्नान, वस्त्रपरिधान होते हैं। दोनों दम्पती प्राग्वंशमण्डप में ही अनिषिद्ध अन्नादि का भक्षण करें। तत्पश्चात् नवनीत से अङ्गलेपन और अञ्जनसंस्कार करके अध्वर्यु छः दीक्षाहुतियों का हवन करके यजमान को दो कृष्णमृगचर्म देता है। यजमान उसे लेकर आहवनीय (अग्नि) के पास बिछाकर बैठे और अध्वर्युप्रदत्त मुञ्ज से निर्मित मेखला कटि में बाँधे और देह खुजलाने के लिए कृष्णमृग का शृङ्ग एवम् गूलर का अपने बराबर दण्ड धारण करते हुए रहे ही। इस प्रकार दक्षिणादान के पूर्व यजमान को खुजली होने पर उसी से खुजलाना है, नखों से नहीं। यजमानपत्नी के मस्तक में सींकनिर्मित जाल मुञ्जनिर्मित योक्त्र बाँधा जाता है। ततः यजमान मुठ्ठी बाँधता है। इस प्रकार से यजमान के दीक्षित हो जाने पर अध्वर्यु विज्ञापित करता है—

अदीक्षिष्टाऽयं ब्राह्मणोऽमुकशर्मा

अर्थात् यह ब्राह्मण दीक्षित हो गया। यजमान पुनः अपनी वाणी को संयत करके रात्रि में नक्षत्रोदयपर्यन्त वैसे ही रहे। उसके बाद अध्वर्यु उसे व्रत करने का निर्देश देता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए क्रमशः दूध, ययागू, आमीक्षा का ही भक्षण करना है। यही व्रत है।

इसके बाद सामान्य जनता को भीं कुछ फल मिले, इसके लिए द्रव्यार्जन के लिए याचकों को भेजा जाता है। प्राप्त द्रव्यों को मन्त्रपूर्वक ग्रहण करने का विधान है। इतना प्रथम दिन का कृत्य है।

द्वितीयदिनकृत्य

द्वितीय दिन यजमान आवश्यक कर्म करके प्रायणेष्टि का अनुष्ठान करे। इस इष्टि में पाँच देवता हैं—पथ्या स्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता, अदिति। पूर्वोक्त चारों का 'आज्य' द्रव्य है। अदिति का 'ओदन' द्रव्य है। उसका पाक आहवनीय अग्नि में होता है। उसी अग्नि में पथ्यादि की पूर्वादि दिशाओं में आज्य का हवंन करके मध्य में अदिति के ओदन का होम होता है। जिस पात्र में ओदन पकता है उसे बिना धोये रखे। पश्चात् होने वाली उनयनीय हवि के पाक में उसका उपयोग होता है।

ततः परम् सोम का क्रय दश द्रव्यों से होता है। वे द्रव्य हैं—१. एकवर्ष की गाय, २. सुवर्ण, ३. बकरी, ४-५. धेनु सवत्सा, ६. ऋषभ, ७. गाड़ी वाला बैल, ८. बछड़ा, ९. बछिया, १०. वस्त्र। सोमक्रय का भी एक प्रकार है। सोम के प्राप्त हो जाने पर तत्स्वागतार्थ आतिथ्येष्टि का अनुष्ठान होता है। इसके बाद परस्पर अवैरहेतु ऋत्विक् और यजमान पात्र में स्थापित आज्य का स्पर्श करके प्रतिज्ञा करते हैं। ततः परम् प्रवर्ग्यनामक कर्म का अनुष्ठान होता है। यह कर्म भी सोमयाग का अङ्ग होता है जिसका अनुष्ठान भी मध्य में होता है। अपेक्षित पात्रों और अन्य साधनों का सम्पादन पहले ही होता है। तथा हि—पहले महावीरनामक पात्र का निर्माण होता है। किसी पूर्णिमा या अमावास्या में कुदाल, अश्व, कृष्णमृगचर्म, सवत्सा अजा को लेकर पूर्व दिशा में जाकर उपयुक्त मिट्टी का खनन करके उसे कृष्ण मृगचर्म में रखकर, घोड़े से सुँघा कर, मिट्टी के ऊपर बकरी का दूध दूहकर, उस मिट्टी को लेकर विहार (सोमयागभूमि) के उत्तर भाग में रखना चाहिये। ततः सूअर से खनी गयी मिट्टी, दीमक की मिट्टी, पूतीका (लता), बकरी के लोम, कृष्णमृग के लोम तथा अन्य वस्तुओं को इकट्ठा करके, पीस कर तीन महावीरों का निर्माण किया जाता है।

महावीरनिर्माण से बची हुई मृत्तिका से ही हाथी के ओष्ठकी आकृति के समान दो दोहनपात्र, आज्यस्थाली, दो अश्व, रोहिणपुरोडाश के लिए दो कपालों का निर्माण करके उन्हें सूक्ष्म वस्त्रों से चिकना किया जाता है। ततः गार्हपत्याग्नि के समीप अवट बना कर उन्हें पकाते हैं। पाकार्थ अग्नि का दीपन कुश और मुञ्ज तृणों से होता है। ये सारे मृत्तिकानिर्मित प्रवर्ग्यसंभार कहे जाते हैं। उदुम्बर (गूलर) से भी कुछ संभार बनाये जाते है। जैसे—

सम्राडासन्दी (मूज की रज्जू से स्यूत)। वार्तवती दो स्त्रुच्। दो आगर्त। दो शफ (महावीर ग्रहणार्थ)। अङ्गारनिरूहणनिमित्त दो काष्ठ (धृष्टि)। गाय बाँधने के लिए मेथी। बछड़ों को बाँधने के लिए ती शङ्कु। कृष्ण मृगचर्म से निर्मित तीन पङ्खे। राजत-सौवर्ण दो रुक्म तथा प्रभूत मूज के तृण।

प्रवर्ग्य का अनुष्ठान

रोहिणपुरोडाश के निष्पादन के लिए अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुज्ञात होकर आग्नीध्र को आज्ञप्त करके वेदि के दक्षिण भाग में गवादिबन्धनार्थ चार शङ्कुओं को गाड़े। ततः बालुका से गार्हपत्य के उत्तर एक स्थण्डिल बनाकर गार्हपत्य में मूँज डाल कर आदीप्त अग्नि को स्थण्डिल के ऊपर रखकर उसी अग्नि के ऊपर महावीर को रखकर उसे आज्य से भरे और सौवर्ण रुक्म से उसके मुख को ढककर उस अग्नि को पूर्वोक्त पङ्खे से उद्दीप्त करे। पङ्खा करने वाले ऋत्विक् अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र होते हैं। तीनों महावीरों में यही विधि है। ततः पङ्खे को सम्राडासन्दी में प्रति-प्रस्थाता के द्वारा रखवा कर, वे तीनों महावीर को देखते रहें। इसके बाद अध्वर्यु उन्हीं शङ्कुओं में गाय, बछड़ा, बकरी और उसके बच्चे को बाँधकर गाय दूहे। प्रतिप्रस्थाता बकरी का दोहन करे। दोनों दूध को आग्नीध्र के हाथ में दे दें। पृथक् पृथक् दूधों को लेकर वह प्राग्वंशशाला में प्रवेश करे। उसके पहले ही प्रविष्ट अध्वर्यु गोदूध और बकरी का दूध क्रमशः महावीर में डाले। तप्त घृत में दूध का यह प्रक्षेपण ही 'प्रवृञ्जन' कहा जाता है। इसी के सम्बन्ध में इस कर्म का नाम भी प्रवर्ग्य होता है। तत्पश्चात् प्रतिप्रस्थाता अगर्त जुहूपात्र में स्थापित रौहिणपुरोडाश का होम करता है और अध्वर्यु अश्रावणप्रत्याश्रावण करके महावीर में स्थित दुग्धमिश्रित घृत का आहवनीय में हवन करता है। इसी को घर्म कहते हैं। उस दूधवाली गाय को भी धर्मधुक् कहते हैं। अश्विनी और इन्द्र इसके देवता होते हैं। अवशिष्ट द्रव्य से स्विष्टकृत् होम करके उष्ण किये गये दधि से आहवनीय के ऊपर अध्वर्यु के द्वारा धारण किये गये महावीर को प्रतिप्रस्थाता पूर्ण करके कुछ हवन करके वेदि के मध्य में रखता है। पूर्व में महावीरपात्र को रखकर प्रतिस्थाता ही उत्तर रौहिणपुरोडाश का हवन करता है। पश्चात् अध्वर्यु छः शकल होमों को करके अग्निहोत्र होम करता है तथा होता-ब्रह्मा-आग्नीध्र-यजमान के साथ शेष का भक्षण भी करता है। इसके बाद

महावीरादि प्रवर्म्यसंभारों का सम्राडासनदी में स्थापन होता है। यह प्रातः प्रवर्ग्य है। इसी प्रकार से सायं प्रवर्ग्य का भी अनुष्ठान होता है। यज्ञ का मस्तक छिन्न हो गया था जिसके सन्धान के लिए प्रवर्ग्य का अनुष्ठान होता है, ऐसी वैदिक प्रसिद्धि है। अर्थवाद में यह उपाख्यान देखा जा सकता है। 'महावीर' यज्ञ का शिर है, ऐसीं भी प्रसिद्धि है।

उपसत्कर्म

प्रातःप्रवर्ग्य का अनुष्ठान करके प्रातः उपसत् नाम की इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसके अग्नि, सोम और विष्णु प्रधान देवता होते हैं। सर्वत्र आज्य ही द्रव्य है। उपांशुयाज के समान ही इसका प्रयोग होता है। प्रधान आहुति के बाद प्रथम उपसद् होम होता है। इसी प्रकार पहले सुब्रह्मण्याह्वान करके विराम के अनन्तर सायङ्कालिक अनुष्ठान भी होता है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ दिवसों में दो-दो उपसद् का अनुष्ठान करने से अग्निष्टोम याग में छः बार प्रवर्ग्य और उपसद् का अनुष्ठान होता है।

तृतीयदिनकृत्य

दीक्षा के तीसरे दिन प्रातः प्रवर्ग्य और उपसत् का अनुष्ठान करके महावेदि का निर्माण करना चाहिये। उसे प्राचीनवंशमण्डप के आगे छः पग त्याग करके ही बनाना चाहिये। समग्र वेदि का निर्माण करके प्रातःकाल के अनन्तर यजमान का व्रतकरण (पयःपान) होगा। सायङ्काल प्रवर्ग्य-उपसत् करके सुब्रह्मण्याह्वान करे, पश्चात् व्रत का विराम होगा। यहाँ सुब्रह्मण्यापद से इन्द्र का अभिप्राय है। सुत्यादिवस में सोमपानार्थ आह्वान ही सुब्रह्मण्याह्वान कहा जाता है। दूसरे दिन से हि सायम्-प्रातः प्रवर्ग्य-उपसत् के अनुष्ठान के बाद इसका विधान है। उद्गातृगण का अन्तिम ऋत्विक् इसे करता है, अतः उसका नाम सुब्रह्मण्य है।

चतुर्थदिनकृत्य

तृतीय उपसत्-दिन अर्थात् दीक्षा के चतुर्थ दिन में प्रातः ही प्रवर्ग्य-उपसद् का अनुष्ठान करके उत्तरवेदि में प्रवर्ग्यपात्रों का प्रक्षेपण करना चाहिये। अनन्तर अग्नीषोमीयपशुयाग का अनुष्ठान होता है। उसके लिए आहवनीय अग्नि में इध्मकाष्ठों का आधान करके प्रज्ज्वलित करे और उसे

लेकर तथा आसन्दी (कुर्सी) में वर्तमान सोम को भी लेकर निरूढ-पशुयाग के समान ही उत्तरवेदि में उस अग्नि का प्रणयन करे। यज्ञसमाप्ति तक वही अग्नि आहवनीय होगा। जहाँ से प्रणयन हुआ है वह गार्हपत्य होगा। इसकी संज्ञा यहाँ प्रजाहित होगी। लाये गये सोम या उसके प्रतिनिधि द्रव्य को दक्षिणहविर्धानमण्डप में विद्यमान हविर्धानशकट में रखे। इस प्रकार अग्नि का प्रणयन करके चात्वाल में स्थित उनसे धिष्ण्य का अनुवपन करे। पश्चात् अग्नीषोमीयपशुयाग के तन्त्रानुष्ठानपक्ष में तीन पशुओं के वपायाग का अनुष्ठान करके सुब्रह्मण्याह्वान हो जाने पर सोम के अभिषव (रस निचोड़ना) के लिए तथा उसके रस के संवर्धन के लिए सरोवर आदि से 'वसतीवरी' नामक जल को घड़े में लेकर अध्वर्यु दूसरे के द्वारा शालामुखीय का स्थापन करे। ततः मध्याह्न में पुरोडाशयाग और सायम् हृदयादि-अङ्ग-याग का अनुष्ठान करके पत्नीसंयाजान्त अङ्गों का भी अनुष्ठान करके पशुयाग का समापन करना चाहिये। ततः रात्रि में अध्वर्यु उसी घट को लेकर वेदि के चारों ओर विहरण करते हुए वहीं रखे। प्रतिप्रस्थाता आमीक्षार्थ दूध में दधि डाले। इसी को आतञ्चन कहते हैं। दधिग्रह के लिए भी दधि का सम्पादन करना चाहिये। ततः सवनीयहवि के लिए बर्हि (कुश) का आनयन करे और विराम भी करे। रात्रि में यजमान और उसकी पत्नी का जागरण हो।

पञ्चमदिनकृत्य (सुत्यादिन)

उसी रात्रि के अन्तिम चरण में अथवा महारात्रि में ही सारे ऋत्विक् प्रबुद्ध होकर स्नान के बाद सोम के अभिषवसम्बन्धी कर्मों का प्रारम्भ करें। सर्वप्रथम अध्वर्यु ग्रह-चमस आदि सारे पात्रों को तत्तत्स्थानों में स्थापित करे। ततः पक्षियों के प्रबोध के पहले ही होता प्रातरनुवाकनामक शस्त्र (देवता के गुणों का कथन) का आरम्भ करे। उसी समय प्रतिप्रस्थाता सवनीयहवि का निर्वाप भी करे। वे पाँच हैं—धाना (भूजे जव), करम्भ (सक्तुपात्र), परिवाप (लाजा), पुरोडाश, पयस्या (आमीक्षा)। इनके क्रमशः पाँच देवता भी हैं—इन्द्र हरिवान्, इन्द्र पूषण्वान्, सरस्वती भारती, इन्द्र और मित्रावरुण। इसके बाद दधिग्रह का प्रचार होगा। उदुम्बर वृक्ष से निर्मित उलूखलाकार पात्र में पूर्वदिन में सम्पादित दधि को प्रजापतिदेवतार्थ ग्रहण करके हवन करे। अतः दधिग्रह में दधि द्रव्य और प्रजापति देवता

होता है। इसके बाद अदाभ्यनामक ग्रह का ग्रहण होगा। ग्रह (पात्र) को लौकिक पय से अथवा दधि से भर कर पहले ही बद्ध सोमलताओं के अवयवों के मध्य से तीन अंशु (खण्डित सोमलता) लेकर उन्हें ग्रह के ऊपर रखकर ग्रह को पाँच अथवा सात बार हिलाये। ततः उसका हवन हो। यहाँ सोम देवता है। इसके बाद.अंशुग्रह का प्रचार होगा। वहाँ एक ग्रह में अटने लायक सोम लेकर पत्थर के ऊपर रखकर वसतीवरी जल से सींच कर पाषाण से कूटकर उसी अदाभ्यग्रहपात्र में लेकर हवन करे। यहाँ प्रजापति देवता है। अंशु और अदाभ्यग्रह का एक ही पात्र होता है। ततः उस पात्र के साथ ही सदोमण्डप में प्रवेश करके उसमें स्थित शेष सोम का भक्षण करके पात्र को खर में रख देना चाहिये।

इसके बाद उपांशुग्रह का प्रचार होता है। वहाँ क्रीत सोम को वस्त्र में बाँधकर स्थापित को ही छोड़कर दो प्रकार से विभाजित करके प्रातःसवन के लिए अधिक और माध्यन्दिनसवन के लिए थोड़ा लेकर प्रातःसवनार्थ सोम से एक ग्रह में आने लायक सोम को ग्रहण करके होतृचमस में रखकर वसतीवरी जल से सींच कर ग्राव (पत्थर) से पीस कर रस निकाले। अञ्जलि में लेकर अध्वर्यु उसे उपांशुग्रह पात्र से रखे। ऐसा ही तीन बार करके रसपूर्ण ग्रह लेकर पूर्ववत् होम करे। यह अधाराग्रह होता है। प्राण इसका देवता है। इनके बाद के ग्रहों को धारा से ही ग्रहण करना चाहिये। उसके लिए ऋत्विग्गण सोम का अभिषव करते हैं। यह महाभिषव कहलाता है।

महाभिषव

अभिषवस्थान में अध्वर्युगण में वर्तमान ऋत्विग् बैठें। अध्वर्यु पश्चिम की ओर मुख करके बैठे। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता उत्तरमुख, पूर्वमुख होता, इस प्रकार पत्थर के चारों ओर बैठकर उसके ऊपर सोम रखना चाहिये। पश्चात् वसतीवरी जल से सींचकर सोम को पीस कर दक्षिण हाथ से रस निकालते हैं। इसीप्रकार तीन बार करके पीसे गये सोम के टुकड़ों को मिट्टी के पात्र में रखकर रस निकाल कर उसे दूसरे पात्र में रखे। नीरस अंशों को पत्थर के चारों ओर फेंक दिया जाता है। पश्चात् सोमक्रयण के समय सुरक्षित स्थापित बकरे के रोमों से प्रादेशपरिमाण नाभि बनाकर पवित्रनामक सोमशोधक वस्त्रखण्ड के मध्य में रखकर उस

वस्त्रखण्ड को द्रोणकलशपात्र के ऊपर विस्तृत करके उद्‌गाता लोग धारण करें। ततः उन्नेता सोमरस को लेकर होतृचमसनामक पात्र में रखे। इस प्रकार द्रोणकलश के ऊपर पवित्रनामक वस्त्रखण्ड में रस गिरने लगता है। पश्चात् अध्वर्यु धारा के रूप में गिरते सोमरस को अन्तर्यामपात्र में अन्तर्यामनामक ग्रह को ग्रहण करके कुछ बचाकर हवन करे। शेष के साथ ही आग्रयणस्थाली में लाकर सशेषग्रह को खर में स्थापित करे। यहाँ इन्द्र देवता है। दधिग्रह से लेकर अन्तर्यामपर्यन्त ग्रहों का ग्रहण के बाद ही हवन हो जाता है।

ऐन्द्रवायववादिग्रह

इसके बाद पूर्वोक्त ढंग से ही ऐन्द्रवायवनामक ग्रह का धारा से ही ग्रहण करके खर में रखना चाहिये। ध्रुवग्रह के बाद सोमरस की धारा को रोक दिया जाता है। ध्रुवग्रह का तृतीयसवन में ही विनियोग होता है। इसके बाद हविर्धानमण्डप से बहिष्पवमानस्तोत्र को करने के लिए पाँच ऋत्विज् प्रसर्पण करते हैं।

प्रसर्पण

आगे अध्वर्यु चलेगा। ततः प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, उद्‌गाता, ब्रह्मा और यजमान क्रमशः कच्छ पकड़कर चलते हैं। चात्वालदेश तक जाकर वहाँ बैठने के बाद ही कच्छ छोड़ना चाहिये। बीच में छोड़ने पर प्रायश्चित्त का विधान है। वहाँ पर उद्‌गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता ये सामवेदीय ऋत्विक् वहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करते हैं। शेष वहाँ बैठे ही रहते हैं। यह बहिष्पवमानस्तोत्र पाप का शोधक होने से पावन है। इसी से शोधित होने के कारण अश्विनीकुमार यज्ञ के योग्य हुए थे। स्तोत्र के समाप्त होने पर आग्नीध्र धिष्ण्य को प्रज्ज्वलित करे। अध्वर्यु आश्विनग्रह को द्रोणकलश से लेकर खर में रखे। इसके बाद सवनीयनामक पशु के उपाकरण से लेकर वपायागपर्यन्त अनुष्ठान होता है। ततः प्रातःसवन के लिए अध्वर्यु, ब्रह्मा, यजमान और सदस्यगण सदोमण्डप में प्रवेश करके वहीं पर स्थित ग्रहचमसादि पात्र और द्रव्यों के पास उपस्थित रहें। पश्चात् ब्रह्मा और यजमान उन सारी वस्तुओं का उन-उन मन्त्रों से उपस्थापन करें। उत्तर से हविर्धानमण्डप में जाकर पूर्वद्वार से सदोमण्डप में प्रवेश करके अपने नियत

स्थान में वे दोनों बैठें। इसके बाद सवनीयहवि का प्रचार होता है। प्रचार का अर्थ है सारे अङ्गों के सहित प्रधान का अनुष्ठान।

धाराग्रहप्रचार

अध्वर्यु ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन इन तीनों ग्रहों का प्रचार करे। उसमें अध्वर्यु से होम के लिए ऐन्द्रवायवग्रह गृहीत हो जाने पर प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्र में द्रोणकलश से ऐन्द्रवायव का प्रतिनिर्ग्राह्य ग्रहण करके उसी के साथ हवन करके परस्पर रससेचन के बाद आदित्यस्थाली में कुछ गिराये। अध्वर्यु अपने पात्र को होता को दे दे। इसी प्रकार बाद के दोनों ग्रहों का अनुष्ठान होता है। आदित्यस्थाली में सम्पात का अवस्थापन भी वैसे ही होता है। पश्चात् उन्नेता अध्वर्यु के द्वारा प्रेषित होकर अच्छावाकचमस को छोड़कर अन्य होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान-मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-पोता-नेष्टा आग्नीध्र, इन नव ऋत्विजों के चमसों को भरता है। सदस्यपक्ष में दश चमस भरे जाते हैं। वहाँ द्रोणकलश से सोमरस को स्रावित करके पूतभृन्नामक कलश से सोमरस को लेकर चमसों को भर करके पुनः द्रोणकलश से लेकर चमसों में स्रावित करे। प्रथम स्रावण उपस्तरण के स्थान का और द्वितीय अभिधारण (क्षारण) के स्थान का होता है। इसी पर सारे चमसों का उन्नयन (पूरण) करना चाहिये।

शुक्रामन्थिग्रहप्रचार

चमसों के उन्नयन के बाद अध्वर्यु शुक्रपात्र तथा प्रतिप्रस्थाता मन्थिपात्र को लेकर सोमरस के साथ हविर्धानमण्डप के पूर्वद्वार पर परस्पर अभिमुख होकर अपने-अपने ग्रह परस्पर सटाकर जितने मन्त्र वहां निर्दिष्ट हैं उतनी बार आहवनीय के पास जाकर पश्चिम की ओर मुख करके ग्रह-होम के लिए तत्पर हो जाँय। उसी समय अन्य ब्राह्मणों में से ही लिए गये नव चमसाध्वर्यु चमस लेकर आहवनीयस्थान में जाकर होमार्थ तत्पर हों। ततः आश्रावण-प्रत्याश्रावणादि के बाद अध्वर्यु के द्वारा प्रेषित होकर होता-ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान के चमसाध्वर्यु होता के द्वारा वषट्कार और अनुवषट्कार करने पर उन-उन चमसों का दो-दो बार हवन करके अध्वर्यु प्रेषित होकर भक्षणार्थ चमसों को सदोमण्डप में रखें। अवशिष्ट मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोता-नेष्टा-आग्नीध्र के चमसाध्वर्यु होता के प्रथम वषट्कार

में ही एक बार हवन करके लौट कर पुनः द्रोणकलश से ही अपने-अपने चमस को सोमरस से परिपूर्ण करके होमार्थ आहवनीय की ओर चलें। होता के प्रथम वषट्कार के बाद ही अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता अपने-अपने ग्रह का होम करें। शुक्रामन्थिग्रहों का, जो प्रथम हुत हुए हैं, परमात्मरूप इन्द्र देवता है। अनुवषट्कारों में सर्वत्र स्विष्टकृत् अग्नि देवता होता है। पश्चात् अध्वर्यु शुक्रपात्र को आयतन में स्थापित करे। प्रतिप्रस्थाता संस्रावहोम का बहिस्थापित अङ्गार में अनुष्ठान करे। यहाँ रुद्र देवता है। आहवनीयस्थान में गये चमसाध्वर्युयों के मध्य में मैत्रावरुण का चमसाध्वर्यु अपने चमस को अध्वर्यु के हाथ में दे। आश्रावणादि के बाद मैत्रावरुण के द्वारा याज्या का पाठ होने पर अध्वर्यु उस चमस का हवन करे। यहाँ मित्रावरुण देवता हैं। इसी प्रकार अन्य चमसों को उन-उन चमसों को चमसाध्वर्यु से लेकर उन-उन ऋत्विजों के द्वारा याज्या पढ़ने पर अध्वर्यु होम करे।

चमसभक्षण

इस प्रकार अध्वर्यु उन-उन चमसों का होम करके चमसाध्वर्यु को देता है। वे भक्षण के लिए उन चमसों को सदोमण्डप में ले जाते हैं। वहाँ पर भक्षण के अधिकारी परस्पर आज्ञापित होकर भक्षण करें। 'वषट्कर्तुः प्रथमक्षः' के अनुसार होता पहले भक्षण करता है। भक्षण के बाद उपयुक्त पात्रों का मार्जालीयस्थान में प्रक्षालन करना चाहिये। पश्चात् ऋत्विज् पशु-सम्बन्धी तथा पुरोडाशसम्बन्धी हविश्शेष का आग्नीध्रशाला में भक्षण करें। ततः उन चमसों को और ग्रहों को भरकर आयतन में स्थापित किया जाता है। यहाँ चमस और ग्रहों के भक्षण का अधिकार निम्न कारणों से होता है— (१) जो वषट्कार करता है। (२) जो होम और अभिषव दोनों करता है। (३) जिनके नामों से पूर्वोक्त चमसों का व्यवहार होता है। यजमान पत्नी के लिए किसी भी हवि का भक्षण विहित नहीं हैं। अनन्तर अच्छावाक-चमसाध्वर्यु अपने चमस को भर कर अध्वर्यु को दे। वह यथाविधान हवन करके अवशिष्ट भाग अच्छावाकनामक ऋत्विज को दे। अध्वर्यु की अनुज्ञा लेकर वह भक्षण करे। अध्वर्यु उसके साथ भक्षण न करे।

इसके बाद पात्र भर कर ऋतुग्रह के प्रचार का आरम्भ करना चाहिये। इसमें दोनों तरफ मुखवाला पात्र होता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता इसके कर्ता हैं। क्रमशः इन दोनों को ही होम करना होता है। वहाँ अध्वर्यु और प्रतिस्थाता दोनों ग्रहों का ग्रहण एक साथ करें। परिप्लवा से द्रोणकलश से

अध्वर्यु और दूसरे पात्र से प्रतिप्रस्थाता ग्रहण करता है। ततः प्रतिप्रस्थाता निकलकर हविर्धानमण्डप के द्वार पर ही रहे। अध्वर्यु आहवनीयस्थान में जाकर आश्रावणादिपूर्वक सशेष हवन करके पूर्वशेष से युक्त पात्र में ही दूसरे ग्रहण के लिए जब मण्डपद्वार से जाता है तभी प्रतिप्रस्थाता निकलकर आहवनीयंस्थान में जाकर पूर्ववत् सशेष हवन करे। इस प्रकार से वह जब मण्डप के भीतर प्रवेश की इच्छा करे तभी अध्वर्यु ग्रह के साथ होम करने के लिए निकले। इस प्रकार एक के निष्क्रमण के समय अन्य का प्रवेश होता है। उसके प्रवेश के समय अन्य का निष्क्रमण होता है। इसी रीति से ग्रहहोम होते हैं। अन्तिम ग्रहों का एक साथ ही ग्रहण होता है। ग्रहण करके अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों निकलकर मण्डप के द्वार पर रहें। ततः अध्वर्यु आहवनीयस्थान में जाकर यथावत् होम करे। ततः प्रतिप्रस्थाता जाकर वैसा ही करे। यहाँ बारह ऋतुग्रह होते हैं तथा पात्र दो ही। उन दोनों पात्रों से क्रमशः ग्रहण होता है। ग्रहों के बारह देवता इस प्रकार हैं—१. इन्द्र, मधु। २. मरुत्, माधव। ३. त्वष्टा, शुक्र। ४. अग्नि, शुचि। ५. इन्द्र, नभ। ६. मित्रावरुण, नभस्य। ७. द्रविणोद, इष। ८. द्रविणोद, ऊर्ज। ९. द्रविणोद, सह। १०. द्रविणोद, सदस्य। ११. अश्विन, तप। १२. अग्नि गृहपति, सदस्य। एक-एक ग्रह के दो-दो देवता आम्नात हैं। पश्चात् भक्षण होता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता का होत्रकों के साथ भक्षण होता है। भक्षित ग्रह और चमस सारे अप्रक्षालित ही पुनः सोम रस से भरे जाते हैं। यहाँ भक्षण के पहले होम के अनन्तर अध्वर्यु अपने पात्र में विद्यमान सोम के कुछ अंश को प्रतिप्रस्थाता के पात्र में डाले। इसी प्रकार प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु के पात्र में डाले। ततः अध्वर्यु उसी सरस पात्र में ऐन्द्राग्न ग्रह का ग्रहण करके खरस्थान में रखे। पश्चात् प्रतिप्रस्थाता स्वकीय पात्र में विद्यमान सोम को भक्षण के लिए ले जाय। इसके बाद ही भक्षण होता है। भक्षित पात्र का प्रक्षालन करके हाथ में लेकर अध्वर्यु शस्त्रप्रतिगर के लिए मण्डपद्वार में जाकर स्थित रहे।

शस्त्रपाठप्रतिगरादि

शस्त्र मन्त्रविशेष की संज्ञा है। होता अपने धिष्ण्य (प्रज्ज्वलित अग्निविशेष) के समीप पूर्वमुख बैठकर आज्यनामक शस्त्र का आरम्भ करे। उसी समय अध्वर्यु प्रतिगर का पाठ करे। शस्त्र के आरम्भ में होता के 'अध्वर्योशोंसावो३म्' ऐसा बोलने पर 'शोंसामोद इव' इस प्रतिगर को

अध्वर्यु बोले। उन-उन ऋचाओं के अन्त में होता के द्वारा सप्लुत प्रणव का उच्चारण करने पर अध्वर्यु 'ओंमो३थामोद इव' इस प्रतिगर का उच्चारण करे। होता जब अर्ध ऋक् में स्थित हो तब 'ओथामोद इव' प्रतिगर बोले। शस्त्र की समाप्ति होने पर 'ओ३म्' इतना ही बोले अध्वर्यु। होता जब-जब शस्त्र का उच्चारण करे तब-तब उसके प्रोत्साहन के लिए अध्वर्यु का विशिष्ट शब्दोंच्चारण ही 'प्रतिगर' कहा जाता है। बहिष्पवमानस्तोत्र के अनुष्ठान के बाद ही आज्यादि शस्त्रों का पाठ होता है। उसमें प्रथमस्थान में आज्यनामक शस्त्र आता है।

नारांशसहोम

होता के द्वारा आज्यशस्त्र के समापित होने पर अध्वर्यु पूर्वगृहीत-स्थापित 'ऐन्द्राग्न' ग्रह को हाथ में ले। उसी समय चमसाध्वर्यु अपने-अपने चमस को लें। ततः अध्वर्यु आश्रावणादि करके होता के द्वारा याज्या के अन्त में वषट्कार करने पर ग्रह का अग्नि में सशेष (कुछ बचाकर) हवन करे। उसी समय चमसाध्वर्युगण अपने-अपने चमसों को उस प्रकार से हिलायें जिससे चमस में विद्यमान सोम के बिन्दु आहवनीय में गिरें। यहाँ ग्रहहोम में 'इन्द्राग्नि' देवता हैं। चमसों में ऊमा पितर देवता हैं। ततः ग्रह और चमसों का सशेष पूर्ववत् भक्षण होता है। पुनः उनका आप्यायन करके खर में सादन भी होता है। इसी समय इन चमसों की 'नाराशंस' संज्ञा होती है। यहाँ चमसों का आहवनीय के ऊपर कम्पन ही होता है न कि यथावद् होम। पश्चात् 'वैश्वदेव' नामक ग्रह को शुक्रग्रह में उपयुक्त पात्र में ग्रहण करके प्रथम आज्यनामक स्तोत्र के पाठ के लिए उद्‌गातृगण को प्रेरित करे। ध्यान रहे स्तोत्र सग़ान होता है जिसका विधान सामवेद में है तथा शस्त्र निर्गान ही होता है। शस्त्र का विधान ऋग्वेद में है। स्तोत्रानुष्ठान के बाद अध्वर्यु शस्त्रपाठ के लिए होता को प्रैष देकर उसके सामने खड़ा होकर प्रतिगर पढ़े। इस शस्त्र का नाम 'प्रउग' शस्त्र है जिसका विधान 'प्रउगं शंसति' इस श्रुति से है। शस्त्र की समाप्ति के बाद पूर्ववत् ही ग्रह का होम और चमसों का आहवनीय के ऊपर कम्पन होता है। इनकी भी 'नाराशंस' संज्ञा (नाम) है। यहाँ ग्रह के विश्वेदेवनामक देवता हैं। चमसों के ऊमा पितर। पश्चात् ग्रह-चमसों का भक्षण होता है। पहले चमसों का सावशेष भक्षण था। इस समय निरवशेष (पूरा)। बस इतना ही अन्तर है।

उक्थ्यग्रहप्रचार

उन पात्रों का प्रक्षालन करके खर में स्थापित कर उक्थ्यस्थाली से तृतीय भाग को उक्थ्यपात्र में ग्रहण करके खर में स्थापित कर चमसों को भर करके अध्वर्यु द्वितीय आज्यस्तोत्र के लिए उद्गातृगण को प्रेरित करे। स्तोत्रानुष्ठान के बाद मैत्रावरुण को शस्त्रपाठहेतु प्रैष देकर पुनः उसके द्वारा शस्त्रपाठ होने पर पूर्ववत् प्रतिगर करके शस्त्रपाठसमाप्ति के बाद होम, सर्वभक्षण तथा प्रक्षालन करके खर में सादन भी करे। यह उक्थ्यग्रह का प्रथम पर्याय है। पश्चात् पूर्ववत् ही उक्थ्यस्थाली से तृतीय अंश का ग्रहण, उक्थ्यपात्र में चमसों का पूरण, तृतीय आज्यस्तोत्र के लिए प्रवर्तन एवम् स्तोत्रसमाप्ति में शस्त्रपाठ के लिए ब्राह्मणाशंसी को प्रैष, उसका प्रतिगर, होम, भक्षण प्रक्षालित ग्रहचमसों का खर में सादन करे। यह द्वितीय पर्याय है। यहाँ ग्रह और चमसों के मित्रावरुण देवता हैं। ऐसे ही तृतीय पर्याय का अनुष्ठान होता है। तृतीय पर्याय में उक्थ्यस्थाली से सारे सोम का ग्रहण होता है, केवल इतना ही अन्तर है। यहाँ इन्द्राग्नी देवता हैं। इन द्वितीय तृतीय पर्यायों में ग्रहग्रहण-शस्त्र-प्रतिगर-होम का कर्ता प्रतिप्रस्थाता होता है। भक्षण के अन्त में सवनसंस्थाहुति का होम करके प्रारम्भ में ऋत्विग्गण जिस मार्ग से विहार में प्रविष्ट हुए थे उसी मार्ग से बाहर निकलें।

॥ यह प्रातःसवन का कृत्य पूरा हुआ॥

माध्यन्दिनसवन का प्रारम्भ

भगवान् सूर्य के आकाश के मध्य में आने पर सयजमान ऋत्विग्गण विहार में प्रवेश करके माध्यन्दिन सवन का आरम्भ करें। प्रथम महाभिषव। सोम के बन्धन को छोड़कर बन्धनवस्त्र को ग्रावस्तुत् को देकर महाभिषव का आरम्भ करें। प्रातःसवन के समान ही ऋत्विक् दिगुपदेशनादिपूर्वक यथावत् करें। अभिषव के समाप्त होने पर प्रातःसवन के समान ही आमिक्षाव्यापार को छोड़कर सवनीयहवि का निर्वापादि करके सोमरस के ग्रहण के योग्य व्यापार में अभिषुत सोम का पावन करके धारा से ही अध्वर्यु ग्रहों का ग्रहण करे। यहाँ ऐन्द्रवायवादि दो देवता वाले ग्रह होते हैं। बारह ऋतुग्रह और दधिग्रहों का अनुष्ठान नहीं होता। शुक्र, मन्थी, आग्रयण, तीन उक्थ्य, इतने ही ग्रह होते हैं। ये सारे ग्रह धारा से गृहीत होते हैं। ग्रहण-आसादनादि व्यापार के बाद अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, ब्रह्मा

और यजमान पूर्ववत् कच्छ पकड़कर माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र के लिए सदोमण्डप में प्रसर्पण (गमन) करें। बैठने के बाद उन्हें कच्छ का विसर्जन करना चाहिये। फिर माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र के अनुष्ठान के लिए अध्वर्यु उद्गातृगणों को प्रैष दे। स्तोत्रसमाप्ति के बाद दधिघर्मयाग और उसका भक्षण करना चाहिये। इसके बाद इडाभक्षणपर्यन्त सवनीयहवि का प्रचार करे। ततः चमसों का उन्नयन होता है। यहाँ दसवाँ अच्छावाकचमस भी उन्नीत है। पूरित इन चमसों का शुक्रामन्थिग्रह के साथ प्रातःसवन के समान ही भक्षणपर्यन्त प्रचार होता है। पात्रसादन भी पूर्ववत् ही है। सवनीय-हवियों का भी वही भक्षण तत्सम्बन्धि ऋत्विजों का होता है।

दक्षिणादान

इसके बाद संकल्पकाल में संकल्पित दक्षिणा का दान होता है। ज्योतिष्टोम में ११२ गाय, १ घोड़ा, गर्दभ, बकरी, भेड़ ३-३, तथा व्रीह्यादि द्रव्य का यथापरिमाण दक्षिणा विहित है। शक्ति के अनुसार गजहिरण्यादि भी देने का विधान है। इन सारी दक्षिणा का विभागपूर्वक दान होता है। इसके अतिरिक्त यजमान चक्षु-श्रोत्र-मन आदि अपने अङ्गों का वाचिक दान करके पुनः उनके बदले उचित मूल्य देकर प्राप्त करे। इसके पश्चात् चमसाध्वर्यु, अत्रिगोत्र में उत्पन्न ब्राह्मण और सभा में स्थित दक्षिणा के योग्य द्रष्टा को भी यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिये।

मरुत्वतीयग्रह का प्रचार

दीक्षा के समय ग्रहण किये गये कृष्णविषाण का यजमान चात्वाल में प्रक्षेपण कर दे। पश्चात् अध्वर्यु आग्नीध्रीय अग्नि में वैश्वकर्मनामक पाँच होमों का सम्पादन करे। इसके बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता पूर्व ही गृहीत-आसादित मरुत्वतीय ग्रहों को लेकर प्रैषादि कार्य करके आहवनीय में हवन करके परस्पर अपने पात्र में विद्यमान सोमरस, क्षारण करें। उस सोमरस को विना भक्षण किये ही अध्वर्यु अपने पात्र में तृतीय मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण करके जब आयतन में उसका आसादन करे तभी प्रतिप्रस्थाता अपने पात्र को भक्षण के लिए ले जाय। ततः दोनों भक्षण करें। इसके पश्चात् अध्वर्यु मरुत्वतीयशस्त्र के पाठ के लिए होता को प्रैष दे। जब होता शस्त्रपाठ करे तब पात्र लिए ही अध्वर्यु प्रतिगर का सम्पादन करे। शस्त्र की परिसमाप्ति के बाद अध्वर्यु मरुत्वतीय तृतीय ग्रह को लेकर तथा चमसाध्वर्यु चमस को

लेकर आहवनीय के पास गमन करें। आश्रावणादि के बाद वे सभी ग्रह-चमसों का होम करें और उन्हें कपायें भी। यहाँ इस प्रकार का कम्पन होना चाहिये जिससे सोमरस के बिन्दु आहवनीय में गिरें। यहाँ ग्रह के देवता इन्द्र मरुत्वान् हैं तथा चमसों के ऊर्व पितर। ये चमस इस समय नाराशंस नामवाले हो जाते हैं। अनन्तर ग्रहचमसों का भक्षण हो। इसके बाद चमसों को पुनः भर कर आयतन में रखने के बाद अध्वर्यु जिस पात्र में शुक्रग्रह का ग्रहण हुआ था उसी पात्र में माहेन्द्रग्रह का ग्रहण करके खर में स्थापित कर माहेन्द्रनामक प्रथम पृष्ठस्तोत्र के सम्पादन के लिए उद्गातृगण को प्रैष दे। स्तोत्र की समाप्ति के बाद अध्वर्यु निष्केवल्यनामक शस्त्र के पाठ के लिए होता को प्रैष दे। होता जब शस्त्र पढ़े तभी अध्वर्यु प्रतिगर पढ़ता रहे। शस्त्र की समाप्ति के बाद मरुत्वतीयग्रह के समान ही माहेन्द्रग्रह का भी होम होता है। चमसों का वैसे ही अनुकम्पन भी होता है। उसी समय अतिग्राह्यनामक ग्रहों का भी होम करना चाहिये। वहाँ आग्नेय का प्रतिप्रस्थाता, ऐन्द्र का नेष्टा, सौर्य का उन्नेता ग्रहण करके माहेन्द्र के बाद हवन करें। ग्रह का महेन्द्र, चमसों का ऊर्व पितर तथा अतिग्राह्यों के क्रमशः अग्नि, इन्द्र, सूर्य देवता होते हैं। यहाँ भी पूर्ववत् भक्षण और खर में पात्रों का आसादन होता है। इसके बाद तीन उक्थ्य के ग्रह होते हैं जिनका अनुष्ठान प्रातःसवन के ही समान होता है। यहाँ सत्रह संख्या वाले तीन पृष्ठस्तोत्र होते हैं। उन-उन पृष्ठस्तोत्रों की समाप्ति के बाद प्रथम में मैत्रावरुण, द्वितीय में ब्राह्मणाच्छंशी तथा तृतीय में अच्छावाक अपने-अपने शस्त्र को पढ़ें। माहेन्द्रग्रह के समय एक पृष्ठस्तोत्र। मिलकर चार पृष्ठस्तोत्र होते हैं। एक अतिरिक्त माध्यन्दिन पवमानस्तोत्र को लेकर इस सवन में स्तोत्रों की संख्या पाँच हुई। इसी प्रकार होता के निष्केवल्य और मरुत्वतीय नामक दो शस्त्र, मैत्रावरुणादि के तीन शस्त्र हुए। मिलाकर शस्त्रों की भी संख्या पाँच हुई। सवनसमाप्तिहोम के बाद ऋत्विग्गण बाहर निकलें।

तृतीयसवन

माध्यन्दिनसवन की समाप्ति के बाद थोड़ा विराम करके तृतीयसवन का आरम्भ करना चाहिये। तृतीयसवन के आरम्भकर्ता सारे ऋत्विग्गण विहार में प्रवेश करके अपने-अपने कर्म को करने के लिए तत्पर हो जायँ। सर्वप्रथम यहाँ उत्तरवेदि के समीप यजमान लोकद्वारनामक साम का गान

करे। तद्गत अग्नि में वह होम भी करे। वहाँ प्रथम आदित्यग्रह का ग्रहण होता है। प्रातःसवन में ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुण-आश्विन ग्रहों के होम के बाद उन-उन ग्रहों में बचाये गये सोमरस का आदित्यस्थाली में संपातावनयन से जो रस स्थापित हो उससे आदित्यपात्र से आदित्यग्रह का ग्रहण करके उसमें उपांशुसवननामक पत्थर का प्रक्षेपण करके उससे उस रस का आलोडन करके उसमें दधि अथवा दूध मिलाकर पत्थर निकालकर खर में सादन न करते हुए ही आश्रावणादिपूर्वक हवन करना चाहिये। यहाँ आदित्य देवता हैं। पश्चात् प्रातः सवन के समान ही महाभिषव करना चाहिये। यहाँ दोनों सवनों में गृहीतसार सोम का जो अवशिष्ट बचता है उसी का अभिषव (रसनिःसारण) होता है। पश्चात् पवित्रीकरण के समय मथित दधि को उसमें डाले और मिलाये। ततः पूतभृत्नामक पात्र में लाकर पवित्र करके उससे ही आग्रयण का ग्रहण करके आयतन में रखकर धारा का विराम करना चाहिये।

आर्भवपवमानस्तोत्र के लिए प्रसर्पण और चमसप्रचार

माध्यन्दिन पवमान के समान ही आर्भवपवमानस्तोत्र के लिए तत्पर पाँचों ऋत्विज् (यजमानसहित) सदोमण्डप की ओर प्रसर्पण करें। पश्चात् उद्गातृगण के द्वारा आर्भवषवमान स्तोत्र के सम्पादित होने पर धिष्ण्य का प्रज्ज्वलन करके सवनीयपशु के हृदयादि अङ्गों का अवदान (छेदन संस्कार) तथा इडाभक्षणपर्यन्त कर्मों को करके सवनीयहवि का प्रचार करके चमसों का प्रचार करना चाहिये। चमसाध्वर्यु के द्वारा चमसों का उन्नयन (पूरण) हो जाने के बाद अध्वर्यु स्वयम् होतृचमस को लेकर अन्य चमसों का चमसाध्वर्यु के द्वारा ग्रहण करा कर आहवनीय स्थान में जाकर आश्रावणादि के बाद होता के द्वारा याज्या का पाठ हो जाने पर चमसाध्वर्यु के साथ एक बार हवन करके उन्हें मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसि-पोता-नेष्टा-अच्छावाक-आग्नीध्र के पास पुनः उन्नयन के लिए प्रेषित करे। पश्चात् अनुवषट्कार के समय स्वयम् होतृचमस का हवन करे तथा ब्रह्मा-उद्गाता-यजमान के चमसों का चमसाध्वर्यु द्वारा हवन कराये। उन चमसों को भक्षण के लिए सदोमण्डप में ले जाकर उन्नयन के लिए स्थापित चमसों का उन्नयन करके पुनः लाने के बाद अध्वर्यु ही आश्रावणादि के बाद हवन करे। यहाँ पूर्वोक्त होत्रक की याज्या का पाठ करें। पश्चात् भक्षण

करें। पुनः चमसों का पूरण और आयतन में सादन होता है। इसके बाद हवि के अवशिष्ट पुरोडाश से कुछ अंश लेकर वे सारे चमसीगण अपने-अपने पिता-पितामह को अभिलक्षित करके उनका मन्त्र से उपस्थान करें।

ततः प्रातःसवन में अन्तर्यामग्रहार्थ उपयुक्त पात्र से सावित्रग्रह का ग्रहण करके आयतन में सादन करे और आश्रावणादिपूर्वक हवन भी। यहाँ 'सविता' देवता है। उसी सशेष पात्र में पूतभृत् से 'वैश्वदेव' नामक ग्रह का ग्रहण करके आयतन में रख कर होता को शस्त्रपाठ के लिए प्रैष देकर अध्वर्यु स्वयं प्रतिगर करता हुआ शस्त्र की समाप्ति के बाद वैश्वदेवग्रह को लेकर आश्रावणादि के बाद होम करे। उसी समय चमसाध्वर्युगण चमस का प्रकम्पन करें। ये नाराशंस हैं। इस ग्रह के विश्वेदेव देवता हैं। चमसों के काव्य पितर देवता हैं। तत्पश्चात् भक्षण होता है। यहाँ चमसों का सर्वभक्षण होता है।

सौम्यचरु

इन सारे कृत्यों के बाद सौम्यचरुयाग होता है। उस चावल के पके भक्ष्य को चरु कहते हैं जिसका माड़ पसाया गया न हो। माड़ पसाने पर पके चावल को ओदन (भक्त, भात) कहते हैं। इस याग का अनुष्ठान इष्टि के ही समान करके उपांशुपात्र से प्रातःसवन में उपयुक्त पात्नीवतनामक ग्रह का आग्रयणस्थाली से ग्रहण करके आसादन के बिना ही आश्रावणादि के बाद होम करे। यहाँ अग्नि पत्नीवान् देवता है। तदीय भक्षण के सम्पन्न होने के बाद आधवनीयपात्र में विद्यमान सारा सोमरस 'पूतभृत्' नामक पात्र में उत्पवन करे। इसके बाद सारे चमसों को चमसाध्वर्यु भरें। यज्ञायज्ञियसामक अग्निष्टोमनामक अन्तिम स्तोत्र का उद्गातृगण आरम्भ करें। यह स्तोत्र इक्कीस संख्या वाला होता है। यह स्तोत्र जब होता है तब सभी उससे सम्बन्धित जन अपने मस्तक को ढके रहें। स्तोत्र के समाप्त होने के बाद होता अग्निमारुतनामक अन्तिम शस्त्र का पाठ करे तथा अध्वर्यु प्रतिगर करे। शस्त्र की अन्तिम ऋक् जब पढ़ी जाती है तब प्रतिप्रस्थाता प्रातःसवन में अन्त में गृहीत ध्रुवग्रह को होतृचमसपात्र में रखे। उस होतृचमस को अध्वर्यु तथा अन्य चमसों को चमसाध्वर्यु लेकर यथावत् हवन करें। यहाँ अग्नि, वैश्वानर तथा मरुत् देवता है। अनन्तर इन सारे चमसों का भक्षण हो। इसके बाद बचे हुए पशुसम्बन्धी कर्मों का अनुष्ठान परिधिप्रहरणपर्यन्त होता है। यहाँ अध्वर्यु विरत रहे।

हारियोजनग्रह का प्रचार

उन्नेता आग्रयणपात्र में विद्यमान सारे सोमरस को द्रोणकलश से ग्रहण करके सादनकार्य को बिना किये ही जव-लाजा से उसे मिलाकर पात्र को मस्तक पर रख कर आश्रावणादि करके मस्तक से ही हवन करे। बाद में सारे ऋत्विग् हारियोजन का भक्षण करें। सारे चमसीगण भी अपने-अपने चमस को सूँघें। यही यहाँ भक्षण है। पूर्ववत् प्रत्यक्ष भक्षण नहीं। बाद में चमसीगण का आग्नीध्रशाला में दधिद्रप्स का भक्षण होता है। दधि के अत्यल्प अंश को दधिद्रप्स कहते हैं। इसके बाद सारे ऋत्विक् पूर्वप्रतिज्ञात पारस्परिक सख्य (मैत्री) का त्याग करें। अनन्तर पत्नीसंयाज-समिष्ट यजुर्होम आदि कर्मों को एवम् सवनीयहवि के अङ्गों का समापन करके प्रायश्चित होम भी करें। पुनः सवनसमाप्तिहोम और यजमान के द्वारा क्रियमाण विष्णुक्रमणादि कर्म का भी सम्पादन करना चाहिये।

॥ यह तृतीय सवन समाप्त हुआ॥

अवभृथेष्टि

सोमयाग में जिन पात्रों का उपयोग हो गया है उन सारे पात्रों को लेकर (ऐष्टिक पात्रों को छोड़कर) उदुम्बर की बनी हुई राजासन्दी न रखे। क्रीत सोम याग के पहले जहाँ रखा जाता है उसे राजासन्दी कहते हैं। उस राजासन्दी और सोम का निःसार अंश लेकर सपत्नीक यजमान तथा सारे ऋत्विक् जल के समीप जायें। वहाँ इष्टि का द्रव्य एककपाल पुरोडाश कहा गया है। उसे यज्ञशाला के अग्नि में ही सुसज्जित करके जाना चाहिये। गमन के पूर्व अङ्गरूप से आहवनीय में काञ्चनहोम करके मार्ग के मध्य गमनमन्त्र का जप करते हुए साम गाते हुए जाना चाहिये। यह याग जल में ही होता है। यहाँ आज्यभाग के देवता अग्नि-वरुण हैं। बर्हिर्नामक प्रयाज को छोड़कर चारों प्रयाज होते हैं। अनूयाज दो ही होते हैं। वरुण पुरोडाश के देवता हैं। सारे होम जल में ही होते हैं। ऋजीष के ऊपर जल छिड़क कर जल में प्रक्षिप्त करके प्रचरणी से स्नापित करके सोमलिप्त सारे पात्रों को जल में प्रक्षिप्त करके दीक्षाकाल में धृत योक्त्र, मेखला, वस्त्रजाल, कृष्णाजिन को जल में डुबाकर उसी जल में यजमान और तत्पत्नी स्नान करें। वे आपस के पीठ का शोधन करें। सारे ऋत्विज् भी साथ में ही स्नान करें। अवभृथस्नान में आये सभी के मस्तक पर यजमान अञ्जलि से जल

छिड़के। अनन्तर उन्नेता यजमानादि को जल से बाहर निकाले। पश्चात् अहत वस्त्र यजमान-तत्पत्नी को पहनाये। इसके बाद यजमान आदित्य का उपस्थापन करके पुनः यागस्थल में आकर शालामुखीय अग्नि में ही उदयनीय याग का अनुष्ठान करे। यह याग प्रायणीयेष्टि के समान ही होता है। प्रायणीयेष्टि में जो याज्यामन्त्र होता है वही उदयनीया में पुरोनुवाक्या है। वहाँ जो अनुवाक्या है वही यहाँ याज्या होती है। देवता वही है। द्रव्य भी वही है। प्रायणीय के लिए जिस पात्र में चरु पकाया गया था उसको प्रक्षालन के बिना ही पहले रखा गया था। उसी पात्र में अब उदयनीय चरु पकाना होता है। इतनी विशेषता आती है। इसके बाद आनुबन्ध्यपशुयाग का अनुष्ठान होगा। पशुयाग के विकल्प में यहाँ बह्वृचब्राह्मण में विहित आमीक्षायाग भी है। अतः इसी का यहाँ अनुष्ठान होता है। इष्टिरूप होने से दर्शयाग की तरह ही उसका अनुष्ठान होगा। यहाँ मित्रवरुण देवता हैं। इस याग को समाप्त करके यजमान वेदि के दक्षिणभाग में केश, श्मश्रु (मूछ) तथा नख-लोमों का पवन कराके स्नान करे। स्नान के बाद धाता, अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू इन पाँच देवताओं का इष्टि के समान ही यजन करके प्रथम गार्हपत्य अग्नि का अरणियों में समारोपण करे। पुनः घर आकर अरणियों का मन्थन करके अग्नि का विहार करे। उसमें उदवसानीय नामक इष्टि का, जिसका द्रव्य आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश है, अनुष्ठान करे। इष्टि के स्थान पर विष्णुदेवताक एक आहुति भी हो सकती है। पश्चात् रात्रि में भी अग्निहोत्र होम का अनुष्ठान करके सायङ्काल में भी करे। सूर्योदय के बाद प्रातः अग्निहोत्र होम भी करे। आगामिनी पूर्णिमा में दर्शपूर्णमासयाग का आरम्भ करे। यह याग तभी करे जब वह सोमपूर्वाधानी हो। इस प्रकार अग्निष्टोमसंस्थाक सोमयाग की परिसमाप्ति होती है।

इस प्रकार की अधिकारिता के साथ सोमयाग की विधा होती है। सहृदय जन की यहाँ यह आशङ्का स्वाभाविक है कि मध्ये गड्डुभूत अग्निष्टोमप्रयोग के उपपादन की क्या आवश्यकता थी? इसके समाधान में दो बातें सामने आती हैं। प्रथम यह कि प्रयोगविज्ञान का भी अपना एक विशेष प्रयोजन सिद्ध होगा। जो श्रद्धालु प्रयोग नहीं कर सकते वे उसके परिज्ञान से ही कुछ फल प्राप्त कर सकते हैं। फल किसको इष्ट नहीं? अतः उसका उपपादन यहाँ सप्रयोजन है। द्वितीय यह कि आज पाखण्ड का युग चल रहा है। कोई भी अनधिकारी पुरुष दाढ़ी बढ़ाकर सिद्ध बनकर गार्हस्थ्य

जीवन में इन दुष्कर कर्मों को करने वाले शास्त्र के अभ्यासी मनीषियों की अवज्ञा करते थकते नहीं। ये मनीषी वास्तव में तपस्वी सत्पुरुष हैं। जनता केवल दाढ़ी के आकर्षण में लीन है। उसे इस ओर भी ध्यान देना चाहिये। अश्वमेध इसी ज्योतिष्टोमयाग का विकार है तथा उसका आकार-प्रकार भी इससे कई गुना बड़ा है। आज कुछ नीचप्रकृतिक पुरुष कुछ अनधिकारी, अशुचि जनों के द्वारा हवनादि करवाकर उसे अश्वमेध की संज्ञा से विभूषित कर रहे हैं। विचार करिये कि किसी तान्त्रिक के द्वारा अयोध्या में होने वाला प्रयोग सोमयाग था? कथमपि नहीं। वह पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था तथापि उसका प्रचार सोमयाग के रूप में ही हुआ था। जो कर्म बहु-अनर्थ-परम्परा का जनक है उसे अश्वमेध कहकर जनता में भ्रान्ति फैलाना कितनी बड़ी नीचता है। नीचता की पराकाष्ठा है यह। हमारे विचार से कोई भी शुद्धसन्तति, चाहे वह किसी भी वर्ण की क्यों न हो, ऐसा नीचता से परिपूर्ण कर्म नहीं कर सकती। यह कार्य किसी अवैध सन्तति से ही सम्भव है। इसी तरह कुछ लोग किसी सामान्य कर्म को ही 'राजसूय' की संज्ञा प्रदान कर दे रहे हैं। यद्यपि उनके द्वारा कराया जाने वाला वह सामान्य हवनरूप कर्म विकर्म की कोटि में नहीं आयेगा क्योंकि उसका सम्पादन वे अनधिकारियों से न करा कर सत्पात्र वैदिक ब्राह्मणों से ही कराते हैं। वह कर्म अपने में यथार्थ है लेकिन वह राजसूय नहीं है। कृपया किसी भी कर्म को राजसूय की संज्ञा वे क्षत्रिय महोदय न प्रदान करें। राजसूय तो एक वर्ष में पूरा होने वाला एक इष्टि-पशु-सोमयागों का समुदाय है जिसका अनुष्ठान स्वाराज्य की कामना से मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय ही कर सकता है। राजसूय के अन्तर्गत अनेक इष्टियों और पशुयागों के साथ-साथ छः सोमयागों का भी अनुष्ठान होता है। सोमयाग कितना जटिल है, इसका निरूपण कर ही दिया गया है। एवम् उसके प्रयोगप्रदर्शन से जनता को भी यह बोध हो कि पाखण्डियों के द्वारा किया गया कर्म अश्वमेध नहीं है। इस प्रकार दोनों प्रकार से आकलन करने पर यहाँ प्रयोग का उपपादन सार्थक है, यह बात सिद्ध हुई।

आशङ्का

यदि कोई साधना कर रहा है, फलतः नियम की विधा में दाढ़ी बढ़ ही गयी है तो क्या आपत्ति है? दाढ़ी बढ़ाना कोई पाप तो नहीं है।

आशङ्का का समाधान

आप की बात अपनी जगह उचित है। किन्तु मैंने 'अनधिकारी' शब्द का भी प्रयोग किया है। ब्राह्मण यदि तपोमार्ग में अग्रेसर होकर किसी भी रूप में रहता है तो आपत्ति क्या है? सन्न्यास में वह अधिकृत है। अनधिकृत व्यक्ति, जैसे कोई बाह्मणेतर यदि तापस वेश धारण कर लिया है तो यह राष्ट्र के लिए महान् अनर्थ है। उसे अपने वर्णधर्म और आश्रमधर्म का ही निर्वाह करना चाहिये। शूद्र के लिए केवल एक आश्रम है—गृहस्थ-आश्रम। वैश्य के लिए दो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। क्षत्रिय के लिए वानप्रस्थ भी है। ब्राह्मण चतुराश्रमी माना गया है। ज्ञात हो कि 'वानप्रस्थ' कलिवर्जप्रकरण में आने से इस युग में सभी के लिए वर्जित है। अर्थात् ब्राह्मणेतरों के लिए ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के आगे कोई आश्रम नहीं है। ऐसे में कोई शूद्र आदि यदि दाढ़ी बढ़ाकर कथापुरान करने लगें तो क्या वे अधर्म नहीं कर रहे हैं। अपने तो नरक में जा ही रहे हैं, जनता को भी उपदेश देकर नरक में ढकेल रहे हैं। आज सन्न्यासी भी कथाप्रवचन में लग गये हैं। क्या यह उचित है? कथमपि नहीं। प्रवचन ब्राह्मण का धर्म है जो गार्हस्थ्य में प्रविष्ट हो। द्विज यदि समुद्रलङ्घन करता है तो वह पतित होकर किसी काम का नहीं रह जाता। आश्चर्य है कि ऐसे त्याज्य लोग भी जनता को दीक्षा देते हुए उपदेश की घूटी पिला रहे हैं। यह अनर्थकारी है। ये सारे के सारे द्रव्यपिपासु अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म को त्याग कर ब्राह्मण का प्रवचन धर्म स्वीकार कर लिए हैं। महान् अनर्थ। प्रवचन के माध्यम से ये इतिहास-पुराणों में वर्णित महापुरुषों के चरित्र को अन्यथा करके अपनी महत्ता को ख्यापित कर रहे हैं। यह यथार्थ है कि जितने भी शूद्र साधु बन गये हैं वे ऐसा ही कर रहे हैं। आशाराम तो यह कहते हैं कि 'माधुर्यम्-माधुर्यम्' को यदि आँखें मूँद कर जपा जाय तो एक वर्ष में इश्वर का साक्षात्कार हो जायेगा। लगता है कि वे ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं। अच्छी बात है। जिस ईश्वर का गोतम-वादरायण आदि जैसे महर्षियों को साक्षात्कार नहीं हुआ उसका साक्षात्कार आशाराम को हो गया है, यह कितना हास्यास्पद है। गोतम अनुमान से और बादरायण वेद से यह सिद्ध करते है कि ईश्वर है। जैमिनि तो अनुमान को दूषित करके वेद के तात्पर्य को अन्यथा स्वीकार करके ईश्वर के अस्तित्व को ही डकार जाते हैं। धन्य हैं आशाराम! जनता को ईश्वर का दर्शन करा दे रहे हैं। यह सब पाखण्ड बन्द होना चाहिये। जनता भी यथार्थ पक्ष को समझकर ऐसे विकर्मस्थों से

दूर रहे। इसी में उसकी भलाई है। कुलपरम्परा से वे जितना धर्म के रूप में करते आ रहे हैं उतना ही करें। अनादिकाल से सामान्य धर्म जन-जन में इतना रूढ़ हो गया है कि उसे किसी से जानने की जरूरत नहीं। यदि कहीं सन्देह होता भी है तो विद्वज्जन किस लिए हैं। उनसे ही परामर्श कर लेना चाहिये। इस समय आचार्य गिरीशदत्तपाण्डेयजी के मुख से सुनी गयी एक घटना का उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा। किसी गाँव में दो वर्गों का युद्ध छिड़ा और दोनों पक्षों में कुछ ब्राह्मण तथा कुछ क्षत्रिय मारे गये। आगे चलकर दोनों परिवारों में विपत्ति आयी। भूत-प्रेत की आशङ्का हुई। फलतः उसके निराकरण के लिए सभा बुलायी गयी। वहाँ पास में बैठा एक धरकार (चाण्डालविशेष) पण्डित की वार्ता सुन रहा था। मरे हुए स्वजन जो भूत बन गये हैं, उनका उद्धार कैसे हो? बस इसी विषय पर वार्ता हो रही थी। सुनने के बाद हँसता हुआ वह धरकार बोला—पण्डितों के मध्य में ऐसी वार्ता! महाराज! आप लोग अपने-अपने घर जाइये। वे सारे स्वजन स्वर्ग में गये हैं क्योंकि युद्ध में वे अपना प्राण त्यागे हैं। युद्ध में प्राण त्यागने वाले भूत नहीं हुआ करते। ऐसा कह कर वह चल दिया। सभा भी विसर्जित हुई। कहने का अभिप्राय यही है कि धर्माधर्म का परिज्ञान ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त सभी को है क्योंकि अनादिकाल से वह परम्परा चली आ रहा है। अनर्ह विकर्मस्थों से उन्हें अन्यथा सुनने को मिल सकता है क्योंकि वे स्वार्थ में अन्धे होकर शास्त्रीय मर्यादाओं का अन्यथाकरण करने लग गये हैं। प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान नरकपात का हेतु होता है।



निषिद्धकर्मकरण में नरकाभाव की आशङ्का

प्रतिषिद्ध कर्मों को करने से नरक की प्राप्ति होती है, यह कथन असङ्गत है। प्रतिषिद्ध कर्मों का वर्जन करने से फल विशेष की प्राप्ति होती है, यह तो यथार्थ है। तथा हि—'न कलञ्जं भक्षयेत्, न सुरां पिबेत्, न ब्राह्मणं हन्यात्, नानृतं वदेत्, न रजस्वलां स्पृशेत्' (न मलवद्वाससा संवदेत्) इत्यादि जितने भी प्रतिषेध वचन हैं वहाँ 'न' और लिङ्प्रत्यय का परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा क्योंकि दोनों के बीच में भक्षणादि का व्यवधान है। 'न भक्षयेत्' इत्यादि सारे स्थलों में न का 'भक्ष' आदि धातु से

सन्निधान है। अतः नञर्थ अभाव का धात्वर्थ भक्षणादि से सम्बन्ध करेंगे तो भक्षणाभावरूप अर्थ निष्पन्न होगा। भक्षणाभाव, सुरापानाभाव आदि अवस्तु होने से विधेय नहीं हो सकते अतः भक्षणाभाव का कारणभूत जो संकल्प है उसी का विधान होगा। मुझे कलञ्जभक्षण, सुरापान, ब्राह्मणहनन आदि निषिद्ध कर्म नहीं करने हैं, ऐसा संकल्प कर लेने पर ही भक्षणादि का अभाव सम्भव है। एवम् संकल्प का विधान होने से तथा वहाँ फलविशेष का श्रवण न होने से विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग की कल्पना हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि जिन को स्वर्गादि फल की अपेक्षा हो वे निषिद्ध कर्मों को न करने का संकल्प लें। जिनको स्वर्गादि फल नहीं चाहिये वे क्यों संकल्प लेंगे। कहते भी हैं—'निष्कामानां यथाकाम्यम्'। अर्थात् जो निष्काम पुरुष हैं वे यथेष्ट आचरण करें। उनके लिए किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं। इसीलिए तो अड़गड़ानन्द, आसाराम आदि शूद्र महात्माओं के यहाँ प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में लशुन-पलाण्डु आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन होता ही है। उदासीन संत तो प्याज की पकौड़ी से ही व्रत की पारणा करते हैं। ऐसे में प्रवचन उनके लिए निषिद्ध है तो रहे। वे निष्काम पुरुष हैं। स्वर्ग से वे बहुत ऊपर उठ गये हैं। जिनकों स्वर्ग चाहिये वे प्रवचन न करने का संकल्प लें। निष्काम पुरुष यथेच्छ आचरण करें। अपि च, ब्रह्मचारी या अन्य साधुपरम्परा में आने वाले जो भी पुरुष हैं उनके लिए स्त्रीसंप्रयोग भी दोषावह नहीं है। यद्यपि शास्त्रों में प्रतिषेधक वचन हैं तथापि स्वर्गाभिलाषुकों के लिए ही स्त्रीसंप्रयोगाभाव के संकल्प का विधान होने से निष्काम पुरुषों के लिए स्वेच्छाचारिता ही शास्त्रसंमत होगी। इसीलिए आज बड़े-बड़े महात्माओं की अन्तरङ्ग सेवा में नारीजन का बाहुल्य देखा जाता है। एवम् निषिद्ध सकल कर्म निष्काम पुरुषों के लिए वर्जनीय नहीं हैं, यह बात सिद्ध हुई।

उक्त आशङ्का का समाधान

न्यायों के परिज्ञान से सर्वथा शून्य शास्त्रज्ञ गुरुओं की सेवा से वञ्चित भोगपिपासुओं का यह कुत्सित छर्दन सर्वथा निन्दनीय है। प्रतिषेधस्थलों में नञर्थ का धात्वर्थ भक्षणादि से सम्बन्ध करने पर अनुष्ठेय न होने के कारण अभाव का विधान न होने से 'संकल्प' अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। फलतः स्वार्थ की हानि होगी तथा श्रुति का आत्यन्तिक बाध भी होगा।

अतः नञर्थ का विध्यर्थ प्रवर्तना से सम्बन्ध बना कर 'निवर्तना' अर्थ का निष्पादन ही उचित है। निवृत्तिफलक व्यापार को निवर्तना कहते हैं। प्रेक्षापूर्वक अपने कार्यों को करने वाला कोई भी पुरुष तब तक निषिद्ध कर्मों से निवृत्त नहीं होगा जब तक उन कर्मों का फल नरक है, ऐसा बोध नहीं होगा। अतः निवर्तनाप्रतीति के बल से इन सारे निषिद्धकर्मों का नरकरूपप्रत्यवायफलकत्व ही सिद्ध होता है। एवम् नरक के परिहार के लिए इन सारे अनाचरणीय कर्मों का परिवर्जन करना ही चाहिये। ब्रह्मचारी या अन्य साधुपरम्परा में आने वाले जनों के लिए स्त्रीसंप्रयोग महापाप है। गुरुकुल में वास करने वाले ब्रह्मचारी के लिए निर्ऋति देवता वाला याग ब्रह्मचर्यभ्रंश के प्रायश्चित्त के रूप में विहित है। 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' एतामेवेष्टिं निर्वपेद् वा'। यह प्रायश्चित्त आधान का अभाव होने से आचारप्राप्त लौकिक अग्नि में ही होगा, ऐसा मीमांसा के छठे अध्याय के अष्टमपाद के चतुर्थ अधिकरण में प्रतिपादित है।

अपि च, निष्काम पुरुष यथेच्छ निषिद्धाचरण भी कर सकता है, यह कथन अत्यन्त हास्यास्पद है। ऐसे पुरुषों के लए श्रुतिस्मृतियों में ब्रह्मलोक-प्राप्ति के वचन मिलते हैं। जैसा कि ताण्डियों की श्रुति है—'**अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहो मुंखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि**' (छान्दोग्य०—८/१३/९)। आथर्वणिकों का भी आम्नान है—**तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुपमुपैति दिव्यम्** (मुण्डक ३/२/८)। कौषीतकियों का भी अपने स्थान पर आम्नान सार्थक ही है—

"**तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्।**" (कौ० १/४)

इन सारे वचनों से सर्वथा पापों का आत्यन्तिक प्रणाश ध्वनित हो रहा है। अतः निष्काम पुरुषों को निषिद्धाचरण से सर्वथा दूर रहना चाहिये। अन्यथा वे यावत्कल्प नरकवास करेंगे ही।

नित्यनैमित्तिक विहित कर्मों का अनुष्ठान तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परिवर्जन ब्रह्ममार्ग में सहायक है, ऐसा वेदान्त के ३/४/ अधि० ८ में सुप्रतिपादित है। ताण्डियों की यह श्रुति भी यहाँ लिङ्ग है—

एष आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते

(छा० ८/५/३)

'ब्रह्मचर्यसमन्वित पुरुष के आत्मा का प्रणाश नहीं होता,' इस वचन से अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचर्यत्यागी के आत्मा का प्रणाश होता है। अपि च, नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा अन्य साधुपरम्परा में आने वाले पुरुषों को स्त्रीसमुदाय से दूर ही रहना चाहिये। यदि दूर नहीं हैं तो अष्टविध मैथुनप्रकार से वह असंपृक्त नहीं रह सकता।

आरुढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा॥

अर्थात् ब्रह्मचर्यभ्रष्ट साधुओं के लिए कोई प्रायश्चित नहीं जिससे वह आत्महा शुद्ध हो सके। इस वचन से प्रायश्चित्त का अभाव ध्वनित हो रहा है तथापि उनके लिए प्रायश्चित्त का उपपादन शारीरकमीमांसा में किया गया है। तथा हि वैयासकि सूत्र है—उपपूर्वमपि त्वेके भाव-मशनवत्तदुक्तम् (ब्रह्मसूत्र ३/४/४२)।

महापातक का कोई प्रायश्चित्त नहीं। उपपातक का प्रायश्चित्त है। कुछ आचार्य नैष्ठिक साधु के ब्रह्मचर्यभ्रंश को उपपातक ही मानते हैं, यदि वह गुरुपत्नी आदि से अन्यत्र है। ब्रह्मचारी के मधुमांसभक्षण का जैसे प्रायश्चित्त है वैसे ही।

ब्रह्मचारी के समान ही साधुओं के लिए भी स्मृतियों में प्रायश्चित्त का विधान है। इस बात को भगवान् शङ्कराचार्य 'भिक्षुवैखानसयोरपि' से स्पष्ट उपपादन करते हैं। स्मृति का वचन है—

भिक्षु र्वानप्रस्थवत् सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च।

यदि स्वेच्छाचारिता होती तो शास्त्रकारों के ये सारे प्रायश्चित्तोप-पादनप्रकार निरर्थक होते। प्रायश्चित्त का विधान होने पर भी ये सारे भ्रष्टाचारी पतित शिष्टों के द्वारा त्याज्य हैं, ऐसा अग्रिमाधिकरण में कहा गया है। तथा हि वैयासिक सूत्र है—

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च॥ ३/४/४३॥

ग्रार्हस्थ्य से पृथग्भूत पुरुषों की अपने आश्रम से च्युति, चाहे वह महापातक हो या उपपातक, दोनों प्रकार से ये भ्रष्ट पतित पुरुष समाज के द्वारा बहिष्करणीय हैं अर्थात् ये त्याज्य हैं। यह बात स्मृति और आचार दोनों से सिद्ध होती है। स्मृति के रूप में यह मनु का वचन आकलनीय है—

बालघ्नाँश्च कृतघ्नाँश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄँश्च स्त्रीहन्तॄँश्च न संवसेत्॥

बालक, स्त्री, शरणागत को मारने वाले तथा कृतघ्न भी यदि प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाँय तो भी इनके साथ परस्पर घर में यज्ञ, अध्ययन, विवाह, भोजन आदि का व्यवहार नहीं करना चाहिये। उक्त वचन में चकार से भ्रूणहत्या, समुद्रलङ्घन, भिक्षुकर्तृकस्त्रीसंप्रोयग आदि पातक भी आ जाते हैं। अतः इन सारे लोगों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। इस विषय में भामतीकार सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र का यह निर्गलित वचन सर्वथा आकलनीय है—

''निषिद्धकर्मानुष्ठानजन्यमेनो लोकद्वयेऽप्यशुद्धिमापादयति द्वैधम्। कस्यचिदेनसो लोकद्वयेऽप्यशुद्धिरपनीयते प्रायश्चित्तैरेनोनिबर्हणं कुर्वाणैः। कस्यचित्तु परलोकाशुद्धिमात्रमपनीयते प्रायश्चित्तैरेनोनिबर्हणं कुर्वाणैः, इहलोकाशुद्धिस्त्वेनसाऽऽपादिता न शक्याऽपनेतुम्।''

निषिद्ध कर्मों को करने से उत्पन्न हुआ पाप इहलोक तथा परलोक में अशुद्धि का सम्पादन करने से दो प्रकार का होता है। पाप को दूर करने वाले प्रायश्चितों से किन्हीं पापों की अशुद्धि दोनों लोकों में दूर हो जाती है तथा किन्हीं पापों की पारलौकिक अशुद्धि तो दूर होती है किन्तु इस लोक में दूर नहीं होती। ऊपर कहे गये पाप इसी कोटि में आते हैं। वेदान्तकल्पतरुग्रन्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षुरूपापन्न साधुओं के स्त्रीगमनादि पापों की अशुद्धि इस लोक में वर्तमान रहती है। वह अशुद्धि व्यवहार के योग्य उसको नहीं बनाती। तथाहि यह कल्पतरुग्रन्थ आकलनीय है—

''तत्र नैष्ठिकादीनामाश्रमच्युते र्बहुनिन्दादर्शनात् तज्जन्यपापापूर्वे प्रायश्चित्तेन निवृत्तेऽपि तज्जन्याऽस्मिन् लोके शिष्टैरसंव्यवहार्यत्वरूपा अशुद्धिरनुवर्तते।''

समुद्रोल्लङ्घनरूप निषिद्ध कर्मों से जो पाप लगता है उसकी अशुद्धि भी अव्यवहार्यत्वलक्षणा इस लोक में बनी रहती है, यह तथ्य—

द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रहः

इस कलिवर्जप्रकरण में आम्नात वचन से उजागर होता है। अतः समुद्रगामी पतित, स्त्रीसम्पर्कदूषित ब्रह्मचारी-यति आदि ऊपर कहे गये त्याज्य पुरुषों के साथ यज्ञ-अध्ययन-दान-भोजन-विवाह आदि का व्यवहार नहीं करना चाहिये। इन सारे युक्तिकलापों से यह साफ हो जाता है

कि निष्काम पुरुषों के लिए भी सनातन मर्यादा का अतिक्रमण परम अनर्थ का मूल है। शिष्टों का भी यही परम कर्तव्य है कि वे ऐसे पतितों के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार न करें अन्यथा वे भी पतित हो जायेंगे। महर्षि याज्ञवल्क्य इस रहस्य को और सुस्पष्ट कर दे रहे हैं—

शरणागतबालस्त्रीघातकान् संवसेन्न तु।
चीर्णव्रतानपि सतः कृतघ्नसहितानिमान्॥

अर्थात् पूर्वोक्त सारे पातकियों के साथ प्रायश्चित्त के बाद भी किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिये। ऐसे में जनता का इन लोगों से दीक्षा लेना और इनका प्रवचन सुन कर इनको पर्याप्त धन देना भी महापाप है। उसे इस पाप से बचना चाहिये।

यही न्याय बौद्धादि सकल वेदविरोधियों पर भी लागू होगा। जो व्यक्ति एकादशी के दिन गाय, ऊँट, बकरों को मार कर खाते हैं उनके साथ भी किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिये।

कुछ यतिप्रवर भी ऐसे लोगों का संग्रह करते हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये और स्वयम् भी ऐसे पापों से बचना चाहिये। भगवान् कौशिक ने भी कह रखा है—

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां चावकीर्णिनाम्।
शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन् प्रत्यापत्ति र्न विद्यते॥

शिष्टाचार का अुगमन करना अत्यावश्यक है। आज भी विशेषतः गाँवों में देखा जाता है कि जो व्यक्ति इन्द्रियलोलुपता के कारण स्वजात्यतिरिक्त स्त्री का या विधवा स्त्री का सग्रह कर लिये हैं वे अपने स्वजनों के द्वारा किं वा राष्ट्र में वर्तमान सकल शिष्टसमुदाय के द्वारा विशाचघटिका की तरह परित्यक्त होकर अव्यवहार्य हो गये हैं। आज बहुत से ऐसे पतित पुरुष नगरों में आकर प्रतिष्ठापित हो गये हैं। वे अपने अदम्य उत्साह से अपनी सन्तति को शिक्षित करके कहीं न कहीं सुव्यस्थित भी कर दिये हैं। यद्यपि वे अपने को गर्गादि की सन्तति के रूप में ही सुप्रतिष्ठापित कर रहे हैं। वे तत्तद्गोत्रीय ब्राह्मण ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं तथापि उनके पूर्वज या वे स्वयम् ही किसी अगम्या स्त्री से कृतपरिणय हैं। उनको कुलीन और सुसमृद्ध देखकर धोखे में ही सही सत्पात्र भी व्यवहार करने लगे हैं। यह अनुचित है। किसी भी व्यवहार के पूर्व उनके

अभिजन (पूर्वजों से सेवित ग्राम) में जाकर पता लगा लेना चाहिये। व्यवहार में किसी भी प्रकार की लापरवाही शिष्टसमुदाय को निःश्रेयस से बहुत दूर कर देगी। हर क्षण चैतन्य रहने की जरूरत है।

अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवाविवाह के विषय में आशङ्का

देश के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे के ऊपर कुठारपात! शिव! शिव! असह्य है आप का यह अनर्गल प्रलाप। जिन लोगों का खुले मञ्च पर सर्वत्र सम्मान होना चाहिये उनको समाज से बहिष्कृत करने की बात कहकर आप पारस्परिक सौहार्द का उसी तरह छेदन कर रहें हैं जैसे बकरीद में मुसलमान बकरों का छेदन करते हैं। अन्तर्जातीय विवाह से समाज संघटित होगा। हमारे विचार से राष्ट्र को मजबूत बनाने के लिए हर वर्ग को हर वर्ग में पारस्परिक सम्बन्ध कायम रखना चाहिये। हिन्दूकन्याओं का विवाह मुसलमान-ईसाई-लड़कों से हो तथा मुसलमान-ईसाई-कन्याओं का विवाह हिन्दू-लड़कों से हो। कुछ महापुरुष ऐसा कर रहे हैं। वे वन्दनीय हैं। कई भारतीय युवक जापान-पोलैण्ड आदि देशों की कन्याओं से विधिपूर्वक विवाह करके वहाँ बस कर समृद्धि का लाभ ले रहे हैं। सन्तति के रूप में एक अच्छी वेराइटी का श्रीगणेश हो रहा है। आज भूमण्ड़लीकरण का युग है। पुरानी संकीर्ण विचारधाराओं का अब समापन हो तथा नई विचारधाराओं का उदय हो। इस कार्य में विद्वज्जनों को आगे आना चाहिये। कुछ विशुद्ध विचार रखने वाले विद्वान् क्रान्तिकारी कदम उठा चुके हैं। संघ-भाजपा-विहिप के सहयोग से लोकप्रसिद्ध श्रीकाशीविद्वत्परिषद् जैसी संस्था को अपने में समेटने का दावा करने वाली अखिलभारतीयविद्वत्परिषत् का उदय हो गया है जिसके संयोजक श्री कामेश्वर उपाध्यायजी ने समाज की परवाह न करते हुए तेलिन से विवाह किया है। आज किसी भी गोष्ठी में उपाध्यायजी के एक आह्वान से भाजपा-विहिप के मुरलीमनोहरजोशी, अशोकसिंघल जैसे बड़े-बड़े नेता भी सुलभ हो जाते हैं। अभी-अभी पोलैण्ड निवासी श्रीचानमिसिरजी का सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में वहाँ के कुलपति माननीय श्रीराजेन्द्र मिश्र और आचार्य प्रो० शिवजी उपाध्यायजी के सहयोग से व्याख्यान भी आयोजित हो चुका है जिसे सुनने के लिए वहाँ के विद्वानों को विवश होना पड़ा है। श्रीचानमिसिरजी थाईलैण्ड-पोलैण्ड-हालैण्ड आदि देशों में

संस्कृतविद्यालय खोलकर सं०सं० विश्वविद्यालय की मान्यता ले रहे हैं। हमारे माननीय कुलपतिजी इस श्रेष्ठ कार्य के सम्पादन में तत्पर हैं। यदि भगवदिच्छा से यह कार्य सुसम्पन्न हो जाता है तो हमेशा के लिए आचार्य पं० शिवजीउपाध्याय के समान ही विश्वविद्यालयीय पण्डितों का तत्तद्देशों में जाना प्रारम्भ हो जायेगा। यहाँ के विद्वद्युवक वहाँ प्राध्यापक बनकर निवास करते हुए वहाँ की कन्याओं से विवाह करके समृद्ध होंगे। भारतीय संस्कृति का विश्व में विकास होगा। अब आती है विधवा विवाह की बात। इस पर मेरा विचार यही है कि पुत्रवती उम्रदराज विधवायें विवाह न करें किन्तु तरुणी विधवाओं का विवाह आवश्यक है। जो महापुरुष विधवा-विवाह करने का श्लाघनीय कदम उठा रहे हैं वे समाज में सम्मानयोग्य हैं। पराशर ऋषि की इस विषय में सहमति भी है—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

समाधान

धर्मशास्त्रीय पक्ष से यदि धर्मनिरपेक्ष ढाँचे पर कुठारपात होता है तो होता रहे। पतित की अव्यवहार्यतालक्षण अशुद्धि की व्याख्या में जो शास्त्र का अतिक्रमण तथाप्रकार से कर रहा है वह ग्राह्य नहीं, इतना ही यहाँ कहना है। विशेष धर्म के अनुयायियों की पतितसंसर्ग से धर्मानुष्ठानयोग्यता बाधित न हो, इसका प्रयास आवश्यक है। अन्तर्जातीय विवाह से कुलधर्म बाधित होता है, इसका निरूपण पहले ही विस्तार से कर दिया गया है। यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। विद्वज्जनों को भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। वर्णसाङ्कर्य से राष्ट्र की समृद्धि होगी, इस बात को कोई भी सचेता स्वीकार नहीं करेगा।

शास्त्रों में कन्या का आवेदन विहित है, विधवा का नहीं। विधवा-विवाह के विषय में मैंने 'विधवोद्वाहमीमांसा' निबन्ध में अनेक पक्षों का उद्भावन करके वास्तविक पक्ष का दृढ़तर युक्तियों से उपपादन किया है। वेद से कन्याविवाह की परिपुष्टि होती है जैसा कि मनु ने कहा है—

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥
(मनु० ८/२२६)

विवाह के सारे मन्त्रों के लिङ्ग कन्याविवाह की ही परिपुष्टि करते हैं। जो कन्यात्व से हीन हैं वे किसी की सहधर्मचारिणी नहीं बन सकतीं। मनु ने विधवा के विवाह का स्पष्ट प्रतिषेध किया है—

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं क्वचित्॥

पुनर्भूसंस्कार का सर्वथा निषेध शास्त्रों में है। गौतम ने इसे सुस्पष्ट किया है—

"वाचा दत्ता मनोदत्ता अग्निं परिगता सप्तमं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तधा पुनर्भू र्भवति। तामुदुह्य न धर्मं विन्दते॥" (गोतमधर्मसूत्र)

जिसे वाणी से दे दिया गया, एवं मनोदत्ता, अग्नि के समीप करके पास आयी, सातवें पद को प्राप्त हुई, भुक्ता, गर्भ को ग्रहण कर लेने वाली तथा पुत्र को उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ पुनर्भू कहलाती हैं। इनसे विवाह करके धर्म की अधिकारिता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव कहते हैं। कहा ही है मनु ने—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुन र्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥

(मनु० ९/१७५)

इन सारे वचनों से यही सिद्ध होता है कि विवाह का प्रयोजक धर्मानुष्ठान के योग्य प्रजोत्पत्ति है। यदि इसे स्वीकार नहीं किया जायेगा तो विवाह संस्कार निरर्थक हो जायेगा। ऐसे विवाहों से धर्म भी बाधित होता है। धर्मानुष्ठानयोग्य सन्तान का तो बाध होता ही है। लोकव्यवहार तो समयबन्ध या राजशासन से भी सम्पन्न हो सकता है। उसके लिये विवाह की आवश्यकता नहीं। एवमेव सगोत्रीय, समानप्रवरीय विवाह भी निषिद्ध है। पुनर्भवनामक संस्कार शास्त्रानुमत होता हुआ भी धर्म से दूर है। अन्तर्जातीय विवाह अवैध है। अत एव हर जाति वाले अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। यही उचित है। ऐसा होने पर ही दम्पति और उनकी सन्तानें धर्म में अधिकृत होंगी। कात्यायन का यह वचन अपने में पूर्ण प्रासङ्गिक है—

स तु यद्यन्यजातीयः क्लीबः पतित एव वा।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा॥
ऊढाऽपि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषया॥

वर यदि अन्य जाति वाला, नपुंसक, पतित, विकर्मस्थ, समानगोत्र वाला, दास, रोगी हो तो विवाहित कन्या को भी दूसरे को दे देना चाहिये।

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्, इस न्याय से यहाँ यही समझना चाहिये कि कन्या के विवाह में पूर्ण सतर्कता बरतनी चाहिये। अन्य जाति में विवाह करके वर्णसाङ्कर्य से ग्रस्त होकर सर्वथा धर्माधिकार से च्युत होते हुए निःश्रेयस मार्ग को अवरुद्ध करना बहुत बड़ी मूढता है। पूर्वपक्षी के द्वारा समुद्भावित पराशर का वचन अन्यथा समझना उचित नहीं। शास्त्रों में वाग्दत्ताविषयक व्याख्यान से उसकी उपपत्ति की गयी है। मनु ने वाग्दत्ता का वर्जन किया जिसका क्रियान्वयन कलि में पराशर ने कर दिया। ऋषियों की यह व्यवस्था भी वेदानुमोदित है। क्योंकि वेदविधियों की प्रवृत्ति शक्तिमान् पुरुषों के ऊपर है। न्याय भी है—

आख्यातामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी।

जो प्रायश्चित्त लोकोत्तरशक्तिसम्पन्न पुरुषों के लिए सत्ययुग में है वह कलि में अल्पशक्ति पुरुषों में कैसे सम्भव है। अतः युग की शक्ति के अनुसार वेदानुमोदित व्यवस्था ऋषियों ने दी है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि युगानुसार धर्म बदलता रहता है। धर्म वही है क्योंकि वह वेदमात्रसमधिगम्य है। ऐसे में यदि कोई विद्वान् मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो वह निन्दनीय ही है। शास्त्रीय नियमों में पक्षपात का लेश नहीं। ऊपर कहे गये गौतम के वचनों से यही तथ्य निकलता है कि कन्या का विवाह यथाकाल कर दिया जाय ताकि वह पुरुषान्तरसंसर्ग से पुनर्भू न हो। यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि तरुणी कन्या का परपुरुष से संनिकर्ष न हो। शिक्षक के पास भी वह जाय तो अपने किसी सन्निकट व्यक्ति के साथ ही जाय अन्यथा शुद्धि की गारण्टी नहीं रह जाती। बहुत से गुरु ऐसे हैं जो अपनी शिष्याओं से ही सम्बन्ध बना लेते हैं। दबाव पड़ने पर बाद में विवाह कर लेते हैं, यह दूसरी बात है। उनका वह संस्कार पौनर्भव ही कहा जायेगा। पातित्य के इसी प्रसङ्ग में यह भी जान लेना जरूरी है कि बेईमानी या अपने कर्म से परिच्युति भी पातित्य की जनिका है। वह व्यक्ति भी पतित होकर धर्मानुष्ठान के योग्य नहीं रह जाता। अतः मन्त्रियों और अधिकारियों को द्रव्यलोभ में आकर गमन आदि दोषों से बचना चाहिये। अन्याय से अर्जित धन निरर्थक होता है। उस धन से धर्मानुष्ठान तो होगा नहीं प्रत्युत तज्ज्यन्य दोषों से आप्लावित होकर सन्तानें भी बिगड़कर धर्मच्युत हो जायेंगी।

आशङ्का

अहिंसा-आदि को धर्म के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि अनेक शास्त्र हैं। लौकिक कार्यों से अप्रमाद को धर्म नहीं कहा जा सकता। 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' इस श्रुति से यह तो निश्चित होता है कि स्वाध्याय के अध्ययन और अध्यापन से अप्रमाद धर्म है। त्रैवर्णिक को अध्ययन और ब्राह्मण को शास्त्राध्यापन करना ही चाहिये। लौकिक कार्यों में लगे पुरुष अपने कार्य कर सकते हैं, नहीं भी कर सकते। न करने से अथवा भ्रष्टाचारविधा से अर्थसञ्चय करने से लोकव्यवस्था बाधित होगी। इसको नियन्त्रित लौकिक उपायों द्वारा दण्डविधान से किया जा सकता है। दण्डविधानों से कामचोरों और घूसखोरों की दुष्प्रवृत्ति को रोका जाय। उनका कार्य अधर्म यदि होगा तथा कर्तव्यनिष्ठों का कार्य धर्म होगा तो निश्चय ही धर्माधर्म लौकिक प्रमाणगम्य होगा, फिर उसे चोदनागम्य कहना कैसे उचित होगा?

आशङ्का का समाधान

धर्माधर्म के परिज्ञान के मूल में वेद ही हैं, इसका विस्तार से निरूपण कर दिया गया है। लौकिक कार्यों में निष्ठा धर्म के अन्तर्गत ही आयेगी। कामचोरी और भ्रष्टाचारिता अधर्म ही है। 'आचारश्चैव सांधूनाम्' से आचारप्रामाण्य भी व्यवस्थापित है। आचार का भ्रष्ट होना, अर्थात् अधर्म की कोटि में आ रहा है। जैसे नित्य-नैमित्तिक कार्यों से प्रमाद अनिष्ट का आपादन करता है वैसे ही किसी भी कार्य में वेतनादिविधा से नियुक्त व्यक्ति यदि प्रमाद करता है या अपने पद का दुरुपयोग करता हुआ पर्याप्त धन बटोरने लगता है तो वह अधर्म ही करता है। इन सभी के मूल में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि, नानृतं वदेत्' सत्यमेव वदेत्'.इत्यादि वेद उपलब्ध हैं। पूर्वोक्त अमर्यादित कर्मों को करने वाला हिंसा करता है और अनृतसंभाषण से ग्रस्त भी होता है। यद्यपि 'सत्यमेव वदेत्' इस विधि से सत्यवदन पुरुषार्थ सिद्ध होता है अतः उसका फल भी स्वर्गादि ही होगा। यदि सत्यभाषण नहीं करेगा तो फल की प्राप्ति नहीं होगी, यह तथ्य है। यहाँ सत्य न बोलने से अनिष्ट की सम्प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि अनिष्ट की सम्प्राप्ति निषेध के अतिक्रमण से होती है। 'नानृतं वदेत्' से सत्यवदन का अतिक्रमण अनिष्ट का आपादक होता है। यदि यह प्रतिषेधक वचन नहीं

होता तो असत्यसम्भाषण दोषावह नहीं होता। वचन है, अतः असत्य-सम्भाषण नरकादि अनिष्ट का जनक है, यह सिद्ध होता है।

प्रजापरिपालन ही राजा का कार्य है। इसके लिए वह प्रजा से 'कर' लेता है। दण्डनीय पुरुषों से दण्डरूप में धन उसे इसलिए प्राप्त होता है कि वह राज्य का संचालन समुचित रूप से करे। राज्य में शिक्षा-स्वास्थ्य-न्यायादि के परिपोषण के लिए सकल व्यवस्था भी आवश्यक है। वेतनादि के द्वारा उसे अपेक्षित अर्ह कर्मकरों को नियुक्त करना पड़ता है। पूरे तन्त्र में वेतन के माध्यम से सक्रिय पुरुष भी साक्षात् परम्पया वा प्रजा के हित में ही लगे हैं क्योंकि उनके वेतन की व्यवस्था भी प्रजा के धन से होती है। अतः राज्य का कोई भी पुरुष यदि लापरवाही करता है या अपने पद का दुरुपयोग करता हुआ प्रजाहितार्थ सम्पादित सम्पत्ति को हड़पता है तो वह अस्तेय धर्म का अतिक्रमण करता हुआ प्रकारान्तर से हिंसा भी करता है। किसी भी प्रकार से प्राणी को कष्ट देना हिंसा ही है। राज्यसम्पत्ति का अपहरण प्रजा की हिंसा है। मन्त्रियों का अन्यायमार्ग से धनसंचय भी हिंसा है। वर्गविद्वेष फैलाकर एक पक्ष में अपनी जनाधारिता कायम करना भी हिंसा है। पद का दुरुपयोग करना भी हिंसा है। अधीनस्थ कर्मचारियों, विशेषतः महिला कर्मचारियों के साथ दुराचरण भी हिंसा है। मन्त्रियों का अपव्यय भी हिंसा है। किं बहुना? आज जो भी राजसत्ता में चल रहा है वह हिंसा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

हराम का खाने वाले, महनीयपद पर आसीन होकर भी काम न करते हुए वेतन से अपने परिवार का पोषण करने वाले हिंसा के दोष से आच्छादित हैं भले ही वे तापसवेष में आकर दम्भ का परिपाक करें। इन लोगों का इह लोक और परलोक दोनों असुरक्षित हैं। किसी भी प्रकार का इनका धार्मिक अनुष्ठान निरर्थक है। अतः ऐसे लोगों को सचेत होना चाहिये। लोक में कोई भी वस्तु स्थायी नहीं। बड़े-बड़े लोग यहाँ से पधार चुके हैं। कालो हि दुरतिक्रमः। कहा भी है—

क्व स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद् गतः।
क्व स जलनिधे र्वेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा।
क्व स करतलाज्जातो वैन्यः क्व सूर्यतनु र्मनु-
र्ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः॥

स्वर्ग में इन्द्र के मित्र होकर भी दशरथ कहाँ चले गये? सागर का तटबन्ध करने वाले प्रतापी राजा सगर कहाँ गये? करतल से उत्पन्न होने

वाले महाराज पृथु, सूर्य के पुत्र मनु, ये सभी कहाँ गये? निश्चय ही बलवान् काल ने इन्हें प्रबोधित करके अन्त में कहीं विलीन कर दिया।

मान्धाता क्व गत स्त्रिलोकविजयी राजा क्व सत्यव्रतो
देवानां नृपति र्गतः क्व नहुषः सच्छास्त्रवान् केशवः।
मन्यन्ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः
कालेनैव महात्मना तनुकृताः कालेन निर्वासिताः॥

सत्यव्रत त्रिलोकविजयी मान्धाता, देवों के भी राजा हुए नहुष, शास्त्रविशारद केशव, ये सारे के सारे महाप्रतापी इन्द्र के आसन पर बैठने वाले काल के द्वारा ही निवार्सित हो गये। इस विषय में श्रीहर्ष का यह पद्य विशेष आकलनीय है—

चर्म वर्म्म किल यस्य न भेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत्।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर॥

(नैषध)

अभेद्य चर्म ही जिनका कवच था और जिनकी हड्डियाँ वज्र की बनी हुई थीं, ऐसे कर्ण और दधीचि भी स्थायी नहीं रहे इसलिए हेधीर! तुम धर्म का तिरस्कार मत करो। इन सारी सूक्तियों से यही प्रतीत होता है कि इस संसार में धर्ममार्ग का अनुसरण करने वाला ही बुद्धिमान् है। धर्म का अतिक्रमण और अधर्माचरण करने वाला मूर्ख है।

दैव और पित्र्य दोनों कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। देवतोद्देश्यक कर्म दैवकर्म तथा पित्रुद्देश्यक कर्म पितृकर्म कहलाता है। सन्ध्या से लेकर यागपर्यन्त कर्म दैवकर्म हैं जिनका निरूपण पूर्वोक्त विधा से हो ही गया है। पित्र्यकर्म विचारणीय है। अमावास्या में विहित पिण्डपितृयज्ञ और श्राद्ध पित्र्यकर्म के अन्तर्गत आते हैं। श्राद्ध क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर पृथ्वीचन्द्रोदय में मरीचि का वचन है—

प्रेतं पितृंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्तितम्॥

प्रेत और पिता का निर्देश करके स्वयं को प्रिय कोई भी वस्तु श्रद्धा से ब्राह्मण को जो दी जाती है उसे ही श्राद्ध कहते हैं। श्राद्ध का परिनिष्ठित लक्षण बनाया है मीमांसकमूर्धन्य श्रीमत्कमलाकरभट्ट ने—

"ब्राह्मणस्वीकारान्तश्चतुर्थ्यन्तपदोपनीतपित्र्याद्युद्देश्यकस्त्यागः श्राद्धम्।"

ब्राह्मण अन्त में स्वीकार करे, ऐसा चतुर्थ्यन्त पद से प्रापित पिता आदि को उद्देश (इच्छा) करके प्रिय वस्तु का त्याग ही 'श्राद्ध' कहा जाता है। श्राद्ध में होम, पिण्ड और भोजन की ही प्रधानता रहती है। तर्पण श्राद्ध से अतिरिक्त है। अत एव लक्षण में 'ब्राह्मणस्वीकारान्तः' दल है। तर्पण में ब्राह्मण की अपेक्षा नहीं होती। निमित्त के भेद से कहीं पिण्ड और भोजन का निषेध भी है। जैसा कि हारीत का वचन है—

नित्यश्राद्धमदैवं स्यादर्घ्यपिण्डविवर्जितम्।

यहाँ पर कुछ आचार्यों का कहना है कि प्राप्ति के बिना प्रतिषेध नहीं होता, अतः पिण्ड अङ्ग है तथा भोजन प्रधान है। इस पर यही कहा जायेगा कि—

जातश्राद्धे न दद्यात्तु पक्वान्नं ब्राह्मणेष्वपि।
न पक्वं भोजयेद् विप्रान् सच्छूद्रोऽपि कदाचन॥

यह वचन जातश्राद्ध और शूद्र के श्राद्ध में कच्चा अन्न देने को कह रहा है। सर्वथा भोजन का प्रतिषेध कर रहा है। एवम् भोजन भी श्राद्ध का अङ्ग होने लगेगा। अतः होम, पिण्ड और भोजन, ये तीनों ही प्रधान कर्म हैं। जैसा कि श्रीधर का कथन है—

होमश्च पिण्डदानं च तथा ब्राह्मणभोजनम्।
श्राद्धशब्दाभिधेयं स्यादेकस्मिन्नौपचारिकम्॥

मुख्यतः पार्वण, एकोद्दिष्ट, वृद्धि और सपिण्डीकरण चार प्रकार के श्राद्ध होते हैं। अमावास्यादि पर्व में किया जाने वाला श्राद्ध पार्वण कहा जाता है। वैश्वदेव से विहीन असामर्थ्य होने पर उदक से ही सही, जो श्राद्ध होता है वह नित्य कहलाता है। किसी अनियत निमित्त (कारण) के होने पर किया जाने वाला श्राद्ध एकोद्दिष्ट कहा जाता है। एकोद्दिष्ट का स्वरूप-विवेचन याज्ञवल्क्य ने किया है—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम्।
आवाहनाग्नौकरणरहितं त्वपसव्यवत्॥

अर्थात् एकपाक, वैश्वदेवतन्त्र, एकपिण्ड, एकबर्हि (कुश) श्राद्ध एकोद्दिष्ट है। वृद्धि में किया जाने वाला श्राद्ध वृद्धिश्राद्ध कहा जाता है। सपिण्डीकरण प्रसिद्ध है। उसे सपिण्डन भी कहते हैं। अन्य काम्यादिप्रभेदों का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव हो जाता है। यथाविधान इन श्राद्धों को करना चाहिये। कच्चा अन्न देने से आमश्राद्ध होता है। लोक में इसे 'सीधा' भी

कहते हैं। प्रायः धर्मावलम्बी समाज में श्राद्ध होता ही रहता है। विशेषज्ञों के परामर्श से इसका सम्पादन करना चाहिये। शूद्रों के लिए सदा आमश्राद्ध ही है।

श्राद्धविषयक आशङ्का

दैवकर्मों का यावत् उपपादन वैदिक होने से स्वीकार्य है किन्तु पित्र्यकर्मों में कोई भी वेद प्रमाण नहीं है। समय समय पर पूर्वजों के मोह के कारण ही चलाया गया यह बहुत बड़ा आडम्बर है। इस कुप्रथा का परित्याग होना चाहिये। अवैदिक होने से ही आर्यसमाजी बन्धु और उनके मतानुयायी इसका आचरण नहीं करते। बहुत से सम्प्रदायों में इस कुप्रथा का परिहार होता है। भगवद्भक्ति में लगे बहुत से पुरुषों की इसमें अनास्था है। गुर्जर में मूलसम्प्रदाय से अलग हुए स्वामिनारायणीय साधु और उनके गृहस्थ भक्तजन सर्वथा इसका परिहार करते हैं। जो कुछ व्यय पितृनिमित्त होना चाहिये वह श्रीजी स्वामीसहजानन्द के मन्दिर में समर्पित कर देते हैं। इसीलिए वह सम्प्रदाय समृद्धि के लिए अग्रसर है। पर्याप्त धन ब्राह्मणों के हाथों में जाने से बच रहा है। उनके अनुयायियों का श्राद्ध न करने से किसी भी प्रकार का अनिष्ट भी दिखायी नहीं देता। जो साधु हो गया या भगत हो गया, उसके मरने पर तो अन्त्येष्टि भी नहीं होनी चाहिये। इसीलिए तो मरने के बाद स्वामिनारायणीय साधु जला दिये जाते हैं। आगे कुछ भी नहीं होता है।

यद्यपि 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति।' यह वाक्य पिण्डपितृयज्ञ की सत्ता में प्रमाण है तथापि यह यज्ञ स्वतन्त्र न होता हुआ अमावास्यायाग का अङ्ग प्रतीत हो रहा है। कल्पसूत्रकार कहते हैं— 'अमावास्याङ्गं पिण्डपितृयागः समभिव्याहारात्' अर्थात् 'अमावास्या' शब्द के साथ उच्चारण होने से अमावास्या (दर्श) का ही अङ्ग है। फलतः स्वतन्त्रतया इसकी सत्ता नहीं है। एवम् स्वतन्त्ररूप से पित्र्यकर्म का उपपादन वञ्चना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। भगवान् मनु भी इसकी परिपुष्टि कर रहे हैं—

न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्ने र्द्विजन्मनः।

अर्थात् द्विज के लिए दर्शयाग के बिना श्राद्ध नहीं है। एवम् जो आहिताग्नि द्विज हैं वे दर्शयाग के समय तदङ्गत्वेन श्राद्ध करें। अनाहिताग्नि इसे कदापि न करें।

आशङ्का का समाधान

धर्म के प्रमाण के रूप में वेद और तन्मूलकतया स्मृति और आचारों का उपपादन पहले ही विस्तार से कर दिया गया है। यहाँ कुछ कहने का विशेष प्रयोजन नहीं। श्राद्धविषयक आचार शिष्टसमुदाय में पूरे भारत में विद्यमान है। वह स्वयम् में श्राद्ध की प्रामाणिकता की सिद्धि में पर्याप्त है। स्मृति और पुराणों में श्राद्ध और श्राद्ध के प्रकारों के उपपादन में असंख्य वचन हैं। तथा हि सुमन्तु का वचन है—

श्राद्धात् परतरं नान्यत् श्रेयस्करमुदाहृतम्।

श्राद्ध से ऊपर कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं।

आदित्यपुराण में तो न करने पर निन्दा है—

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥

श्राद्ध न करने वालों का रक्त उनके पितृगण पीते हैं।

करने पर अत्यधिक फल की प्राप्ति होती है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य का कथन है—

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं क्षेत्रं बलं तथा।
पुत्रान् श्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभम्॥
प्रवृत्तचक्रतां वाऽपि वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्॥
धनं वेदान् भिषक्सिद्धिं कुप्यं गामप्यजादिकम्।
अश्वानायुश्च विधिवद् यः श्राद्धं प्रयच्छति॥

स्वर्ग-अपवर्ग से लेकर सारी कामनायें श्राद्ध से प्राप्त होती हैं, यह उक्त वचन का आशय है।

विशेष अवसरों पर स्वेच्छा से भी श्राद्ध करने को मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है—

श्राद्धार्हद्रव्यसंपत्तौ तथा दुःस्वप्नदर्शने।
जन्मर्क्षे ग्रहपीडासु श्राद्धं कुर्वीत चेच्छया॥

अर्थात् श्राद्धयोग्य द्रव्य मिलने पर, दुःस्वप्न का दर्शन होने पर, जन्मनक्षत्र के दिन, ग्रहपीडा में यथेच्छ श्राद्ध करना चाहिये।

स्मृति-पुराण और आचार ही श्राद्ध के प्रमाण हैं, ऐसी बात भी नहीं है। अनेक श्राद्धविषयक मन्त्रलिङ्ग वेदों में भरे पडे हैं। 'मासि मासि

वोऽशनम्' यह श्रुति तो ही है, 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' यह श्रुति भी स्वतन्त्रतया श्राद्ध में प्रमाण है। पिण्डपितृयज्ञ अमावास्यायाग का अङ्ग न होकर स्वतन्त्र कर्म है। यद्यपि 'अमावस्या' शब्द कालवाची होता हुआ भी कर्म में भी प्रसिद्ध है। यहाँ कर्म का बोधक न मानकर काल का ही बोधक है। इसीलिए कि 'अपराह्णे' शब्द से उसका सामानाधिकरण्य उपपपन्न हो रहा है। कालवाची होता हुआ अमावास्याकाल में कर्म के होने से 'अमावास्या' शब्द 'आग्नेय, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय' इन तीनों कर्मों में भी प्रवृत्त हुआ। एवम् कर्म के साथ पिण्डपितृयज्ञ का उच्चारण न होने से पिण्डपितृयज्ञ कर्म का अङ्ग न होकर स्वतन्त्र कर्म माना जाता है। मनु के वचन का यह अभिप्राय है—'श्राद्ध' शब्द से प्रतिमास होने वाला श्राद्ध ही कहा जाता है। 'दर्श' शब्द से भी 'अमावास्या' काल ही कहा जायेगा। एवम् अमावास्या में ही आहिताग्नि श्राद्ध करे। अमावास्याश्राद्ध के बिना सारे अपरपक्षदिनों में किया जाने वाला श्राद्ध पितरों को तृप्त नहीं करता। अन्य स्मृतियों के अनुसार अन्य दिनों में भी करना चाहिये। इस प्रकार अन्य स्मृतियाँ अनाहिताग्नि के लिए होंगी और मनुस्मृति आहिताग्नि के लिए, यही निष्कर्ष निकलता है। भगवान् जैमिनि भी यही तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्॥ (जैमिनिसूत्र ४/४/१९)

इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि पित्र्यकर्म भी वदैकसमधिगम्य धर्म है जो नित्य-नैमित्तिक और काम्य के भेद से विभक्त है। काम्य कर्म में फलकामना मुख्य है। कामना न होने से उसका अनुष्ठान अपेक्षित नहीं। नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान अत्यावश्यक है। न करने से पाप लगता है। कोई नानकमतानुयायी बाधाग्रस्त था। सन्ततियाँ मर जाती थीं। व्यवसाय भी चौपट हो चला था। उपद्रव थमने का नाम नहीं ले रहा था। उसकी मुलाकात एक सत्पात्र ब्राह्मण से हुई। ब्राह्मण ने परामर्श दिया कि तुम जाकर गयाश्राद्ध करो। नानकमत की अनुगामिता तुम्हारी विपत्ति का कारण है। उसने सविधि गया में जाकर श्राद्ध किया। फलतः उसे सन्तानें भी हुईं। व्यवसाय भी चलने लगा तथा किसी भी प्रकार का उपद्रव भी न रहा। एवम् लोभियों के चङ्गुल में आकर जो लोग श्राद्ध करना बन्द कर दिये हैं वे प्रायश्चित्तपुरःसर श्राद्ध करें। स्वामिनारायणसम्प्रदाय में मूलानुयायी यथावत् स्वशास्त्रविहित कर्म करते हैं। मूल से अलग जो हो गये हैं वे पाखण्डमार्ग की सीमा लाँघ गये हैं।

कोई यह कहे कि कुलपरम्परा में चली आ रही धर्मानुष्ठानपद्धति को त्यागो। उसमें व्यय होने वाले धन को मुझे दे दो। सरासर यह शठता है। उसके उक्त कथन में पर्याप्त लोभ दिखायी दे रहा है। ऐसे लोगों का समाजिक बहिष्कार होना चाहिये। अस्तु। श्राद्धादि के साथ-साथ जो जीवित वृद्ध हैं उनकी उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये। आज वे आधुनिक शिष्टों के द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत हो रहे हैं। आधुनिक शिष्ट, जो व्यावसायिक शिक्षा को ही परम शिक्षा मानते हैं और भौतिक सम्पन्नता को ही परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

संस्कार उनके लिए पाखण्ड है। इसीलिए तो अपनी संतति का यथासमय संस्कार नहीं करते। संस्कारों को वे उनकी व्यावसायिक शिक्षा में विघ्न समझते हैं। दानादि धर्मों से दूर हटते जा रहे हैं। उनके अनुसार बालक-बालिकायें पढ़ लिखकर यथायोग्य जगह सेटिल हो जाँय, यही चरम पुरुषार्थ है। इसके बीच में अपने जीवन के प्रधान भाग को बिता देने वाले वृद्ध माता-पिता भी अन्तरायभूत हैं। वे घर में या कहीं भी एकाकी जीवन व्यतीत करें।

आधुनिक शिष्टों का आक्षेप

भविष्य को देखते हुए बुद्धिमान् वर्तमान की भी उपेक्षा करते हैं, फिर भूत की बात ही क्या है। सन्तानें अपना भविष्य हैं। उनके ऊपर अपना सर्वस्व लगा देना हमारी बुद्ध से धर्म है। शिक्षा-दीक्षा में अधिक व्यक्तियों की उपस्थिति बाधक है। अतः वृद्धों की अलग व्यवस्था करना अपनी विवशता है। अलग रहते हुए भजन करना ही उनके लिए उचित है। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन भी है कि ईश्वर सारे प्राणियों के हृदय में रहते हैं। अपने घर में ही रहते हुए ईश्वर का दर्शन किया जा सकता है। इसके लिए वृद्धों को तीर्थाटन करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो व्यय निरर्थक उधर होगा वह लड़के-लड़कियों के विकास में खर्च होगा। उनके विकास में वृद्धों का ही विकास है। उन्हीं की तो वंश परम्परा आगे बढ़ रही है। वृद्धों पर ही यदि सारी दृष्टि लगा दी जाय तो निश्चय ही अपने लड़कों-लड़कियों का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। उनकी इच्छायें भी तो भिन्न-भिन्न होती हैं। कहाँ-कहाँ ध्यान दिया जाय। उनसे ज्यादे आगे की पीढ़ी पर ध्यान दिया जाय। यही न्यायसंगत है। हमारे विचार से धर्म भी बाधित नहीं होता।

आक्षेप का समाधान

स्वार्थ में अन्धे लोभियों की यह कुत्सित कुण्ठामात्र है। ऐसी विचारधारा वालों का चरित्र अजामिल के चरित्र से साम्य रखता है। अजामिल भी अपने वृद्ध माता-पिता को दरकिनार कर दिया था। ऐसे पुरुषों को ययाति के उपाख्यान का अनुशीलन करना चाहिये जिनके कनिष्ठ पुत्र पुरु ने अपने यौवन के बदले उनका वार्धक्य ले लिया था। शास्त्र भी जहाँ 'पितृदेवो भव, मातृदेवो भव' से मातापितृपरायणता का पाठ पढ़ा रहा है। वहाँ उनकी उपेक्षा की वार्ता करना अपार मूढ़ता है। जहाँ भविष्य के लिए वर्तमान या भूत की उपेक्षा को न्यायोचित बताया जा रहा है वह बुद्धि की अजीर्णता है। वृद्धों की सर्वथा सेवा और उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पणभाव ही वास्तविक भविष्य है। धर्मानुष्ठान ही भविष्य है न कि अधर्मव्यासक्ति। वृद्धों की उपेक्षा करके भविष्य को बिगाड़ा ही जायेगा। उसके बनाने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं। शास्त्रकार कहते ही हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयु र्विद्या यशो बलम्॥

अभिवादनशील वृद्धसेवी पुरुषों की आयु, विद्या, कीर्ति और बल की वृद्ध होती है। ऐसे तमाम व्यभिचारी पुरुषों की पारिवारिक अभ्युन्नति देखने को मिलती है जो वृद्धों के प्रति समर्पणगुणों से सम्पन्न हैं। संयमी होते हुए भी सन्तान के मोहपाश में बँधे वृद्धों के उपेक्षकों की दुर्गति भी देखी जाती है। वृद्धों की सेवा सारे अवगुणों को समाप्त कर अभ्युदय को परिपुष्ट करती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। वृद्धों के कार्य के लिए पत्नी या अपने बच्चों से परामर्श लेने की कोई आवश्यकता नहीं। यह अधर्म है। स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर कोई कार्य नहीं करना चाहिये। तीर्थाटन वार्धक्य में नहीं होगा तो कब होगा। धर्म की प्रतिमूर्ति महाराज पुरु ने पुत्रों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में वे आते हैं जो पिता के मनोभावों को समझ कर ही उनका कार्य कर दें। कहने पर जो करते हैं वे मध्यम श्रेणी में आते हैं। कहने पर भी जो कुछ नहीं करते, प्रत्युत अपने लड़के-लड़कियों के भविष्य का पुलिन्दा उठाये सतत उपेक्षा करते हैं, वे मल के समान हैं। शिष्टाचार की परम्परा में आने वाले महापुरुष वृद्धोपसेवन के आगे अपने भविष्य को भी तिलाञ्जलि दे

देते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों का ही भविष्य अखण्ड बना रहता है। याद रहे, धर्म से ही भविष्य है। अधर्माचरण बने-बनाये भविष्य को ध्वस्त कर देता है। तीर्थाटन भी धर्म है। यदि माता पिता तीर्थों की यात्रा करते हैं तो सहर्ष कराना चाहिये। यहाँ पर किसी से परामर्श लेने की जरूरत नहीं। वेद कहता है—

तीर्थे स्नाति तीर्थमेव सजातानां कुरुते।

तीर्थों में स्नान करने वाला अपनी सन्तानों और पूर्वजों को तीर्थमय कर देता है। समय-समय पर तीर्थस्नान करके दानादि धर्म भी करना चाहिये। ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि बहुत से श्रीमद्भगवद्गीता के पूजक अपने परिवार के ऊपर अनर्गल व्यय कर देते हैं किन्तु गङ्गादि तीर्थों में यदि कदाचित् स्नान कर लेते हैं तो दान के नाम पर मुष्टिबद्ध हो जाते हैं। कलि का दान ही धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि जो फल अन्य युगों में सत्य-यागादि धर्मों से प्राप्त होता है वह कलि में दान से ही प्राप्त होता है। दान का अधिकारी सत्पात्र ब्राह्मण ही है। दीनों को दिया गया द्रव्य उपकार की कोटि में आता है। यथाकाल याचकों को भी सन्तुष्ट करना चाहिये। इस विषय में श्रीहर्ष का एक श्लोक प्रस्तुत करना उचित होगा—

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय वत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमै र्न गिरिभि र्न समुद्रैः॥

जिनका जन्म याचकों के मनोरथपूरण के लिए नहीं है उनसे यह पृथ्वी भारवाली है, न कि पर्वतों और समुद्रों से।

जो कुछ भी वेदों की शाखाओं में उपपादित है उसका भी उपपादन महापुरुषों के आचारों के माध्यम से रामायण, महाभारत आदि इतिहास पुराणों में है। इन सारे धर्मशास्त्रों को दुष्प्रवचन के माध्यम से प्रदूषित करने का अभियान भारत के ही कुछ स्वार्थी तत्त्वों के द्वारा चलाया जा रहा है। उनके और वेदविरोधियों की दुष्प्रवृत्तियों को ध्वस्त करके जनता की धर्मविषयक भ्रान्ति दूर करने के लिए ही यह 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ श्रीमद्गुरु की कृपा से ही लब्धसत्ताक हुआ। तथा हि—

जनभ्रान्तिनिरासार्थं भगवद्गुर्वनुग्रहात्।
धर्मशुद्ध्याख्यया लोके ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगात्॥
भार्गवगोत्रसंजातशिवगोविन्दशास्त्रिणः।
पौत्रेण तत्सुतश्रीमत् उमाशङ्करशर्मणः॥

आत्मजेन तथाचार्यपट्टाभिरामशास्त्रिणः।
लब्धविद्येन शान्तेन कमलाकान्तत्रिपाठिना॥
धर्मशुद्ध्याख्यया ग्रन्थः कृतो वै भ्रान्तिनुत्तये।
प्रीयतां तेन विश्वात्मा कृपालुः परमेश्वरः॥

भार्गवगोत्रोत्पन्न श्रीशिवगोविन्दत्रिपाठिपौत्र तथा श्रीउमाशङ्करत्रिपाठि-तनय पं० पट्टाभिरामशास्त्रिलब्धमीमांसाविद्य आचार्य पं० कमलाकान्तत्रिपाठी के द्वारा रचित यह धर्मशुद्धिग्रन्थ समाप्त हुआ।







पुस्तक प्राप्ति स्थान

डॉ० कमलाकान्तत्रिपाठी

24, प्राचीन अध्यापक आवास

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

फोन : (0542) 3111243